

श्रीवीतरागाय नमः

श्रीमद्देवनंदि-अपरनास-पूज्यपाद्स्वामिविरचित

इष्टोपदेश

[टीकात्रय एवं पद्यानुवाद चतुर्युक्त] पण्डितप्रवर श्रीआशाधरजीकृत संस्कृतटीका

हिन्दी-टीकाकार और सम्पादक

जैनदर्शनाचार्य श्री धन्यकुमारजी जैन, एम०ए० (हिन्दी, संस्कृत) साहित्यरत्न

स्व० वैरिस्टर श्रीचम्पतरायजी विद्यावारिधिकृत अंग्रेजीटीका The Discourse Divine.

तथा

स्व॰ जैनधर्मभ्र्पण ब्र. सीतलप्रसादजीकृत हिन्दी-पद्यानुवाद, अज्ञातकविकृत मराठी-पद्यानुवाद, श्री रावजीभाई देसाईकृत गुजराती-पद्यानुवाद, श्रीजयभगवानजी जैन, (बी. ए., एल एल. बी., एडवोकेट, पानीपत) कृत विस्तृत अंग्रेजी पद्यानुवाद Happy sermons.

> Bhartiya Shruti-Darshan Kendra प्रकाशिक JAIPUR

परमञ्जुतप्रभावक मंडल श्रीमद्राजचन्द्र आश्रम, अगास

वीरनिर्वाण संग्रु४९९ वि० संग्रु२०२९, सन् १९७३

प्रकाशकीय निवेदन

अाचार्य पूज्यपादस्वामी-विरचित 'इण्टोपदेश' ग्रन्थको प्रथमावृत्ति परमश्रुतप्रभावक मण्डल, वम्बईसे वीरिनर्वाण सं० २४८० में प्रकाशित हुई थो । उक्त संस्थाका समस्त कार्य अब श्रीमद्-राजचन्द्र आश्रम, अगास से ही होता है अर्थात् इस आश्रमके अन्तर्गत ही परमश्रुतप्रभावक मण्डलका समावेश हो गया है, अतः प्ररतुत ग्रन्थका प्रकाशन भी यहींसे दूसरी आवृत्तिके रूपमें हो रहा है।

'इष्टोपदेश' की मूल रचना संक्षिप्त होते हुए भी कथनका प्रकार विशाल और वैराग्यपूर्ण है। संस्कृत, हिन्दी और अंग्रेजी टीकाओं साथ प्रकृत रचना सचमुच और भी मधुर बन गई है। इसके साथ भी विशेषता यह है कि ग्रन्थपर चार विद्वानों द्वारा हिन्दी, गुजराती, मराठी और अंग्रेजीभाषामें रचित पद्यानुवाद भी सम्मिलित है। इतनी सामग्री सिह्त संगोधनपूर्वंक यह ग्रन्थ पाठकों के समक्ष रखते हुए हमें स्वाभाविक प्रसन्मता है, आनन्द है।

परमश्रुतप्रभावक मण्डलको स्थापनाका उद्देश्य सत्श्रुतका प्रचार है। ग्रन्थोंका मूल्य लागत-मात्र या उससे भी कम रखा जाता है। संस्थाको ओरसे अवतक प्रकाशित ग्रन्थोंका सूचीपत्र पीछे संलग्न है, देखिए। आजा है पाठकगण महान् पुरुषोंकी कृतियोंका स्वाध्याय द्वारा लाभ उठाकर हमारा उत्साह बढ़ावेगे। सभी सहयोग विन्धुओंका हम आभार मानते हैं।

ज्येष्ठ सुदी ५,२०२९ वीर नि० सं० २४९९

निवेदक रावजीभाई देसाई

वित्ताय (भौतिकवादी) विचार-वैतरणोरे बहाबमे बहता हुआ वर्तमान-युगका मानव, माया ममता मोहादिसे मोहित होकर सतत ही सासारिक स्वार्य-साधनाकी पूर्ति हेतु अपनी एड़ोसे चोटी तकका पसीना एक करता रहता है। वह अपनी शिक्त और सामर्थिको विस्मृत कर, शान्तिको तिलालित है, चलते-फिरते, उठते-बैठते, लागते-सोते, आठो पहर विपय-वासनाओको विकट बिल्लिमे झुलसता हुआ संतम एयं दुःखी बना रहता है। ऐसी ही आधियो-व्याधियोसे व्यथित होता हुआ जन्म-मृत्युकी काँवरको कन्धोपर रख यह नाना गितयो, योनियो, एवं पर्याथोमें ठोकरें खाता फिरता है।

पाठकगण । इसकी अञ्चतापर हैंसिये या तरस न खाइये । यह हालत किसी एक मानव विशेषकी नहीं, दसकी नहीं, सैकड़ों, हजारों, लाखों और करोड़ोकों नहीं अपितु हम आप समूची मानव-जातिकी हो रहीं है।

संसारी प्राणीकी बहिर्मुखी दृष्टि अंतरोत्मुखी हो सके, वह स्व-पदमे अवस्थित हो सुपथका पथिक वन सके, इसके लिये आवश्यक है कि वह इट (हितकारी) उपवेशको सुने। उसे एक कानसे सुनकर दूसरे कानसे न निकालते हुए उसपर मनन करे और इस प्रकार ज्ञात हुए साँचैके ढाँचैमे जीवनको ढाल छेवे।

इस ओर प्रवृत्ति या कदम वढानेके पूर्व यह अवश्य घ्यानमे रखना चाहिये कि सभी उपदेश इष्ट तथा हितकारी नहीं होते हैं। इष्ट उपदेशके उपदेष्टामें, पूज्यपादता होनी चाहिये। पूज्यपादता संयमकी प्रकर्पता एवं ज्ञानकी निर्मालताके निना हो नहीं सककी। अंतपूर्व निष्कर्प निकला कि पूज्यपाद द्वारा प्रणीत जो उपदेश होगा वह न केवल इष्ट अपि तु प्राणि-हितकारक एवं स्वस्वरूपाववोधक भी होगा।

प्रसन्नता है कि पाठकोंके समक्ष आज श्रोपूज्यपादस्वामी जिनका कि हुसरा नाम देवनन्द्याचार्य भी या, जनके द्वारा प्रतिपादित इष्ट-उपदेश (इष्टोपदेश) को, अनेक भाषाओं गद्य-पद्यानुवादों सहित, सम्पादित कर सामने लानेका अवसर प्राप्त हो रहा है। इसके पहिले कि आगे लिखी जानेवाली पंक्तियों ग्रंथके रचियता एवं जसमे विज्ञत विपये वारे में कुछ संकेत कहँ या परिचय हूँ, मैं सेठ मणीलालजी रेवाशंकरजी जीहरी ऑ० व्य० और कुन्दनलालजी जैन मैनेजर श्रीरायचन्द्रजनशास्त्रमाला बम्बईको धन्यवाद देना अपना कर्तव्य समझता हूँ, जिनकी प्रेरणाके परिणामस्वरूप यह ग्रंथ इस रूपमे आप महाश्रयोंके समक्ष रखनेमें समर्थ हो सका हूँ।

ग्रंथकारका परिचय

वेद (ज्ञान) वृक्षकी सिद्धान्त, दर्शन, व्याकरण, साहित्य, वैद्यक आदि ज्ञाखा-प्रज्ञाखाओं के पारंगत, अनेक ग्रंथोंके प्रणेता, देवोके द्वारा पूजित श्रीपूर्यपादस्थामीका जन्म कर्नाटक प्रातके अंतर्गत कोलंगल नामके नगरमें हुआ था। आपके पिताजीका नाम श्रीमाधवसट्ट तथा माताका नाम श्रीदेवी था। आपने अपने जन्म द्वारा ब्राह्मण कुलको विभूपित किया था।

कन्नड भाषामे चंद्रय्य किव हारा लिखित पूज्यपादचरितते ज्ञात होता है कि इनका नाम जन्मसे ही पूज्यपाद या किन्तु जब इस तथ्यको श्रवणवेदगोलाके ४० वे शिलालेखके प्रकाशमें देखनेका प्रयत्न करते हैं, तो यह प्रमाणताको प्राप्त नही होता है। इनका दोखा-घारणके समय देवनन्दी नाम था। इसके बाद बुद्धि-वैभवके विकासके वशसे इनका जिनेन्द्रबृद्धि नाम हुआ तथा देवताओं ने इनके चरणकमलोको पूजा की, अतः

⁽१) यो देवनन्दि प्रथमाभिधानो, बुद्धचा महत्या स जिनेन्द्रबृद्धिः । श्रीवज्यपादोऽजनि देवताभियंत्पजित पादयगं यदीयम ॥ श्र० नि० क्र० स० ४०

जगतीतलपर पूज्यपादके नामसे ये विख्यात हुए । इसी निष्कपंके समर्थनमे अन्य विकालेखोंका भी उल्लेख किया जा सकता है, विस्तार भयसे यहाँ (टिप्पणोमे) उनकी मात्र क्रमाक संस्थाको हो लिखा जा रहा है ।

आचार्य देवनन्दो (पूज्यपाद) के नामके विषयको और भी गहराईको लिये हुए जब देखते है तो उपरिक्तिखत बातकी पुष्टि पट्टावली , पुराणादिकोसे भी होती है।

इस नामके ये ही बाचार्य हुए हो ऐसी बात नहीं है। इनके बाद नी बहुतसे अन्य इसी नामके धारक ग्रय-रचियता हुए हैं। पर साहित्य-छोष्ठव, विषय-विवेचनको जैलोको दृष्टिसे इनकी (इल्टोपदेशके रचियता की) रचनाएँ अनोबी और अनुपमेय है 3। एवं ये महान् वैयाकरण थे अतः भाषापर एवं उसके साघनभूत शब्दोपर इनका अच्छा आधिपत्य था। जिसकी छटा उनके ग्रंथोमे जहाँ-तहाँ देखनेको मिलती है।

समय निर्णय — जैसा कि लिखा जा चुका है 'पूज्यपाद' नामके कई प्रंथनिर्माता हुए है । बतः इनके समयके विषयमे विवाद बना रहता है। कोई इन्हें पाणिनिका समकालीन बताते हुए ईस्वी सन् से पाँच सताब्दी पूर्वका घोषित करते हैं तो अन्य इन्हें विक्रमकी पाँचवी छठी शताब्दीका उद्योगित करते हैं। भिन्न-भिन्न विचारोको मन्यन कर निष्कर्ष इन्हों जो कहा जा सकता है-वह यह है कि राजा दुविनीत जोकि अविनीतका पुत्र या, तथा विक्रमकी छट्टी शताब्दीमें शासन करता था। इसके शासन-कालमें इन्होंने इस भारत-मूमिको अपने जन्मसे पवित्र किया था।

पूज्यपादकी पावन कृतियाँ या ग्रन्थ-सम्पत्ति

पूज्यपादस्वामीने जो कुछ भी ज्ञानार्जन किया या वृद्धि-बलसे जाना, उसे उन्होने शब्दसाधनके द्वारा भूँच कर ग्रन्थोके रूपमें रख दिया। इस वृष्टिसे देखनेपर ज्ञात होता है कि इन्होने बहुत वहे पैमानेपर साहित्य-निर्माणकी बोर प्रयत्न किया था। आपका बहुत कुछ साहित्य अनुपळव्च है, फिर भी जो कुछ वर्तमातमे है, वह इस प्रकार है:—

- १. जैनेन्द्रव्याकरण—इसके नाससे ही व्यक्त होता है कि वह व्याकरणशास्त्र-सबधी ग्रंथ है। 'बीपदेव' नामक महान् वैयाकरणने अपने 'मुघ्बोघ' नामक ग्रंथमें आर्ठ महा व्याकरणोमें इसका उल्लेख किया है। 'बर्द्धमान' नामक कविने भी देवनन्दि (पूच्यपाद) नामके आचार्यका नामस्मरण किया है। देव-नन्दिके द्वारा रचित जैनेन्द्रव्याकरणकी महत्ताका एक यह भी प्रमाण है कि पाणिनिकेद्वारा निर्मित अष्टाध्यायीके अंतर्गत गणपाठमें इसका उल्लेख किया गया है।
- २. सर्वार्थितिद्धि—यह श्रीमदुमास्वामिविरचित तत्त्वार्थसूत्र नामक सूत्रात्मक ग्रंपके अर्थको विशव-रूपसे विवेचन करनेवाला महान् ग्रंथ है और इस पर सबसे ज्यादा प्रामाणिक प्राचीन टीका है।
- ३. समाधितंत्र या समाधिशतक—सौ इलोकोमे निवद यह एक आब्वातिमक ग्रय है। इसमें आचार्यश्रीने वडी गम्भीरता एवं तात्त्विकपनेसे अव्यातम विषयका विवेचन बहुत ही हृदयग्राही और सुन्दर किया है। इसवर संस्कृतमे अनेक उपयोगी टोकाएँ हुई हैं। हिन्दीमें भी इसका अर्थ लिखा जा चुका है।

१. (व) अ. शि. ले के सं १०५. अ. शि. नि ले. क. सं. ४०

⁽वं) श्र. शि नि. ले. क्र सं १०८० (क्) यशःकोतियंशोनन्दी देवनन्दी महामतिः।

श्रीपुज्यपादापराख्यो गुणनन्दी गुणाकर: ॥ (नदन्दिसंघ पट्टावली)

⁽ ख) कवीना तीर्थं क्रहेवः कि तरां तत्र वर्णते । विदुषां वाड मलध्वंसि तीर्थं यस्य वचीमयम् ॥ (सादिपुराण प्र पर्व)

त्रमाणमकरुद्धस्य पुज्यपादस्य लक्षणम् । धनंजयकवै. काव्य रत्नत्रथमपश्चिमम् ॥ (धनंजयकविकृत नाममाला)

इन्द्रइनद्र: काशकुरस्न पिशलीशाकटायन । पाणिन्यमरजैनेन्द्रा जयन्त्यष्टी च शाब्दिका ॥ -शातुपाठ

- ४. इष्टोपदेश—यह छोटासा ग्रंथ है जिसको कि पाठकगण अपने हाथमे लिये हुए है। आप लोग देखेंगे कि इसमें बाचार्यश्रीने 'गागरमें सागर भरने'की उक्तिको चिरतार्थ किया है। यानी थोड़ेमें बहुत कुछ लिखा गया है। इसकी महत्ता, उपयोगितादिको देख पंडितप्रवर आजाधरजीने इसपर संस्कृतटीका लिखी जो कि इसमें सन्नद्ध है। वर्तमानमें तो इसके मराठी, गुजराती, अँग्रेजी आदि भाषाओं में अनुवाद भी हो चुके है।
- ५. दशभक्ति-प्रभाचन्द्राचार्यके "संस्कृताः सर्वे भक्तयः पूज्यपादस्वामिकृताः" इस कथनके सहारे कहा जा सकता है कि इनके रचियता पुज्यपादस्वामी है।

ग्रन्थान्तरोमे जो यहाँ वहाँ उल्लेख मिलते हैं उनके सहारे ज्ञात होता है कि उपरिलिखित उपलब्ध ग्रन्थोके अतिरिक्त अन्य विविध विषयके ग्रन्थोका प्रणयन भी इन्होंने किया है। वैद्यक ग्रन्थोंके रचियता ये थे, ऐसा शिलालेखों, रसरत्वसमुच्चय, ज्ञानार्णवादि ग्रन्थोंके रचियताओंने (वसवराज, शुभचन्द्राचार्यने) अपने-अपने ग्रन्थोंसे उल्लेख किया है, उससे ज्ञात होता है।

पूज्यपादस्वामोने 'जैनाभिषेक' नामक गन्यका भी निर्माण किया था। छन्द-शास्त्र विपयक ग्रम्थकी भी इन्होंने रचना की थी ऐसा कहा जाता है। घवलांके वेदनाखण्डके उद्धरणसे ज्ञात होता है कि न केवल इनका व्याकरण, वैद्यक्त, छन्द-शास्त्र, आध्यात्मिक, साहित्यपर आधिपत्य था अपि तु न्याय-शास्त्रके भी ये एक अधिकारी विद्वान् थे। इन्होंने सारसंग्रह नामके न्याय व सिद्धान्त-सम्बन्धी ग्रंथका निर्माण किया था। चंद्रय्य कवि द्वारा कन्नड भाषामें लिखित पूज्यपादचरितको यदि प्रमाणक्ष्पमे ग्रहण किया जाय तो उसके सहारे कहा जा सकता है कि पुज्यपादस्वामीने 'अईत्प्रतिष्ठालक्षण' एवं 'शान्त्यप्रक' की भी रचना की थी।

यद्यपि महापुक्षपोके विषयमे जितना भी लिखा जाय वह सब थोड़ा है, किन्तु साहित्यकी वह भी आध्यात्मिकसाहित्यकी सृष्टि करनेवाला, निस्पृही, निर्प्रन्य, साहित्यिक महापुक्ष्प अपने ढँगका अद्वितीय व्यक्ति हुआ करता है। वह सीधी, सरल, हितकारी भाषाका आश्रय ले सच्चे सुहृद्के समान मन-मानसमें निहित विचार-मणि-मुक्ताओको सामने रख देता है और कहता है, कि यह स्वानुभूत-अच्छी तरहसे परखी हुई विचार-मणियाँ है। इनसे मुझे बांति, संतोष, और आनन्दकी अनुभूति हुई है। चाहो तो नुम भी इनका रसास्वाद कर सकते हो। ऐसे ही महापृक्ष्प पूज्यपादस्वामी थे। इन्होने स्वान्तःसुखकी वृष्टिसे साहित्य-धृष्टि कर संसारके समस्त सत्त्वोको समुन्नतिका सन्मार्ग सुझाया।

अंतमे बिधक न लिखते हुए, इनके साहित्यसे जो हृदय पटलपर विचार अंकित होते हैं वे ये हैं:—
पूज्यपादस्वामी न केवल उच्च दर्जेंके संयमी ये अपितु महान् विद्वान् थे। उनका जन्म इस भारत-भूमिमे छठी
खताब्दीके पूर्वार्द्धमे हुआ था। उनको ब्याकरण, न्याय, सिद्धान्त, वैद्यक, छंदशास्त्र, ज्योतिप, साहित्यका ज्ञान
ही नहीं अपितु उनपर अधिकारपूर्ण विवेचना करनेका सामध्य था। उन्होंने एकपकीय साहित्यका ही निर्माण
नहीं किया। आब्यात्मिक साहित्यको भी सुन्दर शब्दोमें सजोकर सामने रक्खा। ऐसे साहित्यक योगी महापुरुपको शत तमन हो।

प्रस्तावना समाप्तिके पूर्व उन साहित्यिकोंका भी (पूज्य प्रेमीजी, श्रीमोतीचन्द्रजी कोठारी एम. ए. आदिका) जिनके ग्रंथोकी सहायता इम प्रस्तावनाके लिखनेमे ली है, आभार मानता हूँ और आशा करता हूँ कि वे इस धब्दताको क्षमा करेंगे कि अनुमति लिए विना उनके ग्रंथोका सहारा ले लिया गया है।

पाठकगण ! मानव जवतक मानवकी दशामे हैं, उसमें अपूर्णताका होना अवश्यंभावी है । अत. त चाहते हुए भी इसमे यदि कुछ त्रुटियाँ रह गई हो तो उसमें मेरी अल्पज्ञताको ही कारण समझे । इतना अवश्य निवेदन है कि यदि महत्त्वपूर्ण कोई त्रुटि खटकती हो तो उसकी सूचना मुझे देवे, जिससे कि यदि अवसर मिला तो अगले संस्करणमें उन्हें अलग कर दिया जावे । जिन जिन सज्ज्ञनीने अपने पद्यानुवादोको इसमें समाविद्य कराया है, उनको घन्यवाद देते हुए विराम लेत। हूँ । विजेपु किमधिकम् ।

श्रीनशियां जी-श्रीपाद्यंत्रयाथ जैनमन्दिर इन्दौर, } अक्षयतृतीया, वीर--नि. सं. २४८० }

वापलोगोका ही धन्यकुमार जैन

प्रकाशकीय निवेदन (प्रथमावृत्ति)

श्रीपूरुवपादस्त्रामी (देवनन्दी) एक बहुत ही प्रसिद्ध काचार्य हुए है। इनके बनाये हुए १ जैनेन्द्रमहाब्या-करण, २ सर्वार्थिसिटि-तत्त्वार्यसूनको गवसे प्राचीन महत्त्वपूर्ण टीका, ३. समाधिनतक या समाधितंत्र;४. इट्टो-पदेश और ५ दशमित, उपक्रव्य प्रत्य है। १ शब्दावनारन्यास, २ जैनेन्द्रत्याग, ३ सारसंग्रह, ४ वैद्यक-गन्यको भी रचना इन्होने की है, किन्तु वे वर्तमानमें अनुपत्रव्य है।

इनका सबसे छोटा किन्तु महत्त्वपूर्ण सुन्दर प्रत्य इष्ट्रोपदेश है। इसको यदि जैनोपिनपद् कहें तो भी अरमुक्ति नहीं होगी। इसमें मानव-कल्याणकारी तत्त्वोका वडा सुन्दर हृदयप्राही वर्णन किया गया है। इसमें प्रतिपादित तत्त्वोके प्रचार प्रसार एवं तदनकल जययोग होनेवर जयती-तलका महान कल्याण हो सकता है।

इस ग्रन्थको पंडितप्रथर आशाधरजीकृत संस्कृतटोका, चिढ्रद्रस्त न्यायालंकार पं. वंशीधरजी सिद्धान्तशास्त्री (प्रधानाध्यापक सर सेठ हुकमचन्द्र जैनविद्यालय इन्दीर) के मुषुत्र जैनदर्गनाचार्य धीधन्य-कुमारजी एम् ए. (हिन्दी-संस्कृत) साहित्यरत्तकृत हिन्दीटोका, स्व वैरिस्टर चम्पतरायजी विद्यावारि- विकृत वंगोजीटोका (The Discourse Divine) इन तीन टोकाओ तथा स्व० जैनवर्मभूपण स. सीतल- प्रसादजीकृत हिन्दी दोहानुवाद, अज्ञातकिव (श्रीमोतीलाल हीराचन्द्रजी गांघी) कृत मराठी पद्यानुवाद, श्री रावजीभाई देसाई श्रीमद्राजचन्द्राश्रम बगामकृत गुनराती-पद्यानुवाद, और श्रीख्यभगवानजी वी ए. एल एल. वी. एडजोकेट पानीपतकृत विस्तृत वंग्नेजी पद्यानुवाद Happy Sermons सहित प्रकावित करानेका सोमाग्य प्राप्त हुआ है। समाज पूज्यपाद आचार्यकी कृतिके साथ इन सात महान् विद्वानोकी कृतिको संगय प्रपत्त किया गया है बीर मूल्य भी कम रक्वा है।

डछोपदेश पहला ग्रन्थ है, जो इतनी टीकाओ और पद्यानुवादोंके साथ प्रकाशित हो रहा है। पूच्यपादहत्रामीने इसे छठी शताब्दीमें रचा था। ७०० वर्ष बाद तेरहवी शताब्दीमें पंडितप्रवर काशाघरजीने संस्कृतटीका श्रीमुनिराज विनयचन्द्रजीके आग्रहसे मालवाकी राजधानी नालछा-धारानगरीके श्रीनेमिनाथ
मन्दिरमें बनाई। ग्रंथ सीतलश्रसादजीकी हिन्दीटीका सन् १९२२ में प्रकाशित हुई, जो अब अप्राध्य है। हिन्दीटें टीका प्रकाशित होनेके ३ वर्षके बाद सन् १९२५ में स्व० वैरिस्टर चम्पतरायजीने व सीतलश्रसादजीके
आग्रहसे अग्रेजीमें टीका लिखी। पं. प्र. आकाधरजीकी टीकाके ७०० वर्ष बाद बीसवी शताब्दीमें जैनदर्शनाचार्य श्रीधन्यकुमारजी एम. ए साहित्यरतने स्व० आचार्य सूर्यसागरजीके आग्रहसे मालवाकी राजधानी
इन्दौरमें निश्चांत्रीके श्रीपादर्वनाय जैनमन्दिरमें नई हिन्दीटीका लिखी।

इस अर्थप्रधान युगमे आपने निःस्वार्ध माबसे हमें यह टीका प्रकाशित करनेकी अनुमति प्रदान की, तदर्थ आपको क्या धन्यवाद दूँ? आप तो स्वयं धन्यकुमार ही है। पहिले यह हिन्दीटीका सेठ फकीरचन्द्रजी गोधा मन्द्रसीरकी ओरसे वी. नि. सं २४७२ में वितरत हुई थी। यह अध्यातम-प्रत्य-संग्रह जिसमें छोटे-वडे आठ ग्रन्थ थे, अन्तर्गत छपी थी। आपसे (हिन्दी-टीकाकारसे) हमें वडी आजाएँ है। आपकी छुपा हुई तो कोई अन्य उपयोगी ग्रन्थ समाधिश्चातक वगैरह सम्पादित कराकर इसी पढ़ितिसे प्रकाशित करायेंगे।

संस्कृतटोकाको हस्तिलिखित प्रतियोके प्राप्त करनेका बहुत प्रयत्न किया, पर मिली नहीं । इसकी सस्कृतटीका माणिकचन्द जैनग्रमालाके १३ वे ग्रंथ तत्त्वानुशासनादिसंग्रहमें छपी प्रतिपरसे छपाई गई हैं । अत्तर्णव ग्रुथमालाके मंत्रीजीके वडे बाभारी हैं ।

शोलापुर निवासी बिद्धहर प. वंशीघरजी शास्त्रीने इसका प्रूफ संशोधन वडी तत्परता और लगनते किया है। एतदर्य पंडितजीको अनेक धन्यवाद है। आप प्रत्य-सम्पादन-कलामे वडे निपुण है। आपने प्रमेय-कमलमार्तण्ड, ब्रष्टसह्मो, जैनेन्द्रप्रक्रियादि महान् ग्रन्थोका सम्पादन एवं संगोधन किया है।

ग्रन्थमे उद्भृत रलोको गायाओके मूल-स्थानोको हुँ हनेमे बहुत प्रयस्त किया फिर भी कितनोका पता नहीं लगा।

अन्तमे एक बार पुन प्रन्य-प्रकाशनमें सहायक होनेवाले टीकाकारो, पर्शानुवादको, संशोधको आदि समस्त सज्जनोको धन्यवाद देते हुए विराम छेते हैं।

जौहरी वाजार, वम्बई न० २ । महावीरजयन्ती, वीर-सं० २४८० } निवेदक-प्रकाशक

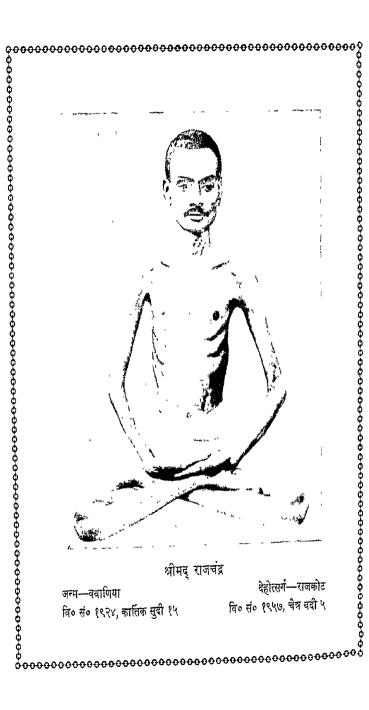
इष्टोपदेशकी विषय-सूची

रंगलाचरण-टोकाकार और मूल ग्रन्थकर्त्ताका	8	मोही कर्मोको बांबता है, और निर्माही छूट जाता	
स्वयंस्वभावाप्ति' का समाधान—	7	है, इसलिए हरतरहसे निर्ममताका प्रयत्न करे-	₹ १
व्रवादिकोको सार्थकता —	3	में एक ममता रहित शुद्ध है, संयोगसे उत्पन्न	
जारम-परिणामीके लिये स्वर्गकी सहजमे हो प्राप्ति	4	पदार्थ देहादिक मुझसे सर्वथा भिन्न है-	37
स्वर्ग-सुखोका वर्णन	ξ.	देहादिकके सम्बन्धसे प्राणी दु'ख-समूह पाते हैं,	
"सासारिक स्वर्गादि-सूख भ्रान्त है" इसका कथन	6	इससे इन्हें कैसे दूर करना चाहिए ?	33
u .		ज्ञानी सर्वा नि जैंक है, क्योंकि उसमें रोग, मरण, बाल, युवापना नहीं, ये पुद्गलमें हैं	₹8
यदि ये वासनामात्र है, तो उनका वैसा अनुभव वंयों नही होता ? इसका उत्तर-मोहमे ढका		पुद्गलोको बार-बार भोग और छोडे, जानीका	7.0
हुआ ज्ञान वस्तु-स्वर्खाको ठीक-ठीक नही		उच्छिए-झुठेप प्रेम नही	३५
जानता है	९	कर्म कर्मको भला चाहता है, जीव जीवका, सव	
मोहतीयकर्मके जालमे फँसा प्राणी गरीर, धन,		अपना अपना प्रभाव वढाते है	३६
	१०	परका उपकार छोडकर अपने उपकारमे तत्पर	•
जीव-गति वर्णन, अपने शत्रुओके प्रतिभी	,	होओ-अपनी भलाईमें लगी।	३७
द्वेपभाव मत करो	१२	गुरुके उपदेशसे अपने और परके भेदको जो	
राग-देष भावसे आत्माका अहित होता है	१३	जानता है, वह मोक्षसम्बन्धी सुखका अनुभव	
संसारमे सुख है तो फिर इसका त्याग क्यो किया		करता है।	३८
जाय ? इसका समाधान	१४	स्वयं ही स्वयंका गुरु है	₹९
सासारिक सुख तथा धर्म, आदि, मध्य और	0 C	अभन्य हजारो उपदेशोसे ज्ञान प्राप्त नही कर सकता है। सच्चे योगी अपने ध्यानसे चलाय-	
अन्तमें दु:खदायी है 'घनसे आत्माका उपकार होता है,' अत: यह	१६	मान नहीं होते हैं, चाहे कुछ भी हो जावे	٧o
उपयोगी है, इसका रामाधान—	१७	स्वात्मावलोकनके अभ्यासका वर्णन	४१
धनसे पुण्य करूँगा, इसलिये कमाना चाहिए-	• -	स्वात्मसवित्ति बढनेपर वात्मपरिणत—	४२
इसका समाधान-	१८	योगी निर्जन और एकान्तवास चाहता है, अन्य	٠,
भोगोपभोग कितने भी अधिक भोगे जायेंगे कभी	, -	सब बातें जल्दी भुला देता है—	ሄሄ
तृप्ति न होगी	१९	ध्यानमे लगे योगीकी दशाका वर्णन	४६
शरीरके सम्बन्धसे पतित्र पदार्थ भी अपवित्र हो		आत्मस्वरूपमे तत्पर रहनेवालेको परमानन्दकी प्राप्ति	ሃሄ ፑ
जाते है-सरीरको मलिनताका वर्णन	२१	परद्रव्योके अनुराग करनेसे होनेवाछे दोषोका वर्णन	४८
जो आत्माका हित करता है, वह शरीरका अप-		तत्त्वसंग्रह्का वर्णन	४९
कारी है और जो शरीरका हित करता है,		तत्त्वका सार-वर्णन	40
वह जीवका अपकारक (बुरा करनेवाला) है	२२	बास्त्रके अब्ययनका साक्षात् और परम्परासे	
च्यानके द्वारा उत्तम फल और जघन्य फल		होनेवाले फलका वर्णन—	48
इच्छानुसार मिलते है	२२	उपसंहार और टीकाकारका निवेदन—	५२
आत्मस्वरूप वर्णन—	२३	परिशिष्ट नं. १ मराठी पद्यानुवाद	५३
मनको एकाग्र कर इन्द्रियोके विषयोको नप्ट कर		,, नं. २ गुजराती ,,	44
आत्मा ज्ञानी परमानंदमयी होकर अपने-आपमे	0 1-	,, नं. ३ अग्रेजी अनुवाद—	
रमता है	२५	The Discourse Divine	५७
अज्ञभक्ति अज्ञानको ज्ञानभक्ति ज्ञानको देती है, जो जिसके पास होता है, उसे वह देता है	२७	,, ४ अंग्रेजी विस्तृत पद्मानुवाद	
आत्मामे आत्माके चिन्तनरूप व्यानसे, परीप-	7.3	Happy Sermons	140
बारमान आरमान चिन्तनरूप व्यानस, पराप- हादिका अनुभव न होनेसे, कर्म-निर्जरा होती है—	٠.۵		७६
	76	, नं. ५ मूल क्लोंकोको वर्णानुक्रमणिका	८२
जहाँ आत्मा ही ध्याता और ध्येय हो जाता है	•	,, नं. ६ उद्धृत इलोको गायाओ और दोहो-	
वहाँ अन्य सम्बन्ध कैसा ?	३०	की वर्णानुक्रमणिका	८३

श्रीदेवनन्दि-पृज्यपादःस्मर्णम् । •

?	करोगा वीर्यकृत्यः कि तथा तथ प्रवर्ते । विद्वां सारभारत्वीय सोर्च प्रस्य प्रवीषयम् ॥
	वृद्धिमने-भेरियमेशभर्षः ।
₹.	. इत्यनस्मार्कोने प्रथाविष्याकरणेशसः । क्षेत्रस्य दवसंपाय च सम्बद्धे सार, क्षमम् ॥
	—हिम्बेबर्गेन्युन्सरमंभेग भीविभीनगरिः।
3	. अविनय-महिमा देवः मोर्गमपन्त्रो हिप्तीयचा । ऋत्यस्य येत विद्यवस्यि मापूर्वे प्रतिन्यिकाताः ॥
	पाः त्याच पश्चि-यांचादिराद्रम्हिः।
4	. सवाहुर्वनि समानः नाम-भाग-विभवेभवम् । बान्दुर्वाहुत्वा सीक्षं देवस्यते वसस्यते ॥
	—सामानी-मीक्शकरम्बर
ŀ,	. एटमीयस्यति।की गरम निरयक्ताद्रभागये। देवनस्वित्रपूत्रेले नगरनस्ये स्वयम्दे ॥
	— देश्टमहापूर्णः—भीक्षभगवासे. ।
Ę	प्रमायासः गया प्रमायाः प्रमीः प्रमायु माम् । ज्यानस्तारीनी येन मीठां विस्तीरीनसुनाः ॥ 💎
	—पाष्टगप्रापे-भीन्भगन्भव्दारकः ।
lò	मो देवनन्दिन्यमगाभियानो, बृह्ममा महत्या म जिनेन्द्रवृद्धिः ।
	भौगुप्तवपार्वेद्यमि देशसमित्पूर्वात्तनं पारसुष गदीयम् ॥
	—भगपनेत्मील-विद्यारेम नं e Ye.
८,	जैनेन्द्रं निरमस्यभाषमपुर्गं म र्रार्थिविद्धिः वस
	मिळानो निपुणन्तम्३पर पिता जैनामियेकः स्वरुत ।
	रहात. मृद्यापिय समाधिताउक्तं स्वास्थ्यं यदीयं निया-
	मान्यमानेह् स प्रवासमूनियः पृथ्वो मुनीना गर्वे ॥
	—गरावरेगीय-सिरायेग गं० ४०.
٩	स्रीपुज्वपादीर्गृहगर्मराज्वहताः गुरागीरारपुण्यपादः ।
	यद्योववैदुरुवतुर्गानदानी चटन्ति सारतामि तटुदुपृतानि ॥
	पृतिविश्ववृद्धिरयमत्र योगिभिः कृनकृत्यभागमनुविभयुष्यकैः ।
	जिनसभूव मदनपुरनापार्तन जिनेन्द्रबुद्धिनिक्ष सापुर्याजनः ॥
	— श्वणवैन्गोत-शिलातेष न० १०५
e	श्रोपुज्यपादमुनिरद्रतिमोपयद्भिक्षितिहिंदैह्जिनदर्शनपूत्रनामः ।
	यस्तादधीनजन्तर्सस्वर्धनप्रभावात् कालायसः किन्न तदा कनकोत्तकारः ॥
	—म्युणबेहगोल-गिलालेस नं० १०८.
११	न्यासं जैनेन्द्रमंत्र सकत्वुपनुतं पाणिनोयस्य भूयो
	न्यासं शब्दावसारं मनुवतिहितं वैद्यवास्तं न कृत्वा ।
	यस्तस्वार्गस्य टोका व्यरचयदिह्ता भारवसी पूज्यपादः,
	स्वामी भूपालवन्यः स्वपरितवचः पूर्णद्भवीधवृत्तः ॥ —नगर ताल्लुका विलालेस नं० ४६.
ρp	नमोऽस्तु पूचयवादाय, समाधिस्वामिने त्रिया । राजचन्द्राय गाचेऽहं, समाधियोद-साधनम् ॥ १ ॥
٠,	किकालानले दम्यान्, जीवास्त्रातुं समुखतः । राजचन्द्रतुषासिन्युर्नमस्तरमं स्मराम्यहम् ॥ २ ॥
	नमोऽस्तु पूच्यपादाय, समाधिस्त्रामिने सदा । समाधितन्त्रकर्तारं, नमामि समताधरम् ॥ ३ ॥
	—श्रीराजनन्दाः





अहाैकिक अध्यात्मज्ञाना परमतत्त्ववेत्ता

श्रीयद् राजवन्द्र

'खद्योतवत्सुदेष्टारो हा द्योतन्ते दवचित्दवचित्' हा [|] सम्यक्तत्त्वोपदेष्टा जुगनुंकी भॉति कही-कही चमकते हैं, द्विटगोचर होते है ।

र हात है। —आशाधर।

महान् तत्त्वज्ञानियोंकी परम्परारूप इस भारतभूमिके गुजरात प्रदेशान्तर्गत ववाणिया ग्राम (सौराष्ट्र) में श्रीमद्राजचन्द्रका जन्म विक्रम सं० १९२४ (सन् १८६७) की कार्तिकी पूर्णिमाके ब्र्भदिन रविवारको रात्रिके २ बजे हुआ था । यह ववाणिया ग्राम सौराष्ट्रमें मोरवीके निकट है ।

इनके पिताका नाम श्रीरवर्जीभाई पंचाणभाई महेता और माताका नाम श्री देववाई था। आप लोग वहुत भक्तिशील और सेवा-भावी थे। साधु-सन्तोंके प्रति अनुराग; गरीवोको अनाज-कपड़ा देना; वृद्ध और रोगियोंकी सेवा करना इनका सहज-स्वभाव था।

श्रीमर्वजीका प्रेम-नाम 'लक्ष्मीनंदन' था। बादमे यह नाम बदलकर 'रायचन्द' रखा गया और भविष्यमे आप 'श्रीमद्राजचन्द्र' के नामसे प्रसिद्ध हुए।

श्रीमद्राजचन्द्रका उज्ज्वल जीवन सचमुच किसी थी समझदार व्यक्तिके लिए यथार्थ मुक्ति-मार्गकी दिशामें प्रवल प्रेरणाका स्रोत हो सकता है। वे तीव्र क्षयोपशमवान और आत्मज्ञानी सन्तपुरुप थे, ऐसा निस्सदेहरूपसे मानना ही पडता है। उनकी अत्यन्त उदासीन सहज वैराग्यमय परिणति तीव्र एवं निर्मल आत्मज्ञान-दशाकी सूचक है।

श्रीमद्जीके पितामह श्रीकृष्णके भक्त थे, जब कि उनकी माताके जैनसंस्कार थे। श्रीमद् जीको जैन लोगोंके 'प्रतिक्रमणसूत्र' आदि पुस्तके पढनेको मिली। इन धर्म-पुस्तकोमे अत्यन्त विनय-पूर्वक जगतके सर्व जीवोसे मित्रताकी भावना व्यक्त की गई है। इसपरसे श्रीमद्जीकी प्रीति जैन-धर्मके प्रति वढने लगी। यह वृत्तान्त उनकी तेरह वर्षकी वयका है। तत्पक्चात् वे अपने पिताकी दुकानपर वैठने लगे। अपने अक्षरोकी छटाके कारण जव-जव उन्हें कच्छ दरवारके महलमें लिखनेके लिए वृलाया जाता था तव-तव वे वहाँ जाते थे। दुकानपर रहते हुए उन्होंने अनेक पुस्तकें पढीं, राम आदिके चरित्रोंपर कविताएँ रची, सासारिक तृष्णा की, फिर भी उन्होंने किसीको कम-अधिक भाव नहीं कहा श्रथवा किसीको कम-श्रावत तौलकर नहीं दिया।

जातिस्मरण और तत्त्वज्ञानकी प्राप्ति

श्रीमद्जी जिस समय सात वर्षके थे उस समय एक महत्त्वपूर्ण प्रसंग उनके जीवनमें बना। उन दिनो ववाणियामे अमीचन्द नामके एक गृहस्थ रहते थे जिनका श्रीमद्जीके प्रति वहुत ही प्रेम था। एक दिन अमीचन्दको साँपने काट लिया और तत्काल उनकी मृत्यु हो गई। उनके मरण-समाचार सुनते ही राजवन्द्रजी अपने घर दादाजीके पास दौड़े आये और उनसे पूछा 'दादाजी, क्या अमीचन्द मर गये?' वालक राजचन्द्रका ऐसा सीवा प्रश्न सुनकर दादाजीने विचार किया कि इस वातका वालकको पता चलेगा तो डर जायगा अतः उनका ध्यान दूनरी बोर आर्कावत करनेके लिए दादाजीने उन्हें भोजन कर लेनेको कहा और इधर-उधरको दूसरी वाते करने लगे। परन्तु, बालक राजचन्द्रने मर जानेके वारेमे प्रथमवार हो सुना था उसलिए विदोप जिनासापूर्यक थे पूछ

वेठे: 'मर जानेका क्या अर्थ हे?' दादाजीने कहा— उसमंगे जीय निकल गया है। अय यह चलना-फिरना, खाना-पीना कुछ नहीं कर सकता, उमिछिए उसे तालाबके पास स्पद्रान भूमिम जला देवेगे।' उतना मुनकर राजचन्द्रजी थोड़ी देर तो घरम उमर-उमर पूमते रहे, बादम निष्नाप तालाबके पास गये और वहाँ बयूलके एक यूडापर चलकर रेसा तो सनमून कुटुम्बकं छोन उसके घरीरको जला रहे है। इस प्रकार एक परिचिन और मज्जन व्यक्तिको जलाता देयकर उन्हें बद्ध अरुचर्य हुआ और वे विचारने लगे कि यह गव गया है! उनके अन्तरमं विचारो हो तीव्र सलवली-मा मच गई और वे गहन विचारमे छ्य गये। उभी ममय अचानक विचारमें भागे आवरण हट गया और उन्हें पूर्व भयोकी स्मृति हो आई। बादमे एक बार वे जूनागहका किला देशने गये तब पूर्व-स्मृतिज्ञानकी विशेष वृद्धि हुई'। उम पूर्व-स्मृतिस्प-ज्ञानने उनके जीवनमें प्रेरणाका अपूर्व नवीन—अध्याय जोटा। श्रीमद्जीको पढ़ाई विशेष नहीं हो गाई थी। फर भा, वे संस्कृत, प्रावृत्त आदि भागाओके ज्ञाता थे एव जैन आगमोंके असाधारण येता और ममंज थे। उनके क्षयोपजम-क्राक्त उत्तनी विशाल थी कि जिस काव्य या सूत्रका मुग्न बटे-नटे विद्यान लोग नहीं बता तकते थे उसका यथार्थ विश्वरूपण उन्होंने सहजरूपमें किया है। कियो भी विषयका मागोपाग विवेचन करना उनके अधिकारको बात थी'। उन्हें अल्य-वयमे ही तत्त्वज्ञानकी प्राप्ति हो गई थी, जैना कि उन्होंने स्वयं एक काव्यमें लिखा है—

लघ्वयथी अद्भुत थयो, तत्त्वज्ञानमो वोध । ए ज सूचवे एम के, गति आगति कां गोध ? जे सस्कार थवो घटे, अति अभ्यासे काय, विना परिश्रम ते थयो, भवजंका जी त्यांय ?

अर्थात् छोटो अवस्थामे मुझे अद्भुत तत्त्वज्ञानका वोघ हुआ है, यही सूचित करता है कि अब पुनर्जन्मके शोधकी क्या आवश्यकता है ? और जो संस्कार अत्यन्त अभ्यासके द्वारा उत्पन्न होते है वे मुझे बिना किसी परिश्रमके ही प्राप्त हो गये है, किर वहाँ भवशंकाका क्या काम ? (पूर्वभवके ज्ञानसे आत्माकी श्रद्धा निश्चल हो गई है।) अवधान-प्रयोग, स्पर्शनशक्ति

श्रीमद्जीकी स्मरणगिक अत्यन्त तीव्र थी। वे जो कुछ भी एक वार पढ छेते, उन्हें ज्यों का त्यों याद रह जाता था। इस स्मरणगिकिक कारण वे छोटी अवस्थामें ही अवधान-प्रयोग करने छगे थे। वीरे धीरे वे सी अवधान तक पहुँच गये थे। वि० सं० १९४३ मे १९ वर्षकी अवस्थामें उन्होंने वम्यईकी एक सार्वजिनिक सभामें डाँ० पिटर्सनके सभापितत्वमें सी अवधानोंका प्रयोग वताकर विड-विड छोगोको आक्चर्यमें डाल दिया था। उस समय उपस्थित जनताने उन्हें 'सुवर्णचन्द्रक' प्रदान किया, साथ ही 'साक्षात् सरस्वती' के पदसे भी विभूषित किया था। ई० सन् १८८६-८७ में 'मुवर्ई समाचार', 'जामें जमगेव', 'गुजराती' 'पायोनियर', 'इण्डियन', 'स्पॅक्टेटर', 'टाइम्स ऑफ इण्डिया' आदि गुजराती एव अग्रेजी-पत्रोंमें श्रीमद्जीको अद्भुत शक्तियोंके वारेमें भारी प्रगसात्मक छेख छपे थे।

१ इस प्रसगकी चर्चा कच्छके एक विशक्त वधु परमशीभाई ठाकरक्षीके पूछनेपर वम्बईमें भूलेश्वरके दि॰ जैन मन्दिरमे सं॰ १९४२ में श्रीमद्जीने की ।

२ देखिए, पं० वनारसीदासजीके 'समता रमता उरधता०' पद्यका विवेचन 'श्रीमद्राजचन्द्र' (गुजराती) पत्राक ४३८.

३. आनदघन चौबीसीके कुछ पद्योका विवेचन उपरोक्त ग्रन्थमे पत्राक ७५३.

शतावधानमे शतरंज खेलते जाना, मालाके दाने गिनते जाना, जोड़-बाकी-गुणा करते जाना, आठ भिन्न-भिन्न समस्याओकी पूर्ति करते जाना, सोल्ह भाषाओके भिन्न-भिन्न क्रमसे उलटे-सीधे नम्बरों- के साथ शब्दोंको याद रखकर वाक्य बनाते जाना, दो कोठोंमें लिखे हुए उल्टे-सीधे अक्षरोसे कविता करते जाना, कितने ही अलंकारोंका विचार करते जाना, इत्यादि सौ कामोंको एक ही साथ कर सकते थे।

श्रीमद्जीकी स्पर्शनशक्ति भी अत्यन्त विलक्षण थी। उपरोक्त सभामे ही उन्हे भिन्न-भिन्न प्रकारके वारह ग्रन्थ दिये गये और उनके नाम भी उन्हे पढ़कर सुना दिये गये। वादमे उनकी आँखोंपर पट्टी वॉधकर जो-जो ग्रन्थ उनके हाथपर रखे गये उन सब ग्रन्थोंके नाम हाथोंसे टटोलकर उन्होंने बता दिये।

श्रीमद्जीकी इस अद्भुत्तशिक्तसे प्रभावित होकर उस समयके वम्बई हाइकोर्टके मुख्य न्याया-धीश सर चार्ल्स सारजटने उन्हें विलायत चलकर अवधान-प्रयोग दिखानेकी इच्छा प्रगट की थी, परन्तु श्रीमद्जीने इसे स्वीकार नहीं किया। उन्हें कीर्तिकी इच्छा नहीं थी, बल्कि ऐसी प्रवृत्तियोंको आत्मकल्याणके मार्गमें वाधक जानकर फिर उन्होंने अवधान-प्रयोग नहीं किये। महातमा गाँधीने कहा था—

महात्मा गाँधीने उनकी स्मरणशक्ति और आत्मज्ञानसे जो अपूर्व प्रेरणा प्राप्त की वह सक्षेप-मे उन्हींके शब्दोमे—

''रायचन्द्रभाईके साथ मेरी भेट जुलाई सन् १८९१ मे उस दिन हुई जब मै विलायतसे बम्बई वापस लीटा । इन दिनो समुद्रमे तूफान आया करता है इस कारण जहाज रातको देरीसे पहुँचा । मै डाक्टर वैरिस्टर और अब रंगुनके प्रख्यात जौहरी प्राणजीवनदास महेताके घर उतरा था। रायचन्द्रभाई उनके बड़े भाईके जमाई होते थे। डॉक्टर सा० (प्राणजीवनदास) ने ही परिचय कराया । उनके दूसरे बड़े भाई झवेरी रेवाशकर जगजीवनवासकी पहचान भी उसी दिन हुई। डॉक्टर सा० ने रायचन्दभाईका 'कवि' कहकर परिचय कराया और कहा 'कवि' होते हुए भी आप हमारे साथ व्यापारमे है, आप ज्ञानी और शतावधानी है। किसीने सुचना की कि मैं उन्हें कूछ शब्द सुनाऊँ, और वे शब्द चाहे किसी भी भाषाके हो जिस क्रमसे में बोलूँगा उसी क्रमसे वे दूहरा जावेगे, मुझे यह सुनकर आश्चर्य हुआ । मै तो उस समय जवान और विलायतसे लौटा था, मुझे भाषाज्ञानका भी अभिमान था। मुझे विलायतकी हवा भी कम नही लगी थी। उन दिनों विलायतसे आया मानो आकाशसे उतरा था ! मैने अपना समस्त ज्ञान उलट दिया और अलग-अलग भाषाओंके शब्द पहले तो मैने लिख लिये, क्योंकि मुझे वह क्रम कहाँ याद रहनेवाल। था ? और वादमे उन शब्दोंको मै वॉच गया । उसी क्रमसे रायचदभाईने घीरेसे एकके वाद एक सब शब्द कह सुनाये। मै राजी हुआ, चिकत हुआ और कविकी स्मरणशक्तिके विषयमें मेरा उच्च विचार हुआ । विलायत-की हवाका असर कम पड़नेके लिए यह सुन्दर अनुभव हुआ कहा जा सकता है।"" किनके साथ यह परिचय वहत आगे बढा " "कवि सस्कारी ज्ञानी थे।

मुझपर तीन पुरुषोने गहरा प्रभाव डाला है—टाल्सटॉय, रिस्कन और रायचंदभाई! टाल्सटॉयने अपनी पुस्तको द्वारा और उनके साथ थोड़े पत्र-ज्यवहारसे, रिस्कनने अपनी एक ही पुस्तक 'अन्टु दिस लास्ट' से—जिसका गुजराती नाम मैने 'सर्वोदय' रखा है, और रायचंद्रभाईने अपने गाढ परिचयसे। जब मुझे हिन्दूधमैमें शका पैदा हुई उस समय उसके निवारण करनेमे मदद करनेवाले रायचंद्रभाई थे। सन् १८९३ मे दक्षिण अफीकामें मैं कुछ क्रिश्चियन सज्जनोंके विशेष सम्पर्कंमें

आया । उनका जीवन स्वच्छ था । वे नुस्त धर्मात्मा थे । अन्य-धर्मियोंको क्रिक्चियन होनेके लिए समझाना उनका मुख्य व्यवसाय था । यद्यपि मेरा और उनका सम्बन्ध व्यावहारिक कार्यको छेकर ही हुआ था, तो भी उन्होंने भेरे आत्माके कल्याणके लिये चिन्ता करना ग्रुष्ट कर दिया । उस समय मेअपनाएक ही कर्तव्य समझ सका कि जब तक में हिन्दूधमंके रहस्यको पूरी तीरसे न जान लूँ और उससे मेरेआत्माको असतोप न हो जाय, तब तक मुझे अपना कुळवर्म कभी नही छोड़ना चाहिए । इसिलए मेने हिन्दूधमं और अन्य धर्मोंकी पुस्तकों पढ़ना श्रुष्ट कर दी । किश्चियन और उस्लामधर्मकी पुस्तकों पढ़ी । विलायतसे अँग्रेज मित्रोंके साथ पत्रव्यवहार किया । उनके समक्ष अपनी शकाएँ रवली तथा हिन्दुस्थानमे जिनके उपर मुझे कुछ भी श्रद्धा थी उनसे पत्रव्यवहार किया । उनमें रायचन्दभाई मुख्य थे । उनके साथ तो मेरा अच्छा सम्बन्ध हो चुका था, उनके प्रति मान भी था, इसिलए उनसे जो भी मिल सके उसे लेनेका मेने विचार किया । उसका फल यह हुआ कि मुझे शान्ति मिली । हिन्दूधमंमें मुझे जो चाहिए वह मिल सकता है, ऐसा मनको विश्वास हुआ । मेरी इस स्थितिके जिम्मेदार रायचन्दभाई हुए, इससे मेरा उनके प्रति कितना अधिक मान होना चाहिए इसका पाठक लोग अनुमान कर सकते हैं।"

इस प्रकार उनके प्रवल आत्मज्ञानके कारण ही महात्मा गाधीको संतोष हुआ और उन्होने धर्मपरिवर्तन नहीं किया ।

और भी वर्णन करते हुए गाधीजीने उनके वारेमे लिखा है:

"श्रीमद्राजचन्द्र असाधारण व्यक्ति थे। उनके लेख उनके अनुभवके विन्दु समान है। उन्हें पढ़नेवालें, विचारनेवालें और उसके अनुसार आचरण करनेवालोंको मोक्ष सुलभ होवे। उसकी कषायें मन्द पड़े, उसे संसारमे उदासीनता आवे, वह देहका मोह छोड़कर आत्मार्थी वने।

इसपरसे वाचक देखेंगे कि श्रीमद्के लेख अधिकारीके लिए उपयोगी हैं। सभी वाचक उसमें रस नहीं ले सकते। टीकाकारको उसकी टीकाका कारण मिलेगा परन्तु श्रद्धावान तो उसमेंसे रस ही लूटेगा। उनके लेखोंमें सन् निथर रहा है, ऐसा मुझे हमेगा भास हुआ है। उन्होंने अपना ज्ञान दिखानेके लिए एक भी अक्षर नहीं लिखा। लिखनेका अभिप्राय वाचकको अपने आत्मानन्दमें भागीदार वनानेका था। जिसे आत्मवलेश टालना है, जो अपना कर्त्तव्य जाननेको उत्सुक है उसे श्रीमद्के लेखोंमेंसे वहुत मिल जायगा ऐसा मुझे विश्वास है फिर भले वह हिन्दू हो या अन्य वर्मी।

" जो वैराग्य (अपूर्व अवसर एवो क्यारे आवशे ?) इस काव्यकी कड़ियोंने झलक रहा है वह मैंने उनके दो वर्षके गाढ परिचयमे प्रतिक्षण उनमें देखा था। उनके लेखोकी एक असाधारणता यह है कि स्वय जो अनुभव किया वही लिखा है। उसमें कहीं भी कृत्रिमता नहीं है। दूसरे पर प्रभाव डालनेके लिये एक पक्ति भी लिखी हो ऐसा मैंने नहीं देखा " ।

खाते, बैठते, सोते, प्रत्येक क्रिया करते उनमें बेराग्य तो होता ही । किसी समय इस जगत्के किसी भी बैभवमें उन्हे मोह हुआ हो ऐसा मैने नही देखा।

उनकी चाल धीमी थी, और देखनेवाला भी समझ सकता कि चलते हुए भी ये अपने विचार-मे ग्रस्त है। ऑखोमे चमत्कार था अत्यन्त तेजस्वी, विह्वलता जरा भी नहीं थी। दृष्टिमे एकाग्रता थी। चेहरा गोलाकार, होठ पहले, नाक नोकदार भी नहीं, चपटी भी नहीं; शरीर इकहरा, कद

१ श्रीमद्जी हारा म० गांधीको उनके प्रश्नोके उत्तरमे लिखे गये कुछ पत्र, ऋ० ५३०,५७०,७१७ 'श्रीमद् राजचन्द्र'—प्रथ (गुजराती)

मध्यम, वर्ण रथाम, देखाव बांत मूर्तिका-सा था। उनके कण्ठमें इतना अधिक माधुर्य था कि उन्हें सुनते हुए मनुष्य थके नहीं। चेहरा हँसमुख और प्रफुल्लित था, जिसपर अन्तरानन्दकी छाया थी। भाषा इतनी परिपूर्ण थी कि उन्हें अपने विचार प्रगट करनेके लिये कभी गव्द दूँढना पड़ा है, ऐसा मुझे याद नही। पत्र लिखने बैठें उस समय कदाचित् ही मैने उन्हें शव्द वदलते देखा होगा, फिर भी पढ़नेवालको ऐसा नहीं लगेगा कि कहीं भी विचार अपूर्ण है या वाक्य-रचना खंडित है, अथवा शब्दोके चुनावमे कमी है।

यह वर्णन संयमीमें संभिवत है। वाह्याडम्बरसे मनुष्य वीतरागी नही हो सकता। वीत-रागता आत्माकी प्रसादी है। अनेक जन्मके प्रयत्नसे वह प्राप्त होती है और प्रत्येक मनुष्य उसका अनुभव कर सकता है। रागभावको दूर करनेका पुरुषार्थ करनेवाला जानता है कि रागरिहत होना कितना कठिन है। यह रागरिहत दशा किव (श्रीमद्) को स्वाभाविक थी, ऐसी मेरे ऊपर छाप पडी थी (

मोक्षकी प्रथम पेड़ी वीतरागता है। जबतक मन जगत्की किसी भी वस्तुमें फॅसा हुआ है तबतक उसे मोक्षकी बात कैसे रुचे ? और यदि रुचे तो वह केवल कानको ही—अर्थात् जैसे हम लोगोको अर्थ जाने या समझे बिना किसी सगीतका स्वर रुच जाय वैसे। मात्र ऐसी कर्णप्रिय क्रीड़ामेसे मोक्षका अनुसरण करनेवाले आचरण तक आनेमे तो बहुत समय निकल जाय! अतरग वैराग्यके बिना मोक्षकी लगन नहीं होती। वैराग्यका तीव्र भाव कियमे था!

· व्यवहारकुशलता और धर्मपरायणताका जितना उत्तम मेल मैने कविमे देखा उतना किसी अन्यमें नहीं देखा।''

गृहस्थाश्रम

सं० १९४४ माघ सुदी १२ को १९ वर्षकी आयुमे उनका पाणिग्रहणसंस्कार, गांधीजीके परमित्र स्व० रेवाशकर जगजीवनदास महेताके बड़े भाई पोपटलालकी पुत्री झवकवाईके साथ हुआ था। इसमे दूसरोंकी 'इच्छा' और 'अत्यन्त आग्रह' ही कारणरूप प्रतीत होते हैं। पूर्वोपाजित कर्मोंका भोग समझकर ही उन्होने गृहस्थाश्रममे प्रवेश किया, परन्तु इससे भी दिन-पर-दिन उनकी उदासीनता और वैराग्यका वल बढता ही गया। आत्मकल्याणके इच्छुक तत्त्वज्ञानी पुरुषके लिए विपम परिस्थितियाँ भी अनुकूल वन जाती है, अर्थात् विषमतामे उनका पुरुषार्थ और भी अधिक निखर उठता है। ऐसे ही महात्मा पुरुष दूसरोके लिये भी मार्ग प्रकाशक—दीपकका कार्य करते है।

श्रीमद्जी गृहस्थाश्रममे रहते हुए भी अत्यन्त उदासीन थे। उनकी दशा, छह्डालाकार प० दौलतरामजीके शब्दोमे 'गेही पै, गृहमे न रचं ज्यौ जलते भिन्न कमल है'—जैसी निर्लेप थी। उनकी इस अवस्थामे भी यही मान्यता रही कि ''कुटुम्बरूपी काजलकी कोठड़ीमे निवास करनेसे संसार बढ़ता है। उसका कितना भी सुधार करो तो भी एकान्तवाससे जितना ससारका क्षय हो सकता है उसका शताश भी उस काजलकी कोठड़ीमे रहनेसे नही हो सकता, क्योंकि वह कषायका निमित्त है और अनादिकालसे मोहके रहनेका पर्वत है'।'' फिर भी इस प्रतिकृलतामे वे अपने परिणामोकी पूरी सँभाल रखकर चले। यहाँ उनके अन्तरके भाव एक मुमुक्षको लिखे गये पत्रमे इस प्रकार ब्यक्त हुए हैं—'ससार स्पष्ट प्रीतिसे करनेकी इच्छा होती हो तो उस पुरुपने ज्ञानीके

१. देखिये—'श्रीमद्राजचन्द्र' (गुजराती) पत्र-क्र० ३०.

२. 'श्रीमदराजचन्द्र' (गुजराती) पत्र-क्र० १०३.

वचत सुने नहीं अथवा ज्ञानीके दर्शन भी उमने किये नहीं ऐमा तीर्थकर गहरे हैं।' 'ज्ञानी पुरुषके वचन सुननेके वाद स्त्रीका सजीवन कारीर अजीवनरंग भास्यमान हुए विना रहे नहीं े।' उससे स्पष्ट प्रगट होता है कि वे अत्यन्त वेरागी महापुरुष थे।

सफल व्यापारी

व्यापारिक झंझट और धर्मसाधनाका मेल प्राय. कम वैठता है, परन्तु आपका धर्म— आत्मिचन्तन तो साथमें ही चलता था। वे कहते थे कि धर्मका पालन कुछ एकादशीके दिन ही, पर्यूपणमें ही अथवा मन्दिरोंमें ही और दुकान या दरवारमें न हो ऐसा कोई नियम नहीं, बिल्क ऐसा कहना धर्मतत्त्वको न पहचाननेके तुल्य है। श्रोमद्जीके पास दुकान पर कोई न कोई वार्मिक पुस्तक और दैनन्दिनी (डायरी) अवक्य होती थी। व्यापारकी बात पूरी होते ही फीरन धार्मिक पुस्तक खुलती या फिर उनकी वह डायरी कि जिसमें कुछ न कुछ मनके बिचार वे लिखते ही रहते थे। उनके लेखोका जो संग्रह प्रकाशित हुआ है उसका अधिकाय भाग उनकी 'नोंघपोथी'मेंसे लिया गया है।

श्रीमद्जी सर्वाधिक विञ्वासपात्र व्यापारीके रूपमे प्रसिद्ध थे। वे अपने प्रत्येक व्यवहारमें सम्पूर्ण प्रामाणिक थे। इतना वडा व्यापारिक काम करते हुए भी उसमे उनकी आसिक नहीं थी। वे बहुत ही सन्तोपी थे। रहन-सहन पहरवेश सादा रखते थे। धनको तो वे 'उच्च प्रकारके कंकर'' मात्र समझते थे।

एक अरव व्यापारी अपने छोटे भाईके साथ वम्बईमें मोतियोंकी आढ़तका काम करता था। एक दिन छोटे भाईने सोचा कि मैं भी अपने वड़े भाईकी तरह मोतीका व्यापार करें। वह परदेशसे आया हुआ माल लेकर बाजारमे गया। वहाँ जाने पर एक दलाल उसे श्रीमद्जीकी दुकानपर लेकर पहुँचा। श्रीमद्जीने माल अच्छी तरह परवक्तर देसा और उसके कहे अनुसार रकम चुकाकर ज्योका त्यौ माल एक ओर उठाकर रख दिया। उघर घर पहुँचकर बड़े भाईके आनेपर छोटे भाईने व्यापारकी वात कह सुनाई। अब जिस व्यापारीका वह माल था उसका पत्र इस अरव व्यापारीके पास उसी दिन आया था कि अमुक भावसे नीचे माल मत वेचना। जो भाव उसने लिखा था वह चालू वाजार-भावसे बहुत ही छँचा था। अब यह व्यापारी तो घवरा गया वयोकि इसे इस सीदेमे बहुत अधिक नुकसान था। वह कोधमे आकर वोल उठा—'अरे! तूने यह वया किया? मुझे तो दिवाला ही निकालना पड़ेगा!'

अरव-व्यापारी हाँफता हुआ श्रीमद्जीके पास दीड़ा हुआ आया और उस व्यापारीका पत्र पढवाकर कहा—'साहव, मुझ पर दया करो, वरना मैं गरीव आदमी वरवाद हो जाऊँगा ।' श्रीमद्जीने एक और ज्यौ का त्याँ वँधा-हुआ माल दिखाकर कहा—'भाई, तुम्हारा माल यह रक्खा है। तुम खुशीसे ले जाओ।' यौ कहकर उस व्यापारीका माल उसे दे दिया और अपने पैसे ले लिये। मानो कोई सौदा किया ही नहीं था, ऐसा सोचकर हजारोंके लाभकी भी कोई परवाह नहीं की। अरव-व्यापारी उनका उपकार मानता हुआ अपने घर चला गया। यह अरव व्यापारी श्रीमद्को खुदाके पैगम्वरके समान मानने लगा।

व्यापारिक नियमानुसार सौदा निश्चित हो चुकने पर वह व्यापारी माल वापस लेनेका

१ 'श्रीमद्राजचन्द्र' (गुजराती) पत्र-क्र० ४५४.

२. 'ऊँची जातना काकरा'

अधिकारी नहीं था, परन्तु श्रीमद्जीका हृदय यह नहीं चाहता था कि किसीको उनके द्वारा हानि हो । सचमूच महात्माओंका जीवन उनकी छतिमे व्यक्त होता ही है ।

इसी प्रकारका एक दूसरा प्रसंग उनके करुणामय और निस्पृही जीवनका ज्वलन्त उदा-हरण है:

एक बार एक व्यापारीके साथ श्रीमद्जीने हीरोंका सौदा किया। इसमें ऐसा तय हुआ कि अमुक समयमें निहिच्त किये हुये भावसे वह व्यापारी श्रीमद्को अमुक हीरे दे। इस विषयकी चिट्ठी भी व्यापारीने ठिख दी थी। परन्तु हुआ ऐसा कि मुद्दतके समय उन हीरोंको कीमत बहुत अधिक बढ़ गई। यदि व्यापारी चिट्ठोक अनुसार श्रीमद्को हीरे दे, तो उस बेचारेको बड़ा भारी नुकसान सहन करना पड़े; अपनी सभी सम्पत्ति वेच देनी पड़े! अब क्या हो ?

इधर जिस समय श्रीमर्जीको हीरोंका बाजार-भाव मालूम हुआ, उस समय वे बीछ ही उस व्यापारीको दुकानपर जा पहुंचे। श्रीमर्जीको अपनी दुकानपर आये देखकर व्यापारी घव-राहटमें पड़ गया। वह गिड़ीगडाते हुए बोला—'रायचंदभाई, हम छोगोंके बीच हुए सौदेके सम्बन्धमें मैं खूद ही चिन्तामे पड़ गया हूँ। मेरा जो कुछ होना हो वह भले हो, परन्तु आप विक्वास रखना कि मैं आपको आजके वाजार-भावसे सौदा चुका दूँगा। आप जरा भी चन्ता न करें।'

यह सुनकर राजचन्द्रजी करुणाभरी आवाजमें वोलें ' "वाह ! भाई, वाह ! मैं चिन्ता क्यों न करूँ ? तुमको सौदेकी चिन्ता होती हो तो मुझे चिन्ता क्यों न होनी चाहिये ? परन्तु हम दोनोंकी चिन्ताका मूल कारण यह चिट्ठी ही है न ? यदि इसको ही फाड़कर फेक दे तो हम दोनोंकी चिन्ता मिट जायनी ।"

यों कहकर श्रीमद् राजचन्द्रने सहजभावते वह दस्तावेज फाड डाला । तत्परचात् श्रीमद्जी बोले. "भाई इस चिट्ठीके कारण तुम्हारे हाथपाँव वैधे हुए थे । वाजारभाव वढ़ जानेसे तुमसे मेरे साठ-सत्तर हजार रुपये लेना निकलते हैं, परन्तु में तुम्हारी स्थिति समझ सकता हूँ । इतने श्रीधक रुपये में तुमसे लूँ तो तुम्हारी क्या दशा हो ? परन्तु राजचन्द्र दूध पी सकता है, जून नहीं!"

वह व्यापारी कृतज्ञ-भावसे श्रीमद्की ओर स्तब्ध होकर देखता ही रहा ।

भविष्यवक्ता, निमित्तज्ञानी

श्रीमद्बीका ज्योतिष-सम्बन्धी ज्ञान भी प्रखर था। वे जनसमुंडकी, वर्षफळ एवं अन्य चिह्न देखकर भविष्यकी सूचना कर देते थे। श्रीकृठाभाई (एक मुमुशु) के मरणके बारेसे उन्होंने रा मास पूर्व स्पष्ट बता दिया थां। एक बार सं० १९५५ की चैत्र वदी ८ को मोरवीमे दोपहरके ४ बचे पूर्विद्याके आकाशमे काले बादक देखे और उन्हें दुष्काळ पड़नेका निमित्त जानकर उन्होंने कहा कि 'ऋतुको सिकारत हुआ है।' इस वर्ष १९५५ का चोमासा कोरा रहा—वर्षा नहीं हुई और १९५६ से भगंकर दुष्काळ पड़ा। वे दूसरेके मनकी बातको भी सरलतासे जान लेते थे। यह सब उनकी निमंळ आत्मशुविदका प्रभाव था।

कवि-लेखक

श्रीमद्जीमं, अपने विचारोंकी अभिव्यक्ति पद्यरूपमे करनेकी सहज क्षमता थी। उन्होंने सामाजिक रचनाओंमे—'स्त्रीनीतिवोधक', 'सद्बोधशतक', 'आर्य प्रजानी पडती', 'हुन्तरकला वद्या-

१. देखिये-दैनिक नोधसे लिया गया कथन, पत्र ऋ० ११६, ११७ ('श्रीमद्राजनन्द्र' गुजराती)-

रवा विषे', 'सद्गुण, सुनीति, सत्य विषे' आदि अनेक रचनाएँ केवल ८ वर्षकी वयमें लिखी थी, जिनका एक संग्रह प्रकाशित हुआ है। ९ वर्षकी आयुमे उन्होंने रामायण और महाभारतकी भी पद्य-रचना की थी जो प्राप्त नहीं हो राकी। इसके अतिरिक्त जो उनका मूल विषय आत्मज्ञान था उसमें उनकी अनेक रचनाएँ है। प्रमुखरूपसे 'आत्मितिद्व' (१४२ दोहे), 'अमूल्य तत्त्वविचार' 'भिततना वीस दोहरा', 'ज्ञानमीमांसा', 'परमपदप्राप्तिनी भावना' (अपूर्व अवसर), 'मूलमार्ग रहस्य', 'जिनवाणीनी स्तुति', 'वारह भावना' और 'तृष्णानी विचित्रता' है। अन्य भी बहुत-सी रचनाएँ है जो भिन्त-भिन्न वर्षों में लिखी है।

'आत्मिसिद्धि'—शास्त्रकी रचना तो आपने मात्र डेंढ घटेमे, श्री सीभागभाई, डूंगरभाई आदि मुमुक्षुओके हितार्थ निडयादमे आदिवन बदी १ (गुजराती) गुरुवार सं० १९५२ को २९ वें वर्षमें लिखी थी। यह एक, निस्सदेह धर्ममार्गकी प्राप्तिमे प्रकाशरूप अद्भृत रचना है। अंग्रेजीमे भी इसके गद्य-पद्यात्मक अनुवाद प्रगट हो चुके हैं।

गद्य-लेखनमे श्रीमद्जीने 'पुष्पमाला', 'भावनावोध' और 'भोक्षमाला' की रचना की । यह सभी सामग्री पठनीय-विचारणीय है। 'मोक्षमाला' उनकी अत्यन्त प्रसिद्ध रचना है, जिसे उन्होंने केवल १६ वर्ष ५ मासकी आयुमे मात्र ३ दिनमें लिखी थी। इसमे १०८ पाठ है। कथनका प्रकार विज्ञाल और तत्त्वपूर्ण है।

उनको अर्थ करनेको शक्ति भी यडी गहन थी । भगवत्कुन्दकुन्दाचार्यके 'पचास्तिकाय'-ग्रन्थको मूल गाथाओका उन्होने अविकल गुजराती अनुवाद किया है।'

सहिप्णुता

विरोधमें भी सहनवील होना महापुरुषोका स्वाभाविक गुण है। यह वात यहाँ घटित होती है। जैन समाजके कुछ लोगोने उनका प्रवल विरोध किया, निन्दा की, फिर भी वे बटल बात और मीन रहे। उन्होंने एक वार कहा या 'दुनिया तो सदा ऐसी ही है। ज्ञानियोंको, जीवित हों तव कोई पहचानता नहीं, वह यहाँ तक कि ज्ञानीके सिर पर लाठियोंकी मार पड़े यह भी कम, और ज्ञानीके मरनेके बाद उसके नामके पत्थरकों भी पूजे!'

एकान्तचर्या

मोहमयी (वस्वई) नगरीमे व्यापारिक काम करते हुए भी श्रीमद्जी ज्ञानाराधना तो करते ही रहते थे। यह उनका प्रमुख और अनिवार्य कार्य था। उद्योग-रत जीवनमे शात और स्वस्थ चित्तसे चुपचाप आत्म-साधना करना उनके लिये सहज हो चला था, फिर भी बीच-बीचमे विशेष अवकाश लेकर वे एकान्त स्थान, जगल या पर्वतोमे पहुच जाते थे। वे किसी भी स्थानपर वहुत गुप्तरूपसे जाते थे। वे नही चाहते थे कि किसीके परिचयमे आया जाय, फिर भी उनकी सुगन्धी छिप नही पातो थी। अनेक जिज्ञासु-भ्रमर उनका उपदेश, धर्मवचन सुननेकी इच्छासे पीछे-पीछे कही भी पहुँच ही जाते थे और सत्समागमका लाभ प्राप्त कर लेते थे। गुजरातके चरोतर, ईडर आदि प्रदेशमे तथा सीराष्ट्र-क्षेत्रके अनेक शान्तस्थानोमे उनका गमन हुआ। आपके समागमका

२. 'आत्मसिद्धि' के अग्रेजी अनुवादमे Atmasiddhı, Self Realization और Self Fulfilment प्रगट हुए हैं । संस्कृत-छाया भी छपी हैं ।

२ देखिये—'श्रीमद्राजचन्द्र' गुज० पत्राक ७६६ । उनकी सभी प्रमुख-सामग्रीका सकलन 'श्रीमद्राजचन्द्र'-ग्रन्थमे किया गया है ।

विशेष लाभ जिन्हें मिला उनमें मुनिश्री लल्लुजी (श्रीमद्ल्यपुराजस्वामी), मुनिश्री देवकरणजी तथा सायलाके श्रीसीभागभाई, अम्बालालभाई (खंभात), जूठाभाई (अहमदावाद) एवं डूंगरभाई मुख्य थे।

एक वार श्रीमद्जी सं॰ १९५५ में जब कुछ दिन ईंडरमें रहे तब उन्होंने डॉ॰ प्राणजीवनदास मेहता (जो उस समय ईंडर स्टेटके चीफ मेडिकल ऑफीसर थे और सम्बन्धकी दृष्टिसे उनके श्वसुरके भाई होते थे) से कह दिया था कि उनके आनेकी किसीको खबर न हो। उस समय वे नगरमे केवल भोजन लेने जितने समयके लिए ही रकते, शेष समय ईंडरके पहाड़ और जंगल-में विताते।

मुनिश्री लत्लुजी, श्रीमोहनलालजी तथा श्री नरसीरखको उनके वहाँ पहुँचनेके समाचार मिल गये । वे शीघ्रतासे ईडर पहुँचे । श्रीमद्जीको उनके आगमनका समाचार मिला । उन्होंने कहलवा दिया कि मुनिश्री वाहरसे वाहर जंगलमें पहुँचे—यहाँ न आवे । साधुगण जंगलमे चले गये । वादमें श्रीमद्जी भी वहाँ पहुँचे । उन्होंने मुनिश्री लत्लुजीसे एकांतमे अचानक ईडर आनेका कारण पूछा। मुनिश्रीने उत्तरमें कहा कि 'हम लोग अहमदाबाद या खंभात जानेवाले थे, यहाँ निवृत्ति क्षेत्रमें आपके समागममें विशेष लाभकी इच्छासे इस ओर चले आये । मुनि देवकरणजी भी पीछे आते हैं।' इसपर श्रीमद्जीने कहा—'आप लोग कल यहाँसे विहार कर जावे, देवकरणजीको भी हम समाचार भिजना देते हैं वे भी अन्यत्र विहार कर जावेगे। हम यहाँ गुप्तरूपसे रहते हैं—किसीके परिचयमें आनेकी इच्छा नहीं है।'

श्री लल्लुजो मुनिने नम्न-निवेदन किया— 'आपकी बाजानुसार हम चले जावेगे परन्तु मोहनलालजी और नरसीरख मुनियोंको आपके दर्शन नहीं हुये हैं, आप आज्ञा करें तो एक दिन स्ककर चले जावें। श्रीमद्जीने इसकी स्वीकृति दी। दूसरे दिन मुनियोंने देखा कि जंगलमे आम्न-वृक्षके नीचे श्रीमद्जीने प्राकृतभापाकी *गाथाओका तत्मय होकर उच्चारण कर रहे हैं। उनके पहुँचनेपर भी आधा घण्टे तक वे गाथाएँ वोलते ही रहे और ध्यानस्थ हो गए। यह वातावरण देखकर मुनिगण आत्मविभोर हो उठे। थोड़ी देर वाद श्रीमद्जी ध्यानसे उठे और 'विचारना' इतना कहकर चलते वने। मुनियोंने विचारा कि लघुशकादि निवृत्तिके लिए जाते होंगे परन्तु वे तो निस्पृहरूपसे चले ही गये। थोड़ी देर इधर-उधर ढूँढकर मुनिगण उपाश्रयमे आ गये।

उसी दित शामको मुनि देवकरणजी भी वहाँ पहुँच गये। सभीको श्रीमद्जीने पहाड़के ठपर स्थित दिगम्बर, श्वेताम्बर मन्दिरोके दर्शन करनेकी आज्ञा दी। वीतराग-जिनप्रतिमाके दर्शनोंसे मुनियोंको परम उल्लास जाग्रत हुआ। इसके पश्चात तीन दिन और भी श्रीमद्जीके सत्समागमका

^{*} १. मा मुज्जह मा रज्जह मा दुस्सह इट्टिजिट्ट अत्येतु । थिरिमच्टिह जइ चित्तं विचित्तज्ञाणप्पसिद्धीए ॥ ४८ ॥ २. जं किंचि वि चितंतो णिरीहिबित्ती हवे जदा साहू । लद्भूणय एयत्तं तदाहु तं णिच्चयं ज्झाणं ॥ ५५ ॥ ३. मा चिट्ठह मा जंपह मा चितह किं वि जेण होइ थिरो ।

२. मा चिट्ठह मा जपह मा चित्तह कि वि जण हाइ थिरा। अप्पा अप्पम्मि रक्षो इणमेव पर्र हवे ब्लाण ॥ ५६ ॥ (द्रव्यसंद्रह)

⁻शीमद्जीने सह 'मृहद्द्रव्यसंपह'-पन्य ईड रके दि० जैन बास्य-गण्यरमेंने स्वयं निवजवामा था।

लाभ उन्होंने उठाया । जिसमें श्रीमद्जीने उन्हें 'द्रव्यसंग्रह' और 'शात्मानुशासन'—ग्रंथ पूरे पढकर स्वाध्यायके रूपमें सुनाये । एक अन्य भी कल्याणकारी बोध दिया ।

अत्यन्त जाग्रंत आत्मा ही परमात्मा वनता है, परम वीतरागदशाको प्राप्त होता है। इन्ही अन्तरभावोके साथ आत्मस्वरूपको ओर लक्ष्य कराते हुए एक वार श्रोमद्जीने अहमदाबादमे मुनिश्री लल्लुजो (पू० लघुराजस्वामी) तथा श्रोदेवकरणजीको कहा था कि 'हममे और वोतरागमें भेद गिनना नहीं' हममे और श्री महावोर भगवान्मे कुछ भी अतर नहीं, केवल इस कुत्तेंका फेरहैं। मत-मतान्तरके आग्रहसे दूर

जनका कहना था कि मत-मतान्तरके आग्रहसे दूर रहनेपर ही जीवनमें रागद्वेषसे रहित हुआ जा सकता है । मतोके आग्रहसे निज स्वभावरूप आत्मधर्मकी प्राप्ति नही हो सकती । किसी भी जाति या वेषके साथ भी धर्मका सम्बन्ध नही ।

> "जाति वेषनो भेद नहि, कह्यो मार्ग जो होय। साधे ते मुक्ति लहे, एमां भेद न कोय॥"

> > (आत्मसिद्धि १०७)

—जो मोक्षका मार्ग कहा गया है वह हो तो किसी भी जाति या वेपसे मोक्ष होने, इसमें कुछ भेद नहीं है। जो साधना करें वह मुक्तिपद पावे।

आपने लिखा है—''ग्लतत्त्वमें कही भी भेद नही है। मात्र दृष्टिका भेद है ऐसा मानकर आज्ञय समझकर पवित्र धर्ममें प्रवृत्ति करना।'' (पुष्पमाला १४, पृ० ४)

"तू चाहे जिस धर्मको मानता हो इसका मुझे पक्षपात नहीं, मात्र कहनेका तात्पर्य यही कि जिस मार्गसे ससारमलका नाश हो उस भक्ति, उस धर्म और उस सदाचारका तू सेवन कर ।" (पु॰ मा॰ १५, प॰ ४)

"दुनिया मतभेदके बधनसे तत्त्व नही पा सकी ।" (पत्र-ऋ० २७)

उन्होंने प्रीतम, अखा, छोटम, कबीर, सुन्दरदास, सहजानन्द, मुक्तानन्द, नरसिंह महेता आदि सन्तोकी वाणीको जहाँ-तहाँ आदर दिया है और उन्हे मार्गानुसारी जीव (तत्त्वप्राप्तिके योग्य आत्मा) कहा है। इसिलए एक जगह उन्होंने अत्यन्त मध्यस्थतापूर्वक आध्यात्मिक-दृष्टि प्रकट की है कि 'मै किसी गच्छमे नहीं, परन्तु आत्मामे हूँ।'

एक पत्रमे आपने दर्शाया है—"जब हम जैनशास्त्रोको पढ़नेके लिए कहे तब जैनी होनेके लिए नहीं कहते, जब वेदान्तशास्त्र पढ़नेके लिए कहें तो वेदान्ती होनेके लिए नहीं कहते। इसीप्रकार अन्य शास्त्रोको बाँचनेके लिए कहे तब अन्य होनेके लिए नहीं कहते। जो कहते हैं वह केवल तुम सब लोगोंको उपदेश—ग्रहणके लिए ही कहते हैं। जैन और वेदान्ती आदिके भेदका त्याग करो। आत्मा वैसा नहीं है।"

फिर भी अनुभवपूर्वक उन्होंने निग्नंथशासनकी उत्कृष्टताको स्वीकार किया है। अही । सर्वोत्कृष्ट शातरसमय सन्मागं, अहो ! उस सर्वोत्कृष्ट शातरसप्रधान मार्गके मूल सर्वज्ञदेव, अहो !

पक्षपातो न मे नीरे न होवः किपलादिपु । युक्तिमहचनं यस्य तस्य कार्य परिग्रह ॥ (हिरिभद्रसूरि)

१ देखिए इसी प्रकारके विचार-

२. 'श्रीमद्राजचन्द्र' (गुज०) पत्र-ऋ० ३५८.

६, 'श्रीमदराजवन्द्र' शिक्षापाठ ९५ (तत्त्वावबोध १४) तथा पत्र-ऋ० ५९६.

र्जस सर्वोत्कृष्ट शांतरसकी सुप्रतीति करानेवाले परमकृपालु सद्गुरुदेव-इस विश्वमे सर्वकाल तुम जयवंत वर्तो ।°

दिनोंदिन और क्षण-क्षण उनकी वैराग्यवृत्ति वर्धमान हो चली। चैतन्यपुंज निखर उठा। वीतराग-मार्गकी अविरल उपासना उनका ध्येय बन गई। वे बढ़ते गये और सहजभावसे कहते गये—''जहाँ-तहाँसे रागद्वेषसे रहित होना ही मेरा धर्म है।''

निर्मेळ सेम्यग्दर्शनकी प्राप्तिमें उनके उद्गार इस प्रकार निकले हैं— अोगणीससे ने सुडतालीसे, समिकत शुद्ध प्रकाश्युं रे, श्रुत अनुभव वघती दशा, निज स्वरूप अवभास्युं रे। घन्य रे दिवस आ अहो ! (हा. नो. ११६३ क्र० ३२)

सोल्लास उपकार-प्रगटना

"है सर्वात्कृष्ट सुखके हेतुभूत सम्यग्दर्शन ! तुझे अत्यन्त भिक्पूर्वक नमस्कार हो । इस अनादि अनन्त ससारमे अनन्त अनन्त जीव तेरे आश्रय विना अनन्त अनत दु.ख अनुभवते हैं । तेरे परमानु-ग्रहसे स्वस्वरूपमे रुचि हुई । परमवीतराग स्वभावके प्रति परम निश्चय आया । कृतकृत्य होनेका मार्ग ग्रहण हुआ ।

हे जिन वीतराग[।] तुम्हे अत्यन्त भक्तिसे नमस्कार करता हूँ । तुमने इस पामरपर अनंत अनंत जपकार किया है ।

हे कुन्दकुन्दादि आचार्यो !तुम्हारे वचन भी स्वरूपानुसंधानमेइम पामरको परम उपकारभूत हुए हैं । इसके लिए मै तुम्हे अतिशय भक्तिपूर्वक नमस्कार करता हूँ ।

हे श्री सोभाग । तेरे सत्समागमके अनुग्रहसे आत्मदशाका स्मरण हुआ। अतः नुझे नमस्कार करता हूँ।" (हाः नोंः २/४५ क्र० २०)

परमनिवृत्तिख्प कामना । चिंतना

उनका अन्तरङ्ग, गृहस्थावास-व्यापारादि कार्यसे छूटकर सर्वसंगपिरत्याग कर निर्म्नथदशाके लिए छटपटाने लगा। उनका यह अन्तरआशय उनकी 'हाथनोध' परसे स्पष्ट प्रगट होता है—

'हि जीव ! असारभूत लगनवाले ऐसे इस व्यवसायसे अब निवृत्त हो, निवृत्त ! उस व्यवसायके करनेमे चाहे जितना वलवान प्रारब्धोदय दीखता हो तो भी उससे निवृत्त हो निवृत्त ! जो कि श्रीसर्वज्ञने कहा है कि चौदहवे गुणस्थानवर्ती जीव भी प्रारब्ध भोगे विना मुक्त नही हो सकता, फिर भी तू उस उदयके आश्रयरूप होनेसे अपना दोष जानकर उसका अत्यन्त तीव्ररूपमे विचारकर उससे निवृत्त हो, निवृत्त ! (हा॰ नो॰ १।१०१ क्र० ४४)

"हे जीव ! अब तू संग-निवृत्तिरूप कालकी प्रतिज्ञा कर, प्रतिज्ञा कर ! केवलसंगनिवृत्तिरूप प्रतिज्ञाका विशेष अवकाश दिखाई न दे तो अंशसंगनिवृत्तिरूप इस व्यवसायका त्याग कर ! जिस ज्ञानदशामे त्यागात्याग कुछ सम्भावित नहीं उस ज्ञानदशामे त्यागात्याग कुछ सम्भावित नहीं उस ज्ञानदशामे त्यागात्याग कुछ सम्भावित नहीं उस ज्ञानदशामे वर्तते हुए भी तुझे बाधा नहीं होगी, ऐसा दशा अल्पकाल भी भोगेगा तो सम्पूर्ण जगत प्रसंगमे वर्तते हुए भी तुझे बाधा नहीं होगी, ऐसा

हाथनोघ ३।५२ क्रम २३ 'श्रीमद्राजचन्द्र' (गुज०)।

२. 'पत्र क्र० ३७ 'श्रीमद्राजचन्द्र'।

होते हुए भी सर्वज्ञने निवृत्तिको ही प्रशस्त कहा है; कारण कि ऋपभादि सर्व परमपुरुषोने अन्तमें ऐसा ही किया है।" (हा नो १/१०२ क्र० ४५)

"राग, द्वेप और अज्ञानका आत्यतिक अभाव करके जो सहज शुद्ध आत्मस्वरूपमे स्थित हुए वही स्वरूप हमारे स्मरण, ध्यान और प्राप्त करने योग्य स्थान है।" (हा नो २।३ क०१)

"सर्व परभाव और विभावसे व्यावृत्त, निज स्वभावके भान सहित, अवध्तुवत्-विदेहीवत् जिनकरपीयत् विचरते पुरुष भगवानके स्वरूपका ध्यान करते हैं।" (हा नो ३/३७ क्र० १४)

''मैं एक हूँ, असँग हूँ, सर्व परभावसे मुक्त हूँ, असंख्यप्रदेशात्मक निजअवगाहनाप्रमाण हूँ । अजन्म, अजर, अमर, आश्वत हूँ । स्वपर्यायपरिणामी समयात्मक हूँ । शुद्ध चैतन्यमात्र निर्विकल्प दष्टा हुँ । (हा. नों. ३।२९ क्र० ११)

"मै परमशुद्ध, अखंड चिद्घातु हूँ, अचिद्धातुके संयोगरसका यह आभास तो देखो ! आक्चर्यरूप, घटना है । कुछ भी अन्य विकल्पका अवकाश नही, स्थिति भी ऐसी ही है।" (हा॰ नो. २।३७ क्र॰ १७)

इसप्रकार अपनी आत्मदशाको सभालकर वे बढ़ते रहे। आपने सं० १९५६ में व्यवहार सम्बन्धी सर्व उपाधिसे निवृत्ति लेकर सर्वसगपिरत्यागरूप दीक्षा धारण करनेकी माताजीसे आज्ञा भी ले ली थी। परन्तु उनका शारीरिक स्वास्थ्य दिन-पर-दिन विगडता गया। उदय वलवान है। शरीरको रोगने आ घेरा। अनेक उपचार करनेपर भी स्वास्थ्य ठीक नही हुआ। इसी विवशतामे उनके हृदयकी गभीरता वोल उठी "अत्यन्त त्वरासे प्रवास पूरा करना था, वहाँ वीचमे सहराका मरुस्थल आ गया। सिरपर बहुत वोझ था उसे आत्मवीयसे जिसप्रकार अल्पकालमे सहन कर लिया जाय उस प्रकार प्रयत्न करते हुए, पैरोने निकाचित उदयरूप थकान ग्रहण की। जो स्वरूप है वह अन्यथा नही होता यही अद्भुत आक्चर्य है। अव्यावाध स्थिरता है ।"

अन्त समय

स्थिति और भी गिरती गई। शरीरका वजन १३२ पौडसे घटकर मात्र ४३ पौड रह गया। शायद उनका अधिक जीवन कालको पसन्द नहीं था। देहत्यागके पहले दिन शामको आपने अपने छोटे भाई मनसुखराम आदिसे कहा—"तुम निश्चित रहना, यह आरमा शाश्वत है। अवश्य विशेष उत्तम गतिको प्राप्त होगा, तुम शान्ति और समाधिरूपसे प्रवर्तना। जो रत्नमय ज्ञानवाणी इस देहके द्वारा कही जा सकती थी, वह कहनेका समय नही। तुम पुरुपार्थ करना।" रात्रिको २॥ वजे वे फिर वोले—'निश्चित रहना, भाईका समाधिमरण है। और अवसानके दिन प्रात: पौने नौ वजे कहा 'मनसुख, दुखी न होना, मै अपने आत्मस्वरूपमे लीन होता हूँ।' और अन्तमे उस दिन सं० १९५७ चैत्र वदी ५ (गुज०) मगलवारको दोषहरके दो बजे राजकोटमे उनका आत्मा इस नश्वर देहको छोडकर चला गया। भारतभूमि एक अनुपम तत्त्वज्ञानी सन्तको खो बैठी।

उनके देहावसानके समाचार सुनकर मुमुक्षुओं चित्त उदास हो गये। वसत मुरझा गया। निस्संदेह श्रीमद्जी विश्वकी एक महान विभूति थे। उनका वीतरागमार्ग-प्रकाशक अनुपम वचनामृत आज भी जीवनको अमरत्व प्रदान करनेके लिए विद्यमान है। धर्मजिज्ञासु बन्धु उनके वचनोका लाभ उठावे।

१. 'श्रीमद राजचन्द्र' (गुज०) पत्र क्र० ९५१।

श्री लघुराजस्वामी (प्रमुश्री) ने जनके प्रति अपना हृदयोदगार इन बन्दोंमें प्रगट किया है: "अपरमार्थमें परमार्थके दृढ़ आग्रहरूप अनेक सूक्ष्म भूलभुलैयांके प्रसग दिखाकर इस दासके दोष दूर करनेमें इन आप्त पुरुषका परम सत्संग तथा उत्तम वोध प्रवल उपकारक वने है।" "संजीवनी औषघ समान मतको जीवित करे ऐसे उनके प्रवल पुरुपार्थ जागृत करनेवाले वचनोंका माहात्म्य विशेष विशेष भास्यमान होनेके साथ ठेठ मोक्षमे ले जाय ऐसी सम्यक् समझ (दर्शन) उस पुरुष और उसके बोधकी प्रतीतिसे प्राप्त होती है; वे इस दुषम कलिकालमें आक्चर्यकारी अवलवन है।" "परम माहात्म्यवंत सद्गुरु श्रीमद् राजचन्द्रदेवके वचनोंमें तल्लीनता, श्रद्धा जिसे प्राप्त हुई है; या होगी उसका महद् भाग्य है। वह भव्य जीव अल्पकालमें मोक्ष पाने योग्य है।

उनकी स्मृतिमे शास्त्रमालाकी स्थापना

सं० १९५६ में र सत्त्रुतके प्रचार हेतु वस्वईमें श्रीमद् जीने परमश्रुतप्रभावकमण्डलकी स्थापना की थी। उसीके तत्त्वावधानमे उनकी स्मृतिस्वरूप श्रीरायचन्द्र जैन शास्त्रमालाकी स्थापना हुई। जिसकी ओरसे अब तक समयसार, प्रवचनसार, गोम्मटसार, स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा, परमात्मप्रकाश और योगसार, पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, इष्टोपदेश, प्रशमरितप्रकरण, न्यायावतार, स्याद्वादमञ्जरी, अष्टप्राभृत, सभाष्यतत्त्वार्थाधिगमसूत्र, ज्ञानार्णव, वृहद्द्रव्य संग्रह, पचास्तिकाय, लब्धसार-क्षपणासार, इत्यानुयोगतर्कणा, सप्तभगीतरिगणी, उपदेशख्या और, आत्मसिद्धि, भावनावोधमोक्षमाला, श्रीमद्राजचन्द्र आदि ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके है। वर्तमानमें संस्थाके प्रकाशनका सव काम अगाससे ही होता है। विक्रयकेन्द्र वम्बईमे भी पूर्वस्थानपर ही है। श्रीमद्राजचन्द्र आश्रम, अगाससे गुजराती भाषामे अन्य भी उपयोगी ग्रन्थ छपे है।

वर्तमानमे निम्निलिखित स्थानोपर श्रीमद्राजचन्द्र आश्रम व मन्दिर आदि संस्थाएँ स्थापित है, जहाँ पर मुमुक्षु-बन्धु मिलकर आत्मकल्याणार्थ वीतराग-तत्त्वज्ञानका लाभ उठाते हैं । वे स्थान है—अगास, ववाणिया, राजकोट, बड़वा, खंभात, काविठा, सीमरडा, भादरण, नार, सुणाव, नरोड़ा, सडोदरा, धामण, अहमदाबाद, ईडर, सुरेन्द्रनगर, वसो, वटामण, उत्तरसंडा, बीरसद, आहोर (राज०) हन्पी (दक्षिण भारत), इन्दौर (म०प्र०); वम्बई-घाटकोपर, देवलाली तथा मोम्बासा (आफिका)।

अन्तमे, वीतराग-विज्ञानके निधान तीर्थंकरादि महापुरुषोद्वारा उपदिष्ट सर्वोपरि- आत्म-धर्मका अविरल प्रवाह जन-जनके अन्तरमें प्रवाहित हो, यही भावना है।

श्रीमद् राजचन्द्र आश्रम स्टे० अगास, पो० वोरिया वाया. आणंद (गुजरात)

—बाबूलाल सिद्धसेन जैन



नमः सिद्धेभ्यः श्रीमत्पूज्यपादस्वामि-विरचित



श्रीपण्डित-आशाधरकृत संस्कृतटीका

और

भाषानुवाद सहित

0

उत्थानिका

टीकाकारका संगलाचरण।

परमात्मानमानस्य, मुमुक्षुः स्वात्मसंविदे । इष्टोपदेशमाचष्टे, स्वशक्त्याशाधरः स्फुटम् ॥

तत्रादी यो यद्गुणार्थी स तद्गुणोपेतं पुरुपित्ररोप नमस्करोतीति परमारमगुणार्थी सन्यकर्ता परमारमानं नमस्करोति, तद्यया;—

जो जिस गुणको चाहनेवाला हुआ करता है वह उस उस गुण सम्पन्न पुरुष विशेषको नम-स्कार किया करता है। यह एक सामान्य सिद्धान्त है। परमात्माके गुणोको चाहनेवाले ग्रन्थकार पूज्यपादस्वामी है, अतः सर्वप्रथम वे परमात्माको नमस्कार करते हैं।

> मूलग्रन्थकर्ताका मंगलाचरण । श्लोक—यस्य स्वयं स्वभावाप्तिरभावे कृत्स्नकर्मणः । तस्मै संज्ञानरूपाय नमोऽस्तु परमात्मने ॥ १ ॥

अन्वय—यस्य क्रुत्स्नकर्मणः अभावे स्वयं स्वभावाप्तिः तस्मै संज्ञानरूपाय परमात्मने नमः अस्तु ।

टोका — अस्तु भवतु । कि तन्तमः नमस्कारः । कस्मै, तस्मै परमात्मने । परमः वेनाघ्येयाप्रहेयातिशय-त्वात्सकलसंसारिजोवेम्यः उत्कृष्ट वात्मा चेतनः परमात्मा तस्मै । किविशिष्टाय, सज्ञानरूपाय सम्यसकलार्थ-साक्षात्कारित्वादितदत्यन्तसूक्ष्मत्वादोनामपि लाभात्कर्महन्तृत्वादेरिप विकारस्य त्यागाच्च संपूर्णज्ञानं स्वपराव-वोधस्तदेव रूपं यस्य तस्मै । एवमाराघ्यस्वरूपमुक्तवा तत्त्राप्यूपायमाह । यस्याभूत्कासौ स्वभावाप्तिः स्वभावस्य

१. धनारोपि अप्रतिहत ।

निर्मलनिश्चलनिद्रपुरमः आप्तिलंबियः कथींचलादात्म्यपरिणतिः। कृतकृत्यतया स्वरूपेऽवस्यितिरित्ययं तेन, स्वयं संपूर्णरत्नवयात्मनारमना । क्य सति, अभावे शिवतस्पतया विनाशे । कस्य, कृत्स्नकर्मणः । कृत्स्नस्य सकलस्य द्रव्यंभावरूपस्य कर्मणः आत्मपारतन्व्यनिमित्तस्य ॥ १॥

अय जिज्यः प्राह् स्वस्य स्वयं स्वरूपोवलिवः कथमिति । स्वस्यारमनः स्वयमारमना स्वरूपस्य सम्यवस्वादिः गुणाएकाभिज्यवित्तरूपस्य उपलिव्यः कथ केनोपायेन दृष्टान्ताभावादिति । अत्राचार्यः समाघतं;—

अर्थ--जिसको सम्पूर्ण कर्मोके अभाव होनेपर स्वयं ही स्वभावकी प्राप्ति हो गई है, उस सम्यक्जानरूप परमात्माको नमस्कार हो।

विश्रदार्थं —िजसे आत्माकी परतन्त्रता (पराधीनता) के कारणभूत द्रव्य एवं मानस्य समस्त कर्मोके, सम्पूर्ण रत्नत्रयात्मक स्वरूपके द्वारा, सर्वथा नष्ट हो जानेसे निर्मल निश्चल चैतन्य- रूप स्वभाव (कथंचित् तादात्म्य परिणित) की प्राप्ति हो गई है, उस सम्पूर्ण ज्ञानस्वरूप श्रात्माको जो कि मुख्य एवं अप्रतिहृत अतिशयवाला होनेसे समस्त सासारिक प्राणियोसे उत्कृष्ट है, नमस्कार हो ॥ १ ॥

दोहा--स्वयं कर्म सब नाज्ञ करि, प्रगटायो निजभाव । परमातम सर्वज्ञको, बंदो करि जुभ भाव ॥१॥

"स्वयं स्वभावाप्ति" इस पदको सुन शिष्य बोला—िक "आत्माको स्वयं ही सम्यक्त आदिक अष्ट गुणोको अभिव्यक्तिरूप स्वरूपकी उपरुच्धि (प्राप्ति) कैसे (किस उपायसे) हो जाती है ? क्योकि स्व-स्वरूपकी स्वय प्राप्तिको सिद्ध करनेवाला कोई दृष्टान्त नही पाया जाता है, और विना दृष्टान्तके उपरिज्ञितित कथनको कैसे ठीक माना जा सकता है ? आचार्य इस विवयमे समाधान करते हुए लिखते है कि —

योग्योपादानयोगेन, दृपदः स्वर्णता मता । द्रव्यादिस्वादिमंपत्तावात्मनोऽध्यात्मता सता ॥ २ ॥

अन्वय—(यथा) योग्योपादानयोगेन दृषदः स्वर्णता मता (तथा) आत्मनः अपि द्रव्यादि-स्वादिसम्पत्ती आत्मता मता ।

टोका - मता अभिग्रेता लोकैः । कासी, स्वर्णता सुवर्णभावः । कस्य, वृषदः सुवर्णीवर्भावयोग्यापाणस्य । केत, योग्याना सुवर्णपरिणामकरणोचितानामुपादानाना कारणाचा योगेन मेलापकेन संपर्ध्या यथा । एवमात्मनोऽपि पुरुषस्यापि न केवल वृषद इत्यविश्वव्यार्थं । मता कथिता । कासी, आस्मता । आस्मनो जीवस्य भावो
निर्मलनिष्वलचैतन्यं । कस्या सत्या, द्रव्यादिस्यादिसंपत्ती द्रत्यमन्वयिभावः आदिर्येषा क्षेत्रकालभावाना ते च ते
स्वादयश्च सुशक्दः स्वरावदो वा आदिर्येषा ते स्वादयो द्रव्यवश्च स्वादयश्च । इच्छातो विश्वेषणिविशेष्यभाव
इति समासः । सुश्व्य सुक्षेत्र सुकालः सुभाव इत्यर्थः । सुशब्दः प्रशंसार्थः । प्राश्वस्यं चात्र प्रकृतकार्योपयोगित्वं
द्रव्यादिस्वादीमां संपत्तिः सप्वर्णता, तस्या सत्याम् ।

लय निष्य प्राह्न-त्रिहं त्रतादीनामानयंवयमिति । भगवन् यदि सुद्रन्यदिसामन्या सत्यामेनायमात्मा स्वात्मानमुपळ्य्यते तर्हि त्रतानि हिंसाविरत्यादीनि आदयो येपा समित्यादीना तेपामानर्थवयं निष्फलत्नं त्यारीभ-प्रतोया. स्वात्मोपळच्ये सुद्रव्यादिसंपत्त्यपेक्षत्वादित्यर्थः । अनानायों निपेषमाह्-तत्नेति । वस्त । यस्तव्या

१ ज्ञानावरणादिद्रव्यकर्माणि, रागद्देपादयो भावकर्माणि । २ मेलापकेन । ३ कस्या सामन्त्र्या विद्यमानायाम् । ४ प्रारब्धकार्यसाधकत्वम् । ५. वाञ्चितायाः ।

ाह्नितं ब्रतादोनामानर्ववयं तन्त भवति । तेषामपूर्वशुभकर्मनिरोधेनोपाजितायुभकर्मेकदेशक्षपणेन च सफलत्वात्त-इपयरागरुक्षणयूर्भोषयोगजनितपुण्यस्य च स्वगीटिपदप्राप्तिनिमित्तस्यादेव च व्यवती कर्त्तुं विक्तः — ॥ २ ॥

अर्थ-योग्य उपादान कारणके संयोगसे जैसे पाषाणिवशेष स्वर्ण वन जाता है, वैसे ही मुद्रव्य मुक्षेत्र आदि रूप सामग्रीके मिलनेपर जीव भी चैतन्यस्वरूप आत्मा हो जाता है।

विज्ञादार्य —योग्य (कार्योत्पादनसमर्थ) उपादान कारणके मिलनेसे पापाणविज्ञेष-जिसमें पुत्रणंरूप परिणमने (होने) की योग्यता पाई जाती है वह जैसे स्वर्ण वन जाता है, वैसे ही अच्छे प्रकृत कार्यके लिए उपयोगी) द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावोंकी सम्पूर्णता होनेपर जीव (संसारी प्रारा) निञ्चल चैतन्यस्वरूप हो जाता है। दूसरे शब्दोंमें, ससारी प्राणी जीवात्मासे परमात्मा प्रन जाता है।

. दोहा—स्वर्ण पाषाण सुहेतु से, स्वयं कनक हो जाय । सुद्रव्यादि चारों मिलें, लाप शुद्धता थाय ॥ २ ॥

शंका—इस कथनको सुन शिब्य बोला कि भगवन् ! यदि अच्छे द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावरूप भामग्रीके मिलनेसे ही आत्मा स्व स्वरूपको प्राप्त कर लेता है, तव फिर वृत समिति आदिका पालन करना निष्कल (निर्यंक) हो जायगा। ब्रतोंका परिपालन कर व्यर्थमें ही शरीरको कष्ट देनेसे वृता लाभ ?

समाधान—आचार्य उत्तर देते हुए वोले—हे वत्स ! जो तुमने यह जना की है कि ब्रतादि-कोका परिवालन निरर्थंक हो जायगा, सो वात नहीं है, कारण कि वे ब्रतादिक नवीन गुभ कर्मोंके वसके कारण होनेसे, तथा पूर्वोपाजित अग्रुभ कर्मोंक एकदेश क्षयके कारण होनेसे सफल एवं सार्थंक है। इतना ही नहीं किन्तु व्रतसम्बन्धी अनुरागलक्षणरूप गुभोपयोग होनेसे पुण्यकी उत्पत्ति होती है। और वह पुष्य स्वर्गादिक पदोंकी प्राप्तिक लिए निमित्त कारण होता है। इसलिय भी ब्रतादिकों-का आचरण सार्थंक है। इसी वातको प्रगट करनेके लिए आचार्य आगेका ब्लोक कहते है—॥२॥

वरं व्रते: पदं देवं, नाव्रतेवंत नारकं। छायातपस्ययोभेंदः, प्रतिपालयतोर्महान् ॥ ३ ॥

अन्यय—प्रतैः देवं पद वरं, वत अन्नतैः नारकं पर्दं न वरं प्रतिपाळयतोः छायातपस्थयोः महान् भेदः (अस्ति) ।

टीका—परं भवत् । कि तत् ? पद स्वावं । किविनिष्टं, वैश्वं देवानामिदं दैवं स्वर्णः । केहॅतुभिर्मतैर्वंतादिविवयनगण्डीततपुष्यैः तेवा स्वर्गदिषदास्युव्यतिष्ट्यस्यतंवेत सक्छलनसुप्रतिग्रस्तात् । तर्स्वं वरकात्वयपि नघाविद्याति भविष्याद्यीत्वाम्य्यम् । नेत्वादि । त यरं भवति । कि तत् ? पदं । किविनिष्टं, नारकं नरकसंवित्य ।
के. अवते दिसादिविष्यामयनित पातकः । वर्गति गरेदं कष्टे वा । तहि प्रताप्रतिमित्तवोशि देवनारवयधाः
सामां भविष्यतिराधाद्यामा नयोर्गत्वरस्तिति दृष्टास्तेन प्रत्यदमप्ताह—स्वीवतिष्टं । भवति । कोष्ट्यो ? भेदः
पातवरं । विविविद्यां, महान् वृत्त् । वयोः पिषयमे । कि वृत्वतीः, स्वार्णवयान्त्यरान्त्रमर्ति तृतीय स्ववार्षित्रमामयन्त्रम् वर्षि प्रतिवायव्यवः प्रतीयमापयोः। विविविद्ययोः सत्तोद्यावायवस्ययोः। स्वाय आववस्य
स्वात्रतीयको । स्वत्याः । स्वमस्यां, ययैव स्वायाम्यत्रम् विविविद्ययोः सत्तोद्यावायस्यस्याः। स्वायम्यद्यस्यस्यस्यस्यः।
स्वत्यतिक्षयोः स्वतिक्षयः स्वादिः स्वतिम्यद्यस्य । स्वयत्याः मृक्तिक्षयः वायस्यविद्यस्यस्य वर्षाः वर्षाः।

भगवन्नैवं चिरभाविमोक्षमुखस्य ब्रासाध्ये ससारमुखे सिद्धे सत्यात्मिन चिद्रूपे भनितर्भाविनित्रुद्ध आन्तरोऽनुरागो अयुक्ता अनुपान्ना स्याद्भवेत् तत्सान्यस्य मोक्षसुखस्य सुद्रन्यादिसंपत्त्यपेक्षया दूरवर्तित्वादवान्तरप्राप्यस्य च स्वगोदिसुखस्य व्रतैकसान्यत्वात् । अत्राप्याचार्यः समाधत्ते —तदिष नेति । न केवल व्रतादोनामानर्थवय भवेत् । कि तिह्नं, तदप्यात्मभक्तचनुपैपत्तिप्रकाशनमपि त्वया क्रियमाणं न साधु स्यादित्यर्थं । यतः—।। ३ ॥

अर्थ-व्यतोके द्वारा देव-पद प्राप्त करना अच्छा है, किन्तु अव्रतोके द्वारा नरक-पद प्राप्त करना अच्छा नही है। जैसे छाया और धूपमे बैठनेवालोंमे अन्तर पाया जाता है, वैसे ही व्रत और अव्रतके आचरण व पालन करनेवालोमे फर्क पाया जाता है।

विश्वदार्थ—अपने कार्यंके वशसे नगरके भीतर गये हुए तथा वहाँसे वािपस आनेवाले अपने तीसरे साधीकी मार्गमें प्रतीक्षा करनेवाले जिनमेसे एक तो छायामें वैठा हुआ है, और दूसरा घृपमे वैठा हुआ है-दो व्यक्तियोमे जैसे बडा भारी अन्तर है, अर्थात् छायामें वैठनेवाला तीसरे पुरुषके आनेतक सुखसे वैठा रहता है, और घूपमे वैठनेवाला दु.खके साथ समय व्यतीत करता रहता है। उसी तरह जवतक जीवको मुक्तिके कारणभूत अच्छे द्रव्य, क्षेत्र, काल भाव आदिक प्राप्त होते है, तबतक व्रतादिकोंका आवरण करनेवाला स्वर्गादिक स्थानोमे आनन्दके साथ रहता है। दूसरा व्रतादिकोंको न पालता हुआ असयमी पुरुष नरकादिक स्थानोमे दुःख भोगता रहता है। अतः व्रतादिकोंका परिपालन निरर्थंक नहीं, अपि तु सार्थंक है।

दोहा—मित्र राह देखत खड़े, इक छाया इक धूप। व्रतपालनसे देवपद, अव्रत दुर्गति कूप॥३॥

शंका—यहाँपर शिष्य पुनः प्रश्न करता हुआ कहता है—"यदि उपरिलिखित कथनको मान्य किया जायगा, तो चिद्रूप आत्मामे भिन्त भाव (विशुद्ध अतरंग अनुराग) करना अयुक्त ही हो जायगा? कारण कि आत्मानुरागसे होनेवाला मोक्षरूपी मुख तो योग्य द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावादिरूप सम्पत्तिकी प्राप्तिकी अपेक्षा रखनेके कारण बहुत दूर हो जायगा और वीचमें ही मिलनेवाला स्वर्गादि-सुख ब्रतोके साहाय्यसे मिल जायगा। तव फिर आत्मानुराग करनेसे क्या लाभ? अर्थात् सुखार्थी साधारण जन आत्मानुरागकी ओर आकर्षित न होते हुए ब्रतादिकोकी ओर ही अधिक झुक जायगे।

समाधान—शकाका निराकरण करते हुए आचार्य बोले, "व्रतादिकोका आचरण करना निरर्थक नहीं है।" (अर्थात् सार्थक है) इतनी ही बात नहीं किन्तु आत्म-मक्तिको अयुक्त बतलाना भी ठीक नहीं है। इसी कथनकी पुष्टि करते हुए आगे क्लोक लिखते हैं:—।। ३॥

यत्र भावः शिवं दत्ते, द्यौः कियद्द्र्वर्तिनी । यो नयत्याशु गन्यूर्ति, क्रोशार्घे किं स सीदिति ? ॥ ४ ॥

अन्वय—यत्र भावः शिव दत्ते तत्र ची कियद्दूरवर्तिनी, य गब्यूर्ति आगु नयित सः कि क्रोशार्धे सीदित ? ।

टोका — यत्रात्मिन विषये प्रणिधाने भाव. कर्ता दत्ते प्रयच्छति । कि तच्छिय मोझ', मायकाय भव्यायेति शेष । तस्यात्मविषययस्य शिवदानसमर्यस्य भावस्य खौ स्त्रर्गः कियद् र्वितनो कियद् रे किपरिमाणे व्यवहितदेशे

१. मध्यलम्यस्य । २. अयुनितः ।

वर्तते ? निकट एव तिष्ठतीत्यर्थः । स्वात्मव्यानोपात्तपुण्यस्य तदेकफलत्वात् । तथा चीक्तं-

"भुरुपदेशमासाद्य ब्यायमानः समाहितैः । अनन्तशिन्तरात्मायं भृतित स्य यच्छिति ॥ १९६ ॥ व्यायोतोर्ह्त्सिद्धरूपेण चरमाङ्गस्य मुक्तये । तद्व्यानोपात्तपुण्यस्य स एवान्यस्य भुक्तये" ॥ १९७ ॥ (तत्त्वानुशासन)

अमुमेनार्थं दृष्टान्तेन स्पष्टयन्ताह्—य इत्यादि । यो वाहीको नयिति, प्रापयिति । किं, स्ववाह्यं भारं । का, गव्यूर्ति क्रोश्ययुगं । कथम्, आशु बीद्यं । सिंक क्रोशार्थे स्वभार नयन् सीदिति खिद्यते ? नि खिद्यत इत्यर्थः । महाशक्तावरूपशक्तेः सुघटत्वात् ।

अर्थैवमात्मभनतेः स्वर्गगतिसाधनत्वेऽपि समिथते प्रतिर्वाद्यस्तत्कलजिज्ञासया वृण्णित—स्वर्गे गताना कि फलमिति ? स्पष्टं गुरुरत्तरपति—।। ४ ॥

अर्थ--आरमामें लगा हुआ जो परिणाम भव्य प्राणियोको मोक्ष प्रदान करता है, उस मोक्ष देनेमें समर्थ आत्मपरिणामके लिये स्वर्ग कितना दूर है ? न कुछ । वह तो उसके निकट ही समझो । अर्थात् स्वर्ग तो स्वात्मध्यानसे पैदा किये पुण्यका एक फलमात्र है । ऐसा ही कथन अन्य ग्रन्थोंमें भी पाया जाता है । तत्त्वानुशासनमें कहा है :—' गुरुपदेशमासाद्य॰"

"गुरुके उपदेशको प्राप्त कर सावधान हुए प्राणियोंके द्वारा चिन्तवन किया गया यह अनन्त शक्तिवाला आत्मा चितवन करनेवालेको भुक्ति और मुक्ति प्रदान करता है। इस आत्माको अरहंत और सिद्धके रूपमे चितवन किया जाय तो यह चरमशरीरीको मुक्ति प्रदान करता है और यदि चरमशरीरी न हो तो उसे वह आत्म-ध्यानसे उपाजित पुण्यको सहायतासे भुक्ति (स्वर्ग चक्रवर्त्यादिके भोगों) को प्रदान करनेवाला होता है।"

श्लोककी नीचेकी पंक्तिमें उपरिलिखित भावकी दृष्टान्त द्वारा समझाते है-

देखो जो भारको ढोनेवाला अपने भारको दो कोसतक आसानी और शीघ्रताके साथ ले जा सकता है, तो क्या वह अपने भारको आधा कोस ले जाते हुए खिन्न होगा? नही । भारको ले जाते हुए खिन्न न होगा। बडी शक्तिके रहने या पाये जानेपर अल्य शक्तिका पाया जाना तो सहज (स्वाभाविक) ही है।

दोहा—आत्मभाव यदि मोक्षप्रद, स्वर्ग है कितनी दूर। दोय कोस जो ले चले, आध कोस सुख पूर॥४॥

इस प्रकारसे आत्म-भक्तिको जब कि स्वर्ग-सुखोका कारण बतला दिया गया तब शिष्य पुनः कुतूहलको निवृत्तिके लिये पूछता है कि ''स्वर्गमें जानेवालोको क्या फल मिलता है ?''॥ ४॥

आचार्य इसका स्पष्ट रीतिसे उत्तर देते हुए लिखते है—

हृपीकजमनातङ्कं दोर्घकालोपलालितम् । नाके नाकोकसां सौरूयं, नाके नाकोकसामिव ॥ ५ ॥

अन्वय—नाके नाकौकसां हृषीकजं अनातङ्कं दीर्घकालोपलालित सौख्यं नाके नाकोक-सामिव (भवित)।

१. वाह्य। २. शिष्यः। ३. ज्ञातुमिच्छया।

टीफा—वरस वस्ति । किं तत्, सीख्यं वर्म । केपा, नाकीकसा देवानां न पुनः स्वर्गेऽपि जातानामेकेन्द्रियाणाम् । वत्र वसता, नाके स्वर्गे । न पुन क्षीडादिवशाद्रमणीयपर्वतादो । किमतीन्द्रियं तत् नेत्याह्—
हृपीकजं हृपीकेम्य समीहितानन्तरमुपस्थितं निर्ज निर्ज विषयमनुभवद्भधः स्वर्गनादोन्द्रियेम्यः सर्वाङ्गीणां व्हादनाकारतया प्रादुभूतं । तथा राज्यादिसुखवत् सातङ्कः भविष्यतीरयाशङ्कापनोदार्थमाह—अनातङ्कः, न विद्यते आतंकः प्रतिपक्षादिकृतिक्तिकाभो यत्र । तथापि भोगभूमिजमुखवदन्पकालगोय्यं भविष्यतीरयाशकायामाह—
दीर्घकालोपलालिनं दीर्घकाल सागरोपमवरिक्छिन्नकालं यावदुपलालितमाज्ञाविधेयेदेवदेवीस्वविलासिनीभिः
क्रियमाणोपचारत्वा दुक्वपं प्रापितम् । तिहं वव केपामिच तिदरयाह्, नाके नाकौकसामिच स्वर्गे देवाना यथा
अनन्योपममित्यर्थ । अत्र शिष्यः प्रत्यैवितिष्ठते—यदि स्वर्गेऽपि सुखमुद्धुष्टं किमपवर्गप्रार्थनयति । भगवन्
यदि स्वर्गेऽपि न केवलमपवर्गे सुखमस्ति । कोद्यम् ? उत्कृष्टं मत्यादिसुखातिशायि तिहं किं कार्यं ? कया,
अपवर्गस्य मोक्षस्य प्रार्थनया—व्यववर्गो में भूयादित्यभिलापेण ॥ ५॥

एवं च संसारसुखे एव निर्वन्धं कुर्वन्तं प्रवोद्यं तत्सुखदुःखस्य आन्तत्वप्रकाशनाय आचार्य प्रवोधयति ।---

अर्थ—स्वर्गमे निवास करनेवाले जीवोंको स्वर्गमें वैसा ही सुख होता है, जैसा कि स्वर्गमें रहनेवालो (देवो) को हुआ करता है, अर्थात् स्वर्गमें रहनेवाले देवोका ऐसा अनुपमेय (उपमा रहित) सुख हुआ करता है कि उस सरीखा अन्य सुख वतलाना कठिन हो है। वह सुख इन्द्रियोक्से पैदा होनेवाला आतकसे रहित और दीर्घ कालतक बना रहनेवाला होता है।

विद्यार्थ – हे वालक ! स्वर्गमें निवास करनेवालोको न कि स्वर्गमें पैदा होनेवाले एकेन्द्रियादि जीवोको । स्वर्गमें, न कि क्रीडादिकके वश्चसे रमणोक पर्वतादिकमें ऐसा सुख होता है, जो चाहमेंके अनन्तर ही अपने विषयको अनुभव करनेवाली स्वर्शनादिक इन्द्रियोसे सर्वागीण हर्षके रूपमें उत्पन्न हो जाता है । तथा जो आतक (शत्रु आदिकोके द्वारा किये गये चित्तक्षोभ) से भी रहित होता है, अर्थात् वह सुख राज्यादिकके सुखके समान आतकसहित नहीं होता है । वह सुख भोगभूमिमे उत्पन्न हुए सुखकी तरह थोडे कालपर्यन्त भोगनेमें आनेवाला भी नहीं है । वह तो उल्टा, सागरीपम कालतक, आज्ञामे रहनेवाले देव देवियोके द्वारा की गई सेवाओसे समय समय बढा चढा ही पाया जाता है ।

'स्वर्गमे निवास करनेवाले प्राणियोका (देवोंको) सुख स्वर्गवासी देवोके समान ही हुआ करता है।' इस प्रकारसे कहने या वर्णन करनेका प्रयोजन यही है कि वह सुख अनन्योपम है। अर्थात् उसकी उपमा किसी दूसरेको नहीं दी जा सकती है। लोकमे भी जब किसी चोजकी अति हो जाती है, तो उसके द्योतन करनेके लिए ऐसा हो कथन किया जाता है, जैसे "भैया। राम रावणका युद्ध तो राम रावणके युद्ध समान ही था। रामरावणयोर्युद्ध रामरावणयोरिव।'

अर्थात्, इस पक्तिमे युद्ध सम्बन्धी भयंकरताको पराकाष्ठाको जैसा द्योतित किया गया है। ऐसा ही सुखके विषयमे समझना चाहिये॥ ५॥

> दोहा—इन्द्रियजन्य निरोगमय, दीर्घकाल तक भोग्य । स्वर्गवासि देवानिको, सुख उनहीके योग्य ॥५॥

शंका—इम समाधानको सुन शिष्यको पुन शंका हुई और वह कहने लगा—"भगवन् ।

१ सर्वमङ्गं व्योप्नोति । २ आदेशवशर्वात । ३ सेवा । ४ पूर्वपक्षं करोति । ५ हठम् । ६ शिष्यम् ।

न केवल मोक्षमें, किन्तु यदि स्वर्गमें भी, मनुष्यादिकोसे वढकर उत्क्रष्ट मुख पाया जाता है, तो फिर "मुद्दो मोक्षकी प्राप्ति हो जावे" इस प्रकारकी प्रार्थना करनेसे बया लाग ?"

संनार सम्बन्धी मुलमें ही गुलका आगृह करनेवाले शिष्यको 'संसार मम्बन्धी मुख और दुःख भ्रान्त हैं।' यह वात बतलानेके लिये आचार्य आगे लिखा हुआ रलोक कहते हैं---

वासनामात्रमेवंतत् सुखं दुःखं च देहिनाम् । तथा ह्युद्वेजयन्त्येते, भोगा रोगा इवापदि ॥ ६ ॥

अन्वय—देहिनां मुर्गः दुःवं च वसनामात्रम् एव । तथाहि, एतं भोगा आपदि रोगा इव उद्देजयन्ति ।

द्यान-एनत् प्रतीयमानमैदियम् गृतं दुःगं चान्ति । कीवृयं वाननामात्रमेय जीवरयोपकारकरवापकारकरवाभिव परमार्गतो वेहादाकृष्यंणीय तरवानवयोपादि ममेष्टमुपकारकरवादिदं पानिष्टमपकारकरवादिति विश्रमाण्यातः संस्कारो वासमा उप्टानिष्टार्थानुश्रवानग्वरमुद्दभूतः स्वसंवेय आभिमानिकः परिणामः । वानन्त्व, न ग्वाभाविकवात्सस्यम्यभित्यवययेग्ववच्छेत्रार्थो मात्र इति स्वयोगव्यवर्थापकः चैवदादः ।
केवामेतदेयंभूतमस्त्रीरवाह् । वेहिना देह् एवास्मरवेन गृद्धमाणोस्त्रीति वेहिनो विह्ररात्मानस्तेषाम् । एतदेव
समर्पवितुमाह-—जवाहीस्यादि । उवनार्थतमर्थनार्थस्यभाविम्मुगा इन्द्रियाया । के इव, रोगा इव उवरादिव्याययो
यया । कस्यां सत्याम् ? व्यावदि दुनिवारयेरिप्रभृतिसंवादितद्यौर्मनस्यव्याणायि विषदि । तथा चोवतम् — "मुद्धाङ्गी
स्वयस्यक्ष्टं विष मुतोष्यकाश्य विद्भात्यदो, दूरे येहि न हृष्य एप किमभूरन्या न वेहिन क्षणम् । स्वयं चेदि
निष्दि गामिति वयोयोगे हियः स्त्री विवन्त्यास्क्षेपक्षमुकांमरामछित्वालापैविधित्तु रितम् ॥'' विष् च "रस्यं
हर्म्य चन्त्वनं चन्द्रवादा, वेणुर्वीया योवनस्या मुवत्यः । नित रस्या क्षुतिवासाहितानां सर्वारम्भास्तन्युकाःप्रस्थमूनाः ॥''

त्या । जातपे वृतिमता सह वच्या यामिनीविरहिणा विह्तेन । हेहिरे न किरणा हिमरश्मेर्दुं.विते मनित सर्वमनहामित्यादि । अतो ज्ञायते ऐन्द्रियकं सुरां वासनामानमेवः नात्मनः स्वाभाविकमाकुलत्वस्व-भावम् । कथमन्यवा छोके मुखजनकर्वेन प्रतीतानामिष भावाना दुःग्रहेतुत्वम् । एवं दुःगमिष् । अत्राह पुनः विष्यः—एते सृगदुःगे स्कृ वामनामाने, कथं न छथ्यते इति । एव्विति वाक्याछंकारे निश्चये वा । कथं केन प्रकारेण न छथ्यते न सवेग्रेते, लोकरिति दोषः । दोषं राष्ट्रम् ॥ ६ ॥

अत्राचार्यः प्रवोधयति--

अर्थ-वेहधारियोंको जो सुख और दुःख होता है, वह केवल करपना (नासना या संस्कार) जन्य ही है। देखो ! जिन्हे लोकमें सुख पैदा करनेवाला समझा जाता है, ऐसे कमनीय कामिनी आदिक भोग भी आपित (दुनिवार, शत्रु आदिके द्वारा को गई वेचेनी) के समयमें रोगो (ज्वरा-दिक व्याधियो) को तरह प्राणियोंको आकुलता पैदा करनेवाले होते हैं। यही बात सासारिक प्राणियोंके सुख-दु ख़के सम्बन्धमें है।

विवादार्थ-पे प्रतीत (मालूम) होनेवाले जितने इद्रियजन्य सुख व दु:ख है, वे सव वासनामात्र हो है। देहादिक पदार्थ न जीवके उपकारक ही है और न अपकारक ही। अतः परमार्थंसे वे (पदार्थ) उपेक्षणीय ही है। किंतु तत्त्वज्ञान न होनेके कारण-यह मेरे लिये इच्ट

१ त्यजनीये।

है—उपकारक होनेसे' तथा 'यह मेरे लिये अनिष्ट है—अपकारक होनेसे।' ऐसे विभ्रमसे उत्पन्न हुए सस्कार जिन्हे वासना भी कहते हैं—इस जीवके हुआ करते हैं। अतः ये सुख दुःख विभ्रमसे उत्पन्न हुए सस्कारमात्र ही है, स्वाभाविक नहीं। ये सुख दुःख उन्होंको होते हैं जो देहको हो आत्मा माने रहने हैं। ऐसा ही कथन अन्यत्र भी पाया जाता है—''मुचाग''

अर्थ—इस श्लोकमें दम्पतियुगलक वार्तालापका उल्लेख कर यह बतलाया गया है कि वे विषय जो पहिले अच्छे मालूम होते थे, वे ही मनके दु:खी होनेपर वुरे मालूम होते हैं। यहना इस प्रकार है—पति-पत्नी दोनो परस्परमे सुख मान, लेटे हुए थे कि पति किसी कारणसे चितित हो गया। पत्नी पितसे आलिगन करनेकी इच्छासे अंगोको चलाने और रागयुक गचनालाप करनेलगी। किन्तु पति जो कि चितित था, कहने लगा 'मेरे अंगो को छोड, तू मुझे संताप पैदा करनेवाली है। हट जा। तेरी इन क्रियाओंसे मेरी छातीमें पीड़ा होती है। दूर हो जा। मुझे तेरी चेट्टाओसे विलकुल हो आनन्द या हुएँ नहीं हो रहा है।" "रम्यं हम्यं"

रमणीक महल, चन्दन, चन्द्रमाकी किरणें (चांदनी), वेणु, वीणा तथा यौवनवती युव-त्तियाँ (स्त्रियाँ) आदि योग्य पदार्थ भूख-प्याससे सताये हुए व्यक्तियोंको अच्छे नही लगते। ठीक भी है, अरे। सारे ठाटवाट सेरभर चाँवलोके रहनेपर ही हो सकते हैं। अर्थात् पेटभर खानेके लिए यदि अन्न मौजूद है, तब तो सभी कुछ अच्छा ही अच्छा लगता है। अन्यथा (यदि भरपेट खानेको न हुआ तो) सुन्दर एवं मनोहर गिने जानेवाले पदार्थ भी बुरे लगते हैं। इसी तरह और भी कहा है —

"एक पक्षी (चिरवा) जो कि अपनी प्यारी चिरैयाके साथ रह रहा था, उसे धूपमें रहते हुए भी सतोप और सुख मालूम देता था। रातके समय जब वह अपनी चिरैयासे बिछुड़ गया, तब शीतल किरणवाले चन्द्रमाको किरणोको भी सहन (बरदाक्त) न कर सका। उसे चिरैयाके वियोगमे चन्द्रमाको ठंडी किरणे सन्ताप व दुःख देनेवाली ही प्रतीत होने लगी। ठोक ही है, मनके दुःखी होनेपर सभी कुछ असहा हो जाता है, कुछ भी भला या अच्छा नहीं मालूम होता।"

इन सबसे मालूम पड़ता है कि इन्द्रियोसे पैदा होनेवाला सुख वासनामात्र ही है। आत्माका स्वाभाविक एवं अनाकुलतारूप सुख वासनामात्र नहीं है, वह तो वास्तविक है। यदि इन्द्रियजन्य सुख वासनामात्र-विभ्रमजन्य न होता तो ससारमें जो पदार्थ सुखके पैदा करनेवाले माने गये है वे ही दु:खके कारण कैसे हो जाते ? अत. निष्कर्ष निकला कि देहधास्योका सुख केवल काल्पनिक हो है और इसी प्रकार उनका दु ख भी काल्पनिक है॥ ६॥

दोहा—विषयो सुख दुःख मानते, है बज्ञान प्रसाद । भोग रोगवत् कष्टमें, तन मन करत विषाद ॥ ६ ॥

हांका—ऐसा सुन शिष्य पुनः कहने लगा कि "यदि ये सुख और दु.ख वासनामात्र ही हैं तो वे लोगोको जसी रूपमे क्यो नहीं मालूम पडते हैं ? आचार्य समझाते हुए बोलें—

मोहेन संवृतं ज्ञानं, स्वभावं रूभते न हि । मत्तः पुमान् पदार्थानां यथा मदनकोद्रवैः ॥ ७ ॥

अन्वय—हि मोहेन संवृत ज्ञानं तथैव स्वभावं न लभते यथा मदनकोद्रवैः मत्तः पुमान् पदा-र्थानां स्वभावं न लभते । टोका—न हि नैव लभते परिच्छिति धातुनामनेकार्यस्वारूलभेक्षांनिष वृत्तिस्तथा च लोको विक्त यथास्य चित्त लब्बिमिति । किं तत् कर्तुं, ज्ञानं धर्मधिमणीः, कथित्तादात्म्यादथँग्रहणव्यापारपरिणत आत्मा । कं, स्वभावं स्वोऽसाधारणो अन्योऽन्यव्यतिकरे सत्यपि व्यवस्यन्तरेम्यो विविक्षतार्थस्य व्यावृत्तप्रस्ययहेतुर्भावो धर्मः स्वभावस्तम् । केपाम्, पदार्थाना सुखदुःखशरीरादीनाम् किविशिष्टं सत् ज्ञानं, संवृतं प्रच्छादित वस्तुया-थात्म्यप्रकाशने अभिमृत्तसामर्थम् । केन, मोहेन मोहनीयकर्मणो विपाकेन । तथा चोवतम्—"मलविद्यमणे-वर्यस्वप्रकाशने तकप्रकारतः । कम्मविद्धात्मविज्ञसिस्तथा नैकप्रकारतः ॥ (लघीयस्त्रये)

नन्त्रमूर्तस्थात्मनः कथं मूर्तेन कर्मणाभिभवो युनतः इत्यत्राह—मत्त इत्यादि । यथा नैव लभते । कोडती, पुमान् व्यवहारी पुष्रपः । कं, पदार्थाना घटपटादीनां स्वभावम् । किविशिष्ट सन्, मत्तः जनितमदः । कैर्मदन-कोद्रवै: । पुनराचार्य एव प्राह, विरायक इत्यादि । यावत् स्वभावमनासादयन् विसन्शान्यवगच्छतीति । शरीरा-दीनां स्वरूपमलभमानः पुष्रपः शरीरादीनि अन्ययामूतानि प्रतिपद्यत इत्यर्थः । अमुमेवार्थं स्फुटयिति;—

अर्थ —मोहसे ढका हुआ ज्ञान, वास्तिविक स्वरूपको वैसे ही नही जान पाता है, जैसे िक मद पैदा करनेवाले कोद्रव (कोदो) के खानेसे नहील — वे-खबर हुआ आदमी पदार्थोको ठीक-ठीक रूपसे नही जान पाता है।

विज्ञदार्थ — मोहनीयकर्मके उदयसे ढका हुआ ज्ञान वस्तुओं के यथार्थ (ठीक ठोक) स्वरूप-का प्रकाशन करनेमें दवी हुई सामर्थ्यवाला ज्ञान, सुख, दु ख, शरीर आदिक पदार्थों के स्वभावको नहीं जान पाता है। परस्परमें मेल रहनेपर भी किसी विवक्षित (खास) पदार्थको अन्य पदार्थों-से जुदा जतलानेके लिये कारणीभूत घर्मको (भावको) स्व असाधारण भाव कहते हैं। अर्थात् दो अथवा दोसे अधिक अनेक पदार्थों के बीच मिले रहनेपर भी जिस असाधारण भाव (धर्म) के द्वारा किसी खास पदार्थको अन्य पदार्थों जुदा जान सके, उसी धर्मको उस पदार्थका स्वभाव कहते हैं।

ऐसा हो अन्यत्र भी कहा है-- "मलविद्ध०"

"मल सहित मणिका प्रकाश (तेज) जैसे एक प्रकारसे न होकर अनेक प्रकारसे होता है, वैसे ही कर्मसम्बद्ध आत्माका प्रतिभास भी एक रूपसे न होकर अनेक रूपसे होता है।"

यहाँपर किसीका प्रश्न है कि-

अमूर्त्त आत्माका मूर्तिमान् कर्मोके द्वारा अभिभव (पैदा) कैसे हो सकता है ? उत्तरस्वरूप आचार्य कहते है कि—

"नशको पैदा करनेवालें कोद्रव-कोदो धान्यको खाकर जिसे नशा पैदा हो गया है, ऐसा पुरुष घट पट आदि पदार्थों के स्वभावको नही जान सकता, उसी प्रकार कर्मबद्ध आरमा पदार्थों के स्वभावको नही जान पाता है। अर्थात् आरमा व उसका ज्ञान गुण यद्यि असूत्तं है फिर भी मूर्ति-मान् कोद्रवादि धान्योसे मिलकर वह बिगड़ जाता है। उसी प्रकार असूत्तं आरमा मूर्तिमान् कर्मों के द्वारा अभिमृत हो जाता है और उसके गुण भी दवे जा सकते है। ॥७॥

शरीर आदिकोके स्वरूपको न समझता हुआ आत्मा शरीरादिकोको किसी दूसरे रूपमे ही मान वैठता है ।

दोहा—मोहकर्मके उदयसे, वस्तुस्वभाव न पात । मदकारी कोदों भखे, उल्टा जगत लखात ॥ ७ ॥ इसी अर्थको आगेके रलोकमें स्पष्टरीत्या विवेचित करते हैं— वपुर्गृहं थनं दाराः, पुत्रा मित्राणि शत्रवः । सर्वथान्यस्वभावानि, मृढः स्वानि प्रपद्यते ॥ ८ ॥

अन्वय—वपु गृह धनं दारा पुत्रा मित्राणि शत्रवः सर्वथा अन्यस्वभावानि (किन्तु) मूढ (तानि) स्वानि प्रपद्यते ।

दीका---प्रपचले । कोसी, मूढ स्वपरिविकेज्ञानहीन. पुमान् । कानि, वपुगृहादीनि वस्तुनि । किंवि शिष्टानि, स्वानि स्वश्वासमा स्वानि चारमीयानि स्वानि । एकशेषाश्रयणादेकस्य स्वश्वदस्य लोपः । अयमथों वृढतममोहािविष्टा देहािदिकमारमानं प्रपचले । आरमस्वेन । किंविशिष्टानि सिन्ति । देहािदिकमारमानं प्रपचले । आरमस्वेन । किंविशिष्टािन सिन्ति , स्वानि प्रपचल इत्याह । सर्वधान्यस्वभावािन सर्वेण द्रव्यक्षेत्रकालभावलक्षणेन प्रकारेण स्वस्वभावादन्यो भिन्न स्वभावो येषा तािन । किं किमित्याह । वपु शरीर तावदचेतनत्वादिस्वभावं प्रसिद्ध- मस्ति । एवं गृह घन दारा भार्याः पुत्राः आरम्पा मित्राणि सुहूद श्ववोऽमित्राः अत्र हितवांमुह्स्य दृष्टान्त । अत्रतेषु वपुराविष्ठ प्रवादिष्ठ सेवामुकारकाणा दारादोना वर्गो गणस्तमुद्दिश्य विषयीकृत्य दृष्टान्त स्वरहर्णं प्रदर्शते । अस्माभिरिति शेष । तद्यथा.---

अर्थ-यद्यपि शरीर, घर, घन, स्त्री, पुत्र, िनत्र, शत्रु आदि सब अन्य स्वभावको लिये हुए पर-अन्य है, परतु मूढ प्राणो मोहनीयकर्मके जालमें फँसकर इन्हें आत्माके समान मानता है।

विश्ववार्थ—स्व और परके विवेकज्ञानसे रहित पुरुष वारीर आदिक पर पदार्थोको आत्मा व आत्माके स्वरूप हो समझता रहता है। अर्थात् दृढतम मोहसे वश प्राणो देहादिकको (जो कि द्रव्य, क्षेत्र, काळ, भाव ळक्षणरूप हरेक प्रकारसे आत्म स्वभावसे भिन्न स्वभाववाळे हैं) ही आत्मा मानता है और दृढतर मोहवाळा प्राणो, उन्हीं व वैसे हो शरोरादिकको आत्मा नहीं, अपि तु आत्माके समान मानता रहता है।। ८॥

दोहा—पुत्र मित्र घर तन तिया, धन रिवु आदि पदार्थ। बिल्कुल निजसे भिन्न है, मानत मूढ़ निजार्थ॥८॥

उत्थानिका—शरीर आदिक पदार्थं जा कि मोहवान प्राणीके द्वारा उपकारक एव हितू समझे जाते हैं, वे सब कैसे हैं, इसको आगे श्लोकमे उल्लिखित दृष्टात द्वारा दिखाते हैं:—

दिग्देशेभ्यः खगा एत्य, संवसन्ति नगे नगे। स्वस्वकार्यवशाद्यान्ति, देशे दिक्षु प्रगे प्रगे॥ ९॥

अन्वय-खगा दिग्देशेभ्य एत्य नगे नगे सवसन्ति, प्रगे प्रगे स्वस्वकार्यवशात् देशे दिक्षु यान्ति ।

दीका—संवसन्ति मिलित्वा राश्चि यावित्रवासं कुर्वन्ति । के ते, खगा पक्षिण । वव वव, नगे नगे वृक्षे वृक्षे । कि कुरवा, एर्य आगस्य । केम्यो, विग्देशेम्य दिश्च. पूर्वादयो दश देशस्तस्यैकदेशो अङ्गवङ्गादय-स्तेम्योऽवधिकृतेम्य । तथा यान्ति गच्छिति । के ते, खगा । कासु, दिक्षु दिग्देशीष्त्रित प्राप्तेविपर्ययमिद्देशो गमनित्यमिनवृत्थर्यस्तैन यो यस्यामेव दिशि गच्छिति यस्य यस्मादेशादायात स तस्मिन्नेव देशे गच्छति ति नास्ति नियम. । कि तिह्नं, यत्र क्वापि यथैच्छं गच्छन्तीरयर्थ । क्समात, स्वस्वकार्यवशात् निजनिजकरणीय-

पारतन्त्र्यात् । कदा कदा, प्रगे प्रगे प्रातः प्रातः । एवं संसारिणो जीवा अपि नरकादिगतिस्थाने स्व आगत्य कुले स्वायुःकालं यावत् संभूय तिष्ठन्ति तथा निजनिजपारतन्त्र्यात् देवगत्यादिस्थानेष्वनियमेन स्वायुःकालान्ते गच्छ-न्तीति प्रतीहि । कथं भद्र तवः दारादिषु हितबुद्धचा गृहीतेषु सर्वधान्यस्वभावेषु आत्मात्मीयभावः ? यदि खल्वेतदात्मका स्युः तदा त्विय तदवस्थे एव कथमवस्थान्तरं गच्छेयुः । यदि च एते तावकाः स्युस्तिहि कथं वव प्रयोगमन्तरेणैव यत्र क्वापि प्रयान्तीति मोहप्रदावेजमपसार्थं यथावत्पस्येति दार्ष्टान्ते दर्शनीयम् । अहितवगेंऽपि दृष्टान्तः प्रदर्शते अस्माभिरिति योष्यम् ः—

अर्थ—देखो, भिन्न भिन्न दिशाओं व देशोंसे उड़ उड़कर आते हुए पिक्षगण वृक्षोपर आकर रैनबसेरा करते हैं और सबेरा होनेपर अपने अपने कार्यके वशसे जुदा जुदा दिशाओं व देशों में उड़ जाते हैं।

विश्वदार्थ — जैसे पूर्व आदिक दिशाओ एवं अग, बंग आदि विभिन्न देशोंसे उड़कर, पिक्षगण वृक्षोपर आ बैठते हैं, रात रहनेतक वही बसेरा करते है और सबेरा होनेपर अनियत दिशा व देशकी ओर उड जाते है—उनका यह नियम नहीं रहता कि जिस देशसे आये हो उसी ओर जावे । वे तो कहीसे आते है और कहीको चले जाते है—वैसे हो संसारीजीव भो नरकगत्थाविरूप स्थानोसे आकर कुलमें अपनी आयुकाल पर्यन्त रहते हुए मिल-जुलकर रहते है, और फिर अपने अपने कमींके अनुसार, आयुके अंतमें देवगत्यादि स्थानोमें चले जाते हैं। हे भद्र! जब यह बात है तब हितरूपसे समझे हुए, सर्वया अन्य स्वभाववाले स्त्री आदिकोमें तेरी आत्मा व आत्मीय बुद्धि कैसी? अरे! यदि ये शरीरादिक पदार्थ तुम्हारे स्वरूप होते तो तुम्हारे तदवस्थ रहते हुए, अवस्थान्तरोंको कैसे प्राप्त हो जाते? यदि ये तुम्हारे स्वरूप नहीं अपि तु तुम्हारे होते तो प्रयोगके विना हो ये जहाँ चाहे कैसे चले जाते? अतः मोहनीय पिशाचके आवेशको दूर हटा ठीक ठीक देखनेकी चेष्टा कर।। ९।।

दोहा —िदशा देशसे आयकर, पक्षी वृक्ष बसन्त । प्रात होत निज कार्यवश, इन्छित देश उड़न्त ॥ ९ ॥

उत्थानिका—आचार्य आगेके बलोकमें शत्रुओके प्रति होनेवाले भावोको 'ये हमारे शत्रु है' 'अहितकर्ता है' आदि अज्ञानपूर्ण बतलाते हुए उसे दृष्टान्तद्वारा समझाते है, साथ ही ऐसे भावो-को दूर करनेके लिये प्रेरणा भी करते हैं :—

विराधकः कथं हन्त्रे, जनाय परिकुप्यति । त्र्यंङ्गुलं पातयन् पद्भ्यां स्वयं दण्डेन पात्यत ॥ १० ॥

अन्वय-विराधकः कथ हन्त्रे जनाय परिकुर्यात, त्र्यङ्गुल पद्भ्यां पातगन् दण्डेन स्वयं पात्यते ।

टोका--कथिमत्यरुची, न श्रद्दधे कथं परिकुष्यति समन्तात् कुष्यति । कोऽसी, विराधक. अपकारकत्तीं जनः । कस्मै, हन्त्रे जनाय प्रत्यपकारकाय लोकाय । "सुखं वा यदि वा दुःखं, येन यश्चकृतं भृवि । अवाष्नीति स तत्तस्मादेष मार्गः सुनिव्चितः ॥"

इत्यभिधानादन्याय्यमेतदिति भावः । अत्र दृष्टान्तमाचष्टे । अड्गुलमित्यादि । पात्यते भूमौ क्षिप्यते ।

१ पराघीनतया । २ अयुक्तं ।

कोऽसी, यः कित्रवसमीक्ष्येकारी जनः । केन, दण्डेन हस्तवार्यकाष्टेन । कथं, स्वयं पारयप्रेरणसन्तरेणैय । किं कुर्वन्, पातयन् भूमिं प्रति नामयन् । किं तत्, त्र्यड्गुलं अड्गुलित्रयाकार कचावाकर्पणावयवम् । काम्यां, पद्भवां पादास्या ततोऽहिते प्रीतिरहिते चाप्रीतिः स्विहितैषणा प्रेक्षावता न करणीया ।

अत्र विनेयः पृच्छति । हिताहितयो रागद्वेपौ कुर्वन् कि कुरुते इति दारादिषु रागं शत्रुषु च द्वेपं कुर्वाणः पुरुप किमारमनेहित कार्य करोति येन तावत् कार्यतयोपिदश्यते इत्यर्थः । अत्राचार्यः समाधत्ते,—

अर्थ — जिसने पहिले दूसरेको सताया या तकलीफ पहुँचाई है ऐसा पुरुप उस सताये गये और वर्तमानमे अपनेको मारनेवालेके प्रति क्यों गुस्सा करता है ? यह कुछ जँचता नहीं । अरे ! जो त्र्यङ्गुलको पैरोसे गिरायगा वह दंडेके द्वारा स्वयं गिरा दिया जायगा ।

विज्ञवार्थ-दूसरेका अपकार करनेवाला मनुष्य, बदलेमे अपकार करनेवालेके प्रति वयो हर तरहमें कुपित होता है ? कुछ समझमें नहीं आता।

भाई! सुनिहिचत रोति या पद्धित यही है कि संसारमें जो किसीको सुख या दु.ख पहुँ-चाता है, वह उसके द्वारा मुख और दु खको प्राप्त किया करता है। जब तुमने किसी दूसरेको दु:ख पहुँचाया है तो बदलेमें तुम्हें भी उसके द्वारा दु:ख मिलना ही चाहिये। इसमें गुस्सा करनेकी क्या बात है? अर्थात् गुस्सा करना अन्याय है, अयुक्त है। इसमें दृष्टात देते हैं कि जो विना विचारे काम करनेवाला पुरुप है वह तीन अंगुलीके आकार वाले कूडा कचरा आदिके समेटनेके काममें आनेपाले 'अंगुल' नामक यंत्रको पैरोसे जमीनपर गिराता है तो वह विना किसी अन्यको प्रेरणाके स्वय ही हाथमें पकडे हुए डडेसे गिरा दिया जाता है। इसलिये अहित करनेवाले व्यक्तिके प्रति, अपना हित चाहनेवाले बद्धिमानोको, अप्रीति, अप्रेम या द्वेष नहीं करना चाहिये॥ १०॥

दोहा-अपराधी जन क्यों करे, हन्ता जनपर क्रोध। दो पग अंगुल महि नमे, आपहि गिरत अवोध॥ १०॥

यहांपर ज्ञिष्य प्रश्न करता है कि स्त्री आदिकोमें राग और शत्रुओमें द्वेप करनेवाला पुरुष अपना क्या अहित-विगाड करता है ? जिससे उनको (राग-द्वेपोको) अकरणोय-न करने लायक बतलाया जाता है ? आचार्य समाधान करते हैं —

रागद्वेषद्वयीदीर्घ-नेत्राकर्षणकर्मणा । अज्ञानात्सुचिरं जीवः, संसाराच्धौ अमत्यसौ ॥ ११ ॥

अस्वय-असी जीव अज्ञानात् रागद्वेषद्वयीदीघंनेत्राकर्षणवर्मणा सक्षाराव्यी सुचिरं भ्रमति ।

टीका — भ्रमति संसरति । कोऽसी, असी जीवस्चेतन' । वव, ससाराव्यी ससार द्रव्यपरिवर्तनीदिरूपी भवोऽध्यि समुद्र इव दु खहेतुरवाद् दुस्तरस्वाच्च तस्मिन्। कस्मात्, अज्ञानात् वेहाविष्वात्मविभ्रमात्। कियरकालं, सुचिरं अन्दिोर्धकालम् । केन, रागेरयादि । राग इष्टे वस्तुनि प्रीति द्वेषरचानिष्टेश्रीतिस्तयोर्द्धयो । रागद्वेषयो काक्तिव्यक्तिरूपतया युगपत् प्रवृत्तिज्ञापनार्थं द्वयोग्रहणं, ज्ञेषदोषाणा च तद्हयप्रतिवद्धस्ववोधनार्थ । तथा चोक्तम् —

"यत्र राग. पदं धत्ते, द्वेपस्तत्रेति निश्चय । उभावेती समालम्ब्य, विक्रमत्यविकं मन. ॥"

अपि च । आत्मिनि सति परसंज्ञा स्वपरिविभागात् परिग्रहृद्देषो । अनयो सप्रतिवद्धाः सर्वे दोषाश्च जायन्ते । सा दीर्घनेत्रायतमन्याकर्पणपाश इव भ्रमणहेतुस्वात्तस्यापकर्पणकर्मजीवस्य रागादिरूपत्या परिणमन

१ अविचार्यकार्यकर्ता । २ पण्डितेन ।

नेत्रस्यापकर्षणत्वाभिमुखानयनं तेन अत्रोपमानभूतो मन्यदण्ड आक्षेप्यस्तेन यथा नेत्राकर्पणव्यापारे मन्याचलः समुद्रे सुचिरं भ्रान्तो लोके प्रसिद्धस्तया स्वपरिववेकानववोधात् यदुद्भूतेन रागादिपरिणामेन कारणकार्योपचा-रात्तच्जनितकर्मवन्धेन संसारस्यो जीवो अनादिकालं संसारे भ्रान्तो भ्रमति भ्रमिष्यित । भ्रमतीत्यविष्ठप्ते पर्वता इत्यादिवत् नित्यप्रवृत्ते लटा विवानात् । उक्तं च ।

"जो खलु संसारत्यो, जीवो तत्तो दु होदि परिणामो। परिणामादो कम्मं, कम्मादो हर्वाद गिंद सु गदी ॥१२८॥ गिंदमियवस्स देहो, देहादो इंदियाणि जायंते । तेहिं दु विसयगाहणं, तत्तो रागो व दोसो वा ॥ १२९ ॥ जायदि जीवस्सेवं, भावो संसारचक्कवालिम। इदि जिणवरेहिं भणिदो, अणादिणिघणो सणिघणो वा"॥१३०॥ पंचास्तिकाय । २ ॥

क्षय प्रतिवाद्यः वर्यनुगुड्को । तस्मिन्नवि यदि सुखी स्यात् को दोप इति भगवन् संसारेपि, न कैवलं मोक्ष इत्यविशवदार्थः । चेज्जीव सुखयुक्तो भवेत् तर्हि को न किचत् दोषो दुष्टरवं संसारस्य सर्वेषा सुखस्यैव आमुमिष्टत्वात् येन संसारच्छेदाय सन्तो यतेरिन्नत्यत्राह । वत्स !

अर्थ-यह जीव अज्ञानसे रागद्वेषरूपी दो लम्बी डोरियोकी खीचतानीसे संसाररूपी समुद्रमे वहत कालतक घूमता रहता है-परिवर्तन करता रहता है।

विज्ञादार्थ — द्रव्य, क्षेत्र, काल, भन, भावरूप पचपरावर्तनरूप संसार जिसे दु:सका कारण और दुस्तर होनेसे समुद्रके समान कहा गया है, उसमें अज्ञानसे—शरीरादिकोमें आत्मभ्रांतिसे—अति-दीर्घ कालतक घूमता (चक्कर काटता) रहता है। इष्ट वस्तुमें प्रीति होनेको राग और अनिष्ट वस्तुमें अप्रीति होनेको द्रेष कहते हैं। उनकी श्रांक और व्यक्तिरूपसे हमेशा प्रवृत्ति होती रहती है, इसलिये आचार्योने इन दोनोको जोड़ी बतलाई है। बाकीके दोष इस जोड़ीमें ही शामिल है, जैसा कि कहा गया है:—"यत्र रागः पदं धत्ते॰"

"जहाँ राग अपना पांव जमाता है, वहा ढेष अवस्य होता है या हो जाता है, यह निश्चय है। इन दोनो (राग-ढेप) के आलम्बनसे मन अधिक चंचल हो उठता है। और जितने दोष है, वे सब राग-ढेषसे संबद्ध है," जैसा कि कहा गया है—"आत्मिन सित परसज्ञा०"

"निजत्वके होनेपर परका ख्याल हो जाता और जहाँ निज-परका विभाग (भेद) हुआ वहाँ निजमे रागरूप और परमे द्वेपरूप भाव हो ही जाते हैं। बस इन दोनोके होनेसे अन्य समस्त दोष भी पैदा होने लग जाते है। कारण कि वे सब इन दोनोके ही आश्रित है।"

वह राग-द्वेषकी जोडो तो हुई मंथानीके डंडेको घुमानेवाळी रस्सीके फाँसाके समान और उसका घूमना कहळाया जीवका रागादिरूप परिणमन। सो जैसे लोकमे यह बात प्रसिद्ध है कि नेतरी-के खीचा-तानीसे जैसे मंथराचळ पर्वतको समुद्रमें बहुत काळतक भ्रमण करना पड़ा। उसी तरह स्वपर विवेककान न होनेसे रागादि परिणामोके द्वारा जीवात्मा अथवा कारणमे कार्यका उपचार करनेसे, रागादि परिणामजनित कर्मबंधके द्वारा बंधा हुआ संसारीजीव, अनादिकाळसे संसारमे घूम रहा है, घूमा था और घूमता रहेगा। मतळब यह है कि 'रागादि परिणामरूप भावकर्मीसे द्रव्यक्मींका वन्ध होता' ऐसा हमेशासे चळा आ रहा है और हमेशा तक चळता रहेगा। सम्भव है कि किसी जीवके यह रूक भी जाय। जैसा कि कहा गया है :—"जो खळू संसारत्यो०"

१ वर्तमानात् । २ शिष्यः पुच्छति ।

"जो संसारमें रहनेवाला जीव है, उसका परिणाम (रागद्वेप आदिरूप परिणमन) होता है, उस परिणामसे कर्म वैंगते हैं। वैंग्ने हुए कर्मोंके उदय होनेसे मनुष्यादि गितयों में गमन होता है, मनुष्यादि गितयों में गमन होता है, मनुष्यादि गितमों प्राप्त होनेवालेको (औदारिक आदि) बारीरका जन्म होता है, बारीर होनेसे इंद्रियोकी रचना होती है, इन इद्रियोंसे विषयों (रूप रसादि) का ग्रहण होता है, उससे फिर राग और हेष होने लग जाते है। इस प्रकार जीवका संसाररूपी चक्रवालमें भवपरिणमन होता रहता है, ऐसा जिनेन्द्रदेवने कहा है। जो अनादिकालसे होते हुए अनन्तकालतक होता रहेगा, हाँ, किन्ही भव्यजीवोके उसका अन्त भी हो जाता है।"॥ ११॥

दोहा—मथत दूध डोरोनितें, दंड फिरत वहु वार । राग द्वेष अज्ञानसे, जीव भ्रमत संसार ॥ ११ ॥

जत्थानिका—यहाँपर शिष्य पूछता है कि स्वामित् ! माना कि मोक्षमे जीव सुखी रहता है। किन्तु ससारमें भी यदि जीव सुखी रहे तो क्या हानि है?-कारण कि संसारके सभी प्राणी सुखको ही प्राप्त करना चाहते हैं। जब जीव ससारमें ही सुखी हो जाँय तो फिर ससारमें ऐसी क्या खराबी है? जिससे कि सत पुरुष उसके नाश करनेके लिये प्रयत्न किया करते है? इस विषयमें आचार्य कहते हैं-हे वत्स—

विपद्भवपदावर्ते, पदिकेवातियासते । यावत्तावद्भवन्त्यन्याः, प्रचुरा विपदः पुरः ॥ १२ ॥

अन्वय—यावत् भवपदावर्ते पदिका इव विपत् अतिवाह्यते तावत् अन्याः प्रचुराः विपदः पुरः भवन्ति ।

टीका - व्यावदितवाह्यते अतिक्रम्यते । प्रेर्यते । कासौ, विषत् सहजशारीरमानसागन्तुकानामापदा मध्ये या काष्येका विवक्षिता आपत् । जोवेनेति शेषः । वन, मवपदावर्ते भवः संसारः पदावर्ते इव पादचात्यघटी- यन्त्रमिव भूयोभूयः परिवर्तमानत्वात् । केव, पदिकेवं पादाक्रान्तदण्डिका यथा तावद्भवन्ति । का, अन्या अपूर्वा प्रचुरा बह्यो विषदः आपदः पुरो अग्रे जोवस्य यदि । का इव, काछिकस्येति सामर्थ्यदुव्या । अतो जानीहि दुःवैकिनवन्यनिविपत्तिनिरन्तरत्वात् संसार अवस्योवनाश्यत्वम् ।

पुन. शिष्य एवाह । न सर्वे विषद्वन्त; ससंपदोपि दृश्यन्त इति भगवन् समस्ता अपि ससारिणो न विपत्तियुक्ताः सन्ति सश्रीकाणामपि केषाचिद् दृश्यमानत्वादित्यवाह,—

अर्थ—जबतक संसाररूपी पैरसे चलाये जानेवाले घटीयत्रमें एक पटली सरीखी एक विपत्ति भुगतकर तय की जाती है कि उसी समय दूसरी दूसरी बहुतसी विपत्तियाँ सामने आ उपस्थित हो जाती है।

विश्वदार्थ — पैरसे चलाये जानेवाले घटीयंत्रेंको पदावर्त कहते है, क्योंकि उसमे बार वार परिवर्तन होता रहता है। सो जैसे उसमे पैरसे दबाई गई लकड़ी या पटलीके व्यतीत हो जानेके बाद दूसरी पटलियाँ आ उपस्थित होती है, उसी तरह संसाररूपी पदावर्तमे एक विपत्तिके बाद दूसरी बहुतसी विपत्तियाँ जीवके सामने आ खड़ी होती है।

[🤋] व्याकस्मिकागत । ३ एक यत्रविशेष जो पानी उलीचनेके काम साता हैं।

इसिलये समझो कि एकमात्र दुःखोंकी कारणोभूत विपत्तियोंका कभी भी अन्तर न पड़नेके कारण यह संसार अवस्य ही विनाश करने योग्य है। अर्थात् इसका अवस्य नाश करना चाहिए॥ १२॥

दोहा--जबतक एक विषद टले, अन्य विषद बहु आय । पदिका जिमि घटियंत्र में, बार बार भरमाय ॥ १२ ॥

फिर शिष्यका कहना है कि, भगवन् ! सभी संसारी तो विपत्तिवाले नही है, बहुतसे सम्पत्ति-वाले भी दीखनेमे आते हैं । इसके विषयमें आचार्य कहते हैं:—

दुरज्येंनासुरक्ष्येण, नश्चरेण धनादिना । स्वस्थंमन्यो जनः कोऽपि, ज्वरवानिव सर्पिपा ॥ १३ ॥

अन्वयः--ज्वरवान् सर्पिपा इव कोऽपि जनः दुरर्ज्येन असुरक्ष्येण घनादिना स्वस्थंमन्यः (भवति)।

टीका—भवति । कोसी, जनो लोकः । किविशिष्टः, कोपि निविवेको न सर्वः । किविशिष्टः भवति, स्वस्थंमन्यः स्वस्थमात्मानं मन्यमानो अह सुखीति मन्यत इत्यर्थः । केन क्रत्वा, धनाविता द्रव्यकामिन्यादीष्ट-वस्तुजातेन । किविशिष्टेन, दुर्ज्येन अपायबहुलत्वात् दुष्यांनावेशाच्च दुःखेन महता कष्टेनाजित इति दुर्ज्येन त्या अमुरक्ष्येण वुस्त्राणेन यत्ततो रक्ष्यमाणस्याप्यायम्यावस्यावस्यंभावित्वात् । तथा नश्वरेण रक्ष्यमाणस्यापि विनाशसंभवादशाश्वतेन । अत्र दृष्टान्तमाह । ज्वरेत्यादि । इव शक्ते यथार्थे यथा कोऽपि मुखो ज्वरतान् अतिशयेन मतिविनाशात् सामज्वरातं. सर्पिपा घृतेन पानाग्रुपयुक्तेन स्वस्थंमन्यो भवति । निरामयमात्मानं मन्यते ततो वृद्धचस्व दुष्पार्थ्यदुरक्षणभङ्गपुरद्वयादिना दुःखमेव स्यात् । उक्तं च —

''अर्थस्योपार्जने दु.खर्माजतस्य च रक्षणे । आये दु:खं न्यये दु:खं, धिगर्थं दू.खभाजनम् ॥''

"भूयोपि विनेयः पृच्छति।" एविवधा संपदा कथं न त्यजतीति। अनेन दुर्जत्वादिप्रकारेण लोकद्वयेऽपि दु.खदां धनादिसंपत्ति कथं मुख्यति न जनः। कथमिति विस्मयगर्भे प्रश्ते। अत्र गुरुरुत्तरमाहः—

अर्थ — जैसे कोई ज्वरवाला प्राणी घीको खाकर या चिपड़ कर अपनेको स्वस्थ मानने लग जाय उसी प्रकार कोई एक मनुष्य मुश्किलसे पैदा किये गये तथा जिसकी रक्षा करना कठिन है और फिर भी नष्ट हो जानेवाले है, ऐसे घन आदिकोंसे अपनेको सुखी मानने लग जाता है।

विश्वदार्थ — जैसे कोई एक भोला प्राणी जो सामज्वर (ठड देकर आनेवाले बुखार) से पोड़ित होता है, वह बुद्धिके ठिकाने न रहनेसे — बुद्धिके बिगड़ जानेसे थी को खाकर या उसकी मालिश कर लेनेसे अपने आपको स्वस्व-नीरोग मानने लगता है, उसी तरह कोई कोई (सभी नहीं) धन, दौलत, स्त्री आदिक जिनका कि उपाजित करना कठिन तथा जो रक्षा करते भी नष्ट हो जानेवाले हैं — ऐसे इष्ट वस्तुओं में अपने आपको 'मैं सुखी हूँ' ऐसा मानने लग जाते हैं, इसलिए समझों कि जो मुश्किलों में पैदा किये जाते तथा जिनको रक्षा बढ़ी कठिनाईसे होती है, तथा जो नष्ट हो जाते, स्थिर नहीं रहते ऐसे धनादिकों दु.ख हो होता है, जैसे कि कहा है — "अर्थस्यो-पार्जने दु.खंन"

'धनके कमानेमें दुःख, रक्षा करनेमें दुःख, उमके जानेमे दुःख, इस तरह हर हालतमे दुःख-के कारणरूप धनको धिक्कार हो'।

वोहा—कठिन प्राप्त संरक्ष्य ये, नश्वर घन पुत्रादि । इनसे सुखकी कल्पना, जिमि घृतसे ज्वर ज्याधि ॥ १३ ॥

शंका—िफर भी शिष्य पूछता है कि बड़े आइचर्यको वात है कि जब 'मुक्किलोस कमायी जाती' आदि हेतुओंसे बनादिक सम्बत्ति दोनों लोकोंमें दुःख देनेवाली है, तब ऐसी सम्वत्तिको लोग छोड़ वयो नही देते ? आचार्य उत्तर देते हैं—

विपत्तिमात्मनो मूढः, परेपामिव नेक्षते । दह्यमानमृगाकीर्णवनान्तरतरुस्यवत् ॥ १४ ॥

अन्वय-दह्यमानमृगाकीर्णनान्तरतरुस्थवत् मूढ परेपामिव आत्मनो विपत्ति नेक्षते ।

टीका —नैदात न पश्यति । कोऽनी, मूढां घनाद्यासग्रस्य छुप्तवित्रेको छोकः । का, विपत्ति चोरादिना कियमाणा चनापहाराद्यापदा । कम्य, आत्मनः स्त्रस्य । कैयामित्र, परेपामित्र । यथा इमे विषदा आक्रम्यन्ते तयाहमप्याक्रन्तत्र्य इति न विवेचयतीत्यर्थः । क इय, प्रदह्ममानैः द्यानान्छज्वाळाशिभिर्भस्मीक्रियमार्णभृगीहीरणा-दिभिराकीर्णस्य संकुळस्य वनस्यान्तरे मध्ये वर्तमान । स तथ् यृद्धमारूढो जनो यथा आत्मनो मृगाणामिव विपत्ति ।

पुनराह शिष्यः कृत एतदिति, भगवन् कस्माद्धेतोरिदं सिन्निहिताया अपि विषयो अदर्शनं जनस्य । गुरुराह । लोभादिति, वरस धनादिगाध्यरिपुरोनितिनोमप्यापदं घनिनो न पश्यन्ति ॥ १४ ॥ यतः—

अर्थ-जिसमें अने को हिरण दावानलको ज्वालासे जल रहे है, ऐसे जंगलके मध्यमे वृक्षपर वैठे हुए मनुष्यको तरह यह संसारो प्राणी दूसरोको तरह अपने ऊपर आनेवाली विपक्तियोका स्थाल नहीं करता है।

विश्वदार्थ—धनादिकमें आसिक होनेके कारण जिसका विवेक नष्ट हो गया है, ऐसा यह मूढ प्राणी चोरादिकके द्वारा को जानेवाली, धनादिक चुराये जाने आदिरूप अपनी आपितको नहीं देखता है, अर्थात् वह यह नहीं ख्याल करता कि जैसे दूसरे लोग विपत्तियोंके शिकार होते हैं, उसी तरह में भी विपत्तियोंका शिकार वन सकता हूँ। इस वनमें लगी हुई यह आग इस वृक्षको और मुझे भी जला देगी। जैसे ज्वालानलकी ज्वालाओसे जहाँ अनेक मृगगण झुलस रहे हैं—जल रहे हैं, उसी वनके मध्यमें मोजूद वृक्षके ऊपर चढा हुआ आदमी यह जानता है कि ये तमाम मृगगण ही घवरा रहे हैं—छटपटा रहे हैं, एवं मरते जा रहे हैं, इन विपत्तियोंका मुझसे कोई संबंध नहीं है, मैं तो सुरक्षित हूँ। विपत्तियोंका सम्बन्ध दूसरोकी सम्पत्तियोंसे हैं, मेरी सम्पत्तियोंसे नहीं है। १४॥

दोहा—परकी विषदा देखता, अपनी देखे नाहि। जलते पशु जा वन विषें, जड़ तरुपर ठहराहि॥ १४॥

फिर भी शिष्यका कहना है कि हे भगवन् ! क्या कारण है कि लोगोको निकट आई हुई भी विपत्तियाँ दिखाई नही देती ? आचार्य जवाब देते हैं—"लोभात्" लोभके कारण, हे वत्स ! धनादिककी गृद्धता-आसक्तिसे धनी लोग सामने आई हुई भी विपत्तिको नहीं देखते हैं, कारण कि-

१ अग्रतः स्थितामपि ।

आयुर्वेद्धिक्षयोत्कर्षहेतुं, कालस्य निर्गमम् । वाञ्छतां धनिनामिष्टं, जीवितात्सुत्तरां धनम् ॥१५॥

अन्वय—आयुर्वृद्धिक्षयोत्कर्पहेतुं कालस्य निर्गमं वाञ्छतां घनिनां जीविताद् घनं सुतरां इष्टम् ।

दीका—चर्तते । किं तद्धनं । किंविशिष्टं, इष्टमिभमतं । कयं, सुतरां अतिशयेन कस्माण्जीविता-रगाणेम्य. । केपा, धनिना । किं कुर्वता, वाञ्छता । कं, निर्मामं अतिशयेन गमनं । कस्य, कालस्य । किंविशिष्टं, आयुरित्यादि । आयुःसयस्य वृद्धभुत्कर्षस्य च कालान्तरवद्धनस्य कारणम् । अयमर्थो, धनिना तथा जीवितव्य नेष्टं यथा धनं । कथमन्यथा जीवितक्षयकारणमि धनवृद्धिहेतुं कालनिर्ममं वाञ्छन्ति । अतो धिम्धनम् एवंविधव्यामोहहेतुत्वात् ॥ १५ ॥

क्षत्राह शिष्यः । कथं धन निन्यं येन पुण्यमुपाज्यंते इति पात्रदानदेवार्चनादिक्रियायाः पुण्यहेतोर्धनं विना असंभवात् पुण्यसाधनं धनं कथं निन्यं, किं तींह प्रशस्यमेवातो यथाकथंचिद्धनपुपाज्यं पात्रादौ च नियुज्य सुसाय पुण्यमुपार्जनीयमित्यत्राह—

अर्थ — कालका व्यतीत होना, आयुके क्षयका कारण है और कालान्तरके माफिक व्याजके बढ़नेका कारण है, ऐसे कालके व्यतीत होनेको जो चाहते हैं, उन्हें समझना चाहिये कि अपने जीवनसे धन ज्यादा इष्ट है।

विश्वदार्थ—मतलव यह है कि घनियोको अपना जीवन उत्तना इष्ट नही, जितना कि घन । घनी चाहता है कि जितना काल बीत जायगा, उतनी ही व्याजको आमदनी बढ जायगी । वह यह ख्याल नही करता कि जितना काल बीत जायगा उतनी ही मेरी आयु (जीवन) घट जायगी । वह धनवृद्धिके ख्यालमें जीवन (आयु) विनाशकी ओर तिनक भी लक्ष्य नही देता । इसलिये मालूम होता है कि घनियोको जीवन (प्राणों) की अपेक्षा धन ज्यादा अच्छा लगता है । इस प्रकारके ब्यामोहका कारण होनेसे धनको धिक्कार है । १९॥

दोहा—आयु क्षय धनवृद्धिको, कारण काल प्रमान। चाहत हैं धनवान घन, प्राणनितें अधिकान ॥१५॥

यहाँपर घिष्यका कहना है कि धन जिससे पुण्यका उपार्जन किया जाता है, वह निद्य-निदाके योग्य क्यों है ? पात्रोंको दान देना, देवकी पूजा करना, आदि क्रियायें पुण्यकी कारण है, वे सब धनके विना हो नही सकती । इसिलये पुण्यका साधनरूप धन निद्य क्यों ? वह तो प्रशंस-नीय ही है । इसिलये जैसे बने वैसे धनको कमाकर पात्रादिकोंमें देकर सुखके लिये पुण्य संचय करना चाहिये। इस विषयमें आचार्य कहते है—

त्यागाय श्रेयसे वित्तमवित्तः संचिनोति यः । स्वश्रीरं स पङ्केन, स्नास्यामीति विलिम्पति ॥१६॥

अन्वय—यः अवित्तः श्रेयसे त्यागाय वित्तं संचिनोति स ''स्नास्यामि'' इति स्वशरीरं पङ्कोन विकिम्पति ।

टीका—योऽवित्तो निर्धनः सन् घनं संचिनोति सेवाकृष्यादिकर्मणोपार्जयति । कि तहित्तं घनं । कस्मै, त्यागाय पात्रदानदेवपूजाद्यर्थ, त्यागायेत्यस्य देवपूजाद्यप्तक्षणार्थत्वात् । कस्मै त्यागः, श्रेयसे अपूर्वपूष्याय ३ पूर्वोषात्तपापक्षयाय । यस्य तु चक्रवर्धादेरियायस्तेन धनं निध्यति न तेन श्रेयोञ्चे पात्रदानादिकमिव करोतिविति भावः । सिंक करोतीस्याह्—विलिम्पति विलेषनं करोति । कोऽमी, सः । कि तस्स्यवरीर । नेन, पङ्केन कर्दमेन । कथं क्रस्येयाह् । स्नास्यामीति । अयमर्थो, यथा कश्चित्रमंत्राङ्गं स्नानं करिय्वामीति पद्मेन विलिम्पत्रवेमीक्षकार्शे तथा पाणेन धनमुपार्व्यं पात्रदानादिषुण्येन क्षपिय्यामीति धनार्जनं प्रवर्तमानोऽपि । न च शुद्धनृत्या कस्यापि धनार्जनं संभवति । तथा चोक्तम्—

"शुद्धं धंनीववर्धन्ते, सतामिष न संपदः । न हि स्वच्छाम्बुभिः पूर्णाः, कदाचिदिष सिन्धवः" ॥ ४५ ॥ ---बात्मानुवासनं ।

पुनराह विष्य भोगोपभोगायेति । भगवन् यथेवं घनार्जनस्य पापप्रायतया दुःसहेतुन् । चनं निर्छ तर्हि घनं विना सुप्रहेतोभाँगोपभोगस्यासंभवात्तदयं घनं स्यादिति प्रवास्यं भिष्प्यति । भोगो भोजनतान्यूलादिः । उपभोगो वस्तुकामिन्यादि । भोगाश्चोपभोगात्र्य भोगोपभोगं तस्मै । अत्राह् गुष्टः । तदि निति न केवलं पृष्य-हेतुत्तया घनं प्रशस्यमिति यत्त्वयोक्तं तदुक्तरीत्या न स्यात् । कि तर्हि भोगोपभोगार्यं तत्साघनं प्रशस्यमिति । यत्त्वया संप्रत्युच्यते तदिष न स्यात् । कृत दितं चेत्, यतः ॥ १६ ॥

अर्य — जो निर्धन, पुण्यप्राप्ति होगी उसलिये दान करनेके लिये धन कमाता या जोड़ता है, वह 'स्नान कर लूंगा' ऐसे ख्यालसे अपने अरोरको कोचल्ये लपेटता है।

अर्थ—जो निर्धन ऐसा ख्याल करे कि 'पात्रदान, देवपूजा आदि करनेसे नवीन पुण्यकी प्राप्ति और पूर्वोपाजित पापकी हानि होगी, इसिलये पात्रदानादि करनेके लिये चन कमाना चाहिये', नीकरी खेती आदि करके घन कमाना है, समझना चाहिये कि वह 'स्नान कर डालूँगा' ऐसा विचार कर अपने जरीरको कीचडसे लिप्त करता है। स्पष्ट यह है कि जैसे कोई आदमी अपने निर्मल अंगको 'स्नान कर लूँगा' का ख्याल कर कीचडसे लिप्त कर डाले, तो वह वेवकूफ ही गिना जायगा। उसी तरह पापके द्वारा पिहले घन कमा लिया जाय, पीछे पात्रदानादिके पुण्यसे उसे नष्ट कर डालूँगा, ऐसे ख्यालसे चनके कमानेमें लगा हुवा व्यक्ति भी समझना चाहिये। सस्कृत-टीकामे यह भी लिखा हुआ है कि चक्रवर्ती आदिकोको तरह जिसको विना यस्त किये हुए धनको प्राप्ति हो जाय तो वह उस घनसे कल्याणके लिये पात्रदानादिक करे तो करे।

फिर किसीको भी धनका उपार्जन, शुद्ध वृत्तिसे हो भी नही सकता जैसा कि श्रीगुणभद्रा-चार्यने आत्मानुशासनमें कहा है—"शुद्धैंसेनिवधंन्ते॰"

अर्थ--- "सत्पृष्पोकी सम्पत्तियाँ, शुद्ध ही शुद्ध धनसे बढती हैं, यह बात नही है। देखो, नदियाँ स्वच्छ जलसेही परिपूर्ण नही हुआ करती है। वर्षामे गँदले पानीसे भी भरी रहती हैं "18६।

दोहा—पुण्य हेतु दानादिको, निर्धन धन संचेय। स्नान हेतु निज तन कुधी, कोचड़से लिम्पेय ॥१६॥

उत्थानिका — फिर शिष्य कहता है कि भगवन्। घनके कमानेमें यदि ज्यादातर पाप होता है, और दुःखका कारण होनेसे घन निद्य है, तो घनके विना भोग और उपभोग भी नहीं हो सकते, इसिलये उनके लिये घन होना ही चाहिये, और इस तरह धन प्रशंसनीय माना जाना चाहिये। इस विपयमे आचार्य कहते हैं कि 'यह बात भी नहीं है' अर्थात् 'पुण्यका कारण होनेसे घन प्रशसनीय है,' यह जो तुमने कहा था, सो वैसा ख्याल कर घन कमाना उचित नहीं, यह पहिले ही बताया जा चुका है। 'भोग और उपभोगके लिये धन साधन है,' यह जो तुम कह रहे हो, सो भी वात नहीं है, यदि कहो क्यों ? तो उसके लिये कहते हैं:—

आरम्मे तापकान्त्राप्तावऽतृप्तिप्रतिपादकान् । अन्ते सुदुस्त्यजान्, कामान् कामं कः सेवते सुधीः ॥१७॥

अन्वय---आरम्भे तापकान् प्राप्ती अतृप्तिप्रतिपादकान् अन्ते सुदुस्त्यजान् कामान् कः सुधीः कामं सेवते ।

टोका—को, न कश्चित् सुघीविद्वान् सेवते इन्द्रियप्रणालिकयानुभवित । कान्, भोगोपभोगान् । उक्तं च—

"तदात्त्वे सुखसंज्ञेषु, भावेष्वज्ञोऽनुरुव्यते । हितमेवानुरुव्यन्ते, प्रपरीच्य परीक्षकाः ॥"

कथंभूतान्, तापकान् देहेन्द्रियमन.वलेशहेतुन् । वव, आरम्भे उत्परयुपक्रमे । असादिभोग्यद्रव्य-सपाद-नस्य क्रुप्यादिवलेशवहुलताया सर्वजनसुप्रसिद्धत्वान् । तर्हि भुज्यमानाः कामाः सुबहेतवः संभूतिसैव्यास्ते इत्याह्, प्राप्तावित्यादि । प्राप्तौ इन्द्रियेण संबन्धे सति अतृष्तेः सुतृष्णायाः प्रतिपादकान् दायकान् । उवतं च---

"अपि संकित्पताः कामा., संभवन्ति यथा यथा । तथा तथा मनुष्याणा, तृष्णा विश्वं विसर्पति ।"

र्ताह यथेष्टं भुवस्वा तृष्तेषु तेषु तृष्णा खंतापः साम्यतीति सेन्यास्ते इत्याह । अन्ते सुदुस्त्यजान् भुक्तिः-प्रान्ते त्यवतुमशावयकान् । सुभुवतेष्वपि तेषु मनोव्यतिपङ्गस्य दुर्गिवारस्वात् । उवतं च—

"दहनस्तृणकाष्ट्रसचर्यरिप, तृप्येदुदिघनंदीशतैः। न तु कामसुखैः पुमानहो, वलवत्ता खलु कापि कर्मणः ॥ अपि च—किमपीदं विषमयं, विषमतिविषमं पुमानयं येन । प्रसभमनुभूय मनोभवे भवे नैव चेत-यते ॥'' ॥४॥—अनगारधर्मामृते पष्ठोऽध्यायः ।

ननु तत्त्वविदोपि भोगानभुवतवन्तो न श्रूयन्त इति कामान् कः सेवते सुधीरित्युपदेशः कथं श्रद्धीयत इत्याह । कामिमिति । अत्यर्थं । इदमत्र तात्पर्थं चारित्रमोहोदयात् भोगान् त्यवतुमशक्ननुवन्नपि तत्त्वज्ञो हेय-रूपतया कामान्पस्यन्ने व सेवते । मन्दीभवन्मोहोदयस्तु ज्ञानवैराग्यभावनया करणग्रामं संयम्य सहसा स्वका-र्यागोत्सहंत एव । तथा चोवतम् ।

इदं फलमियं क्रिया करणमेतदेप क्रमो व्ययोऽयमनुपङ्गज फलमिदं दशेयं मम । अयं सुहृदयं द्विपन् प्रयितदेशकालाविमाविति प्रतिवितर्कयन् प्रयत्तते बुधो नेतरः ।— झानाणैने पृ० ७६, — सागारधर्मा-मृते पृ० १०।

. किंच यदर्थमेतदेवंविधमिति । भद्र यत्कायलक्षणं वस्तुसंतापाद्युपेतं कर्तु प्रार्थ्यते तद्वस्यमाणलक्षण-मिरयर्थ । स एवंविध इति पाठः तद्यथा—

अर्थ-आरम्भमें सन्तापके कारण और प्राप्त होने पर अतृप्तिके करनेवाले तथा अन्तमें जो बड़ी मुक्किलोंसे भी छोडे नहीं जा सकते, ऐसे भोगोपभोगोको कौन विद्वान्—समझदार-ज्यादती व आसक्तिके साथ सेवन करेगा ?

विज्ञदार्थ —भोगोपभोग कमार्य जानेके समय, इंद्रिय और मनको क्लेश पहुँचानेका कारण होते हैं। यह सभी जन जानते हैं कि गेहूँ, चना, जौ आदि अज्ञादिक भोग्य द्रव्योके पैदा करनेके लिये खेती करनेमें एडीसे चोटीतक पसीना बहाना आदि दुःसह बलेश हुआ करते है। कदाचित् यह कहो कि भोगे जा रहे भोगोपभोग तो सुखके कारण होते हैं ! इसके लिये यह कहना है कि इन्द्रियोके द्वारा सम्बन्ध होनेपर वे अनृष्ति यानी बढी हुई तृष्णाके कारण होते हैं, जैसा कि कहा गया है—"अपि संकल्पिताः कामाः"

"ज्यो-ज्यों संकल्पित किये हुए भोगोपभोग प्राप्त होते जाते हैं, त्यों-त्यों मनुष्यों तृष्णा बढती हुई सारे लोकमें फैलती जाती है। मनुष्य चाहता है, िक अमुक मिले। उसके मिल जानेपर अपो वढ़ता है, िक अमुक और मिल जाये। उसके भी मिल जानेपर मनुष्यकी तृष्णा विश्वके समस्त ही पदार्थोंको चाहने लग जाती है िक वे सब ही मुझे मिल जाये। परतु यदि ययेष्ठ भोगोपभोगोंको भोगकर तृष्त हो जाय तब तो तृष्णारूप सन्ताप ठण्डा पड़ जायगा! इसिलये वे सेवन करने योग्य है। आचार्य कहते है िक वे भोग लेनेपर अन्तमे छोड़े नहीं जा सकते, अर्थात् उनके खूब भोग लेनेपर भी मनकी आयक्ति नहीं हटती," जैसा िक कहा भी है—

"दहनस्तृणकाष्ठसंचयैरपि०"

"यद्यपि अगिन, घास, लकड़ी आदिके ढेरसे तृप्त हो जाय। समुद्र, सेकडो निदयोसे तृप्त हो जाय, परंतु वह पुरुप इन्छित सुखोंसे कभी भी तृप्त नही होता। अहो! कमोंको कोई ऐसी ही सामर्थ्य या जबर्दस्ती है।" और भी कहा है—"किमपीद विषयमयं॰"

"अहो ! यह विषमयी विष कैसा गजबका विष है कि जिसे जबर्दस्तो खाकर यह मनुष्य, भव भवमें नहीं चेत पाता है।"

इस तरह आरम्भ, मध्य और अन्तमें क्लेश-तृष्णा एवं आसक्तिके कारणभूत इन भोगोप-भोगोंको कौन वृद्धिमान् इंद्रियरूपी नलियोसे अनुभवन करेगा ? कीई भी नहीं।

यहाँपर शिष्य शंका करता है कि तत्त्वज्ञानियोंने भोगोंको न भोगा हो यह वात सुननेमें नहीं आती है। अर्थात् वहें बड़े तत्त्वज्ञानियोंने भी भोगोंको भोगा है, यही प्रसिद्ध है। तब 'भोगों- को कौन वृद्धिमान्-तत्त्वज्ञानी सेवन करेगा?' यह उपदेश कैसे मान्य किया जाय? इस वातपर कैसे श्रद्धान किया जाय? आचार्य जवाब देते हैं—िक हमने उपर्युक्त कथनके साथ "काम अर्यर्थं" आसक्तिके साथ रिवपूर्वंक यह भी विशेषण लगाया है। तात्पर्य यह है कि चारित्रमोहके उदयसे भोगोंको छोडनेके लिये असमर्थ होते हुए भी तत्त्वज्ञानी पुरुष भोगोंको त्याज्य-छोडने योग्य समझते हुए ही सेवन करते हैं। और जिसका मोहोदय मंद पड़े गया है, वह ज्ञान-वैराग्यको भावनास इन्द्रियोंको रोककर इन्द्रियोंको वशमें कर शिद्य ही अपने (आत्म) कार्य करनेके लिये किटबद्ध- त्यार हो जाता है—जैसा कि कहा गया है—"इदं फलमिय क्रियां करां करां करां हो आता है—जैसा कि कहा गया है—"इदं फलमिय क्रियां करां करां करां करां स्वाप्त हो जाता है—जैसा कि कहा गया है—"इदं फलमिय क्रियां करां करां करां करां स्वाप्त हो जाता है—जैसा कि कहा गया है—"इदं फलमिय क्रियां करां करां करां करां स्वाप्त हो जाता है—जैसा कि कहा गया है—"इदं फलमिय क्रियां करां करां करां करां करां हो जाता है—जैसा कि कहा गया है—"इदं फलमिय क्रियां करां करां करां करां हो स्वाप्त हो स्वाप्त करां हो स्वाप्त हो सार्य करां हो स्वाप्त हो सार्य करां हो स्वप्त हो सार्य करां करां हो सार्य हो सार्य करां हो सार्य हो सार्य करां हो सार्य करां हो सार्य हो सार्य

"यह फल है, यह किया है, यह करण है, यह क्रम-सिलसिला है, यह खर्च है, यह आनुष-गिक (ऊपरी) फल है, यह मेरी अवस्था है, यह मित्र है, यह शत्र है, यह देश है, यह काल है, इन सब बातोंपर ख्याल देते हुए बुद्धिमान् पुरुप प्रयत्न किया करता है। मूर्ख ऐसा नहीं करता।" ॥१७॥

दोहा—भोगार्जंन दुःखद महा, भोगत तृष्णा बाढ़। अत त्यजत गुरु कष्ट हो, को बुध भोगत गाढ़।। १७॥

उत्थानिका—आचार्य फिर और भी कहते है कि जिस (काय) के लिये सब कुछ (भोगो-पभोगादि) किया जाता है वह (काय) तो महा अपवित्र है, जैसा कि आगे वताया जाता है—

भवन्ति प्राप्य यत्सङ्गमशुचीनि शुचीन्यपि। स कायः संततापायस्तदर्थं प्रार्थना वृथा।। १८॥

अन्वय—प्रत्सङ्गं प्राप्य शुचीन्यपि अशुचीनि भवन्ति स कायः संततापायः तदर्थं प्रार्थना वृथा ।

टोका--वर्तते । कोऽसी, सः कायः शरीरं । कि विशिष्टः, संततापायः निरयक्षुषाञ्चपतापः । स क इत्याह । यत्स येन कायेन सह संवन्धं प्राप्य छट्ट्वा श्रुचीन्यिप पवित्राप्यिप भोजनवस्त्रादिवस्तृत्यश्चचीनि भवन्ति यत्रश्चैनं ततस्तवर्यं तं संततापायं कायं श्चित्वस्तुभिष्पकर्तुं प्रार्थेना आकाड्क्षा वृथा व्यथि केनचिद्रुपायेन निवारितेऽपि एकस्मिन्नपाये क्षणे परापरापायोपनिपातसम्भवात ।

पुनरप्याह शिष्यः—र्जाह धनादिनाप्यारमोपकारी भविष्यतीति । भगवन् संततापायतया कायस्य धना-दिना यद्युपकारो न स्यात्तीह् धनादिनापि न केवलमनशनादितपश्चरणेनेत्यपि शब्दार्थः । आत्मनो जीवनस्योप-कारोऽनुग्रहो भविष्यतीत्यर्थः । गुसराह तन्नेति । यत्त्वया धनादिना आत्मोपकारभवनं संभाव्यंते तन्नास्ति ॥ १८ ॥ यतः—

अर्थ — जिसके सम्बंधको पाकर-जिसके साथ भिड़कर पवित्र भी पदार्थ अपवित्र हो जाते हैं, वह शरीर हमेशा अपायो, उपद्रव्यों, झंझटों, विघ्नों, एवं विनाशो कर सिहत है, अतः उसको भोगोपभोगोंको चाहना व्यर्थ है !

विश्वदार्थ — जिस शरीरके साथ संबन्ध करके पित्र एवं रमणीक भोजन वस्त्र आदिक पदार्थ अपित्र घिनावने हो जाते है, ऐसा वह शरीर हमेशा भूख-प्यास आदि संतापोंकर सिहत है। जब वह ऐसा है तब उसको पित्र अच्छे-अच्छे पदार्थों से भला बनानेके लिये आकाक्षा करना व्यर्थ है, कारण कि किसी उपायसे यदि उसका एकाध अपाय दूर भी किया जाय तो क्षण-क्षणमे दूसरे-दूसरे अपाय आ खड़े हो सकते है।।१८॥

दोहा—शुचि पदार्थ भी संग ते, महा अशुचि हो जॉय। विष्न करण नित काय हित, भोगेच्छा विफलाय॥ १८॥

उत्थानिका—िफर भी शिष्यका कहना है कि भगवन् कायके हमेशा अपायवाले होनेसे यदि धनादिकके द्वारा कायका उपकार नही हो सकता, तो आत्माका उपकार तो केवल उपवास आदि तपश्चर्यासे हो नही बल्कि धनादि पदार्थोंसे भी हो जायगा।

आचार्य उत्तर देते हुए बोले, ऐसी बात नहीं है। कारण कि-

यज्जीवस्योपकाराय, तद्देहस्यापकारकम् । यद्देहस्योपकाराय, तज्जीवस्यापकारकम् ॥ १९ ॥

अन्वय—यत् जीवस्य उपकाराय तद् देहस्य अपकारकं (भवति), (तथा) यद् देहस्य उपकाराय तत् जीवस्य अपकारकं (भवति)।

टीका — यदनशनादि तपोऽनुष्ठानं जीवस्य पूर्वापूर्वपायक्षपणिनवारणाभ्यामुपकाराय स्यात्तहेहस्याप-कारकं ग्लान्यादिनिमित्तत्वात् । यत्पुनर्धनादिकं देहस्य भोजनाद्युपयोगेन क्षुषाद्युपतापक्षयत्वादुपकाराय स्यात्त-ज्जीवस्योपार्जनादौ पापजनकत्वेन दुर्गितः दुःखिनिमित्तत्वादपकारकं स्यादतो जानीहि घनादिना नोपकार-गन्धोप्यस्ति घर्मस्यव तदुपकारत्वात् । ववाह शिष्यः । तिहं कायस्योपकारिश्चन्त्यते इति भगवन् यद्येवं तिहं "शरीरमाद्य खलु घर्मसाघनम्" इत्यभिधानात्तस्यापीयनिरासाय यत्नः क्रियते । न च कायस्यापायनिरासो दुष्कर इति वाच्यम् । ध्यानेन तस्यापि सुकरत्यात् ॥ १९ ॥ तथा चोक्तम्—

"यदा त्रिकं फलं किचित्फलमामुनिकं च यत् । एतस्य द्वितयस्यावि, घ्यानमेवाग्रकारणम् ॥" २१७॥ — तस्वानुशासनं

झाणस्स ण दुल्लहं किपीति च-अत्र गुरु प्रतिपेचमाह तन्त्रेति । घ्वानेन कायस्योपकारो न चिन्त्य इत्यर्थः ।

अर्थ—जो जीव (आत्मा) का उपकार करनेवाले होते है, वे शरीरका अपकार (वृश) करनेवाले होते हैं। जो चीजें शरीरका हित या उपकार करनेवाली होती है, वही चीजे आत्माका अहित करनेवाली होती है।

विश्ववार्थ—देखो जो अनशनादि तपका अनुष्ठान करना, जीवके पुराने व नवीन पापोको नाश करनेवाला होनेके कारण, जीवके लिये उपकारक है, उसकी भलाई करनेवाला है, वही आचरण या अनुष्ठान शरीरमें ग्लानि शिथिलतादि भावोको कर देता है, अतः उसके लिये अपकारक है, उसे कष्ट व हानि पहुँचानेवाला है। और जो धनादिक है, वे भोजनादिकके उपयोग द्वारा श्रुधादिक पोड़ाओको दूर करनेमे सहायक होते हैं। अतः वे शरीरके उपकारक हैं। किन्तु उसी धनका अर्जनादिक पापपूर्वक होता है। व पापपूर्वक होनेसे दुर्गतिके दु खोकी प्राप्तिके लिये कारणीभूत है। अत वह जीवका अहित या वुरा करनेवाला है। इसलिये यह समझ रक्खो कि धनादिकके द्वारा जीवका लेशमात्र भी उपकार नहीं हो सकता। उसका उपकारक तो धर्म ही है। उसीका अनुष्ठान करना चाहिये।

दोहा—आतम हित जो करत है, सो तनको उपकार। जो तनका हित करत है, सो जियको अपकार॥ १९॥

अथवा कायका हित सोचा जाता है, अर्थात् कायके द्वारा होनेवाले उपकारका विचार किया जाता है। देखिये कहा जाता है कि "शरीरमाद्यं खलु घर्मसाधनम्" शरीर धर्म-सेवनका मुख्य साधन-सहारा है। इतना ही नही, उसमें यदि रोगादिक हो जाते है, तो उनके दूर करनेके लिये प्रयत्न भी किये जाते है। कायके रोगादिक अपायोंका दूर किया जाना मुक्किल भी नहीं है, कारण कि ध्यानके द्वारा वह (रोगादिकका दूर किया जाना) आसानीसे कर दिया जाता है, जैसा कि तत्त्वामुशासनमें कहा है—"यत्रादिकं फलं कि चित्र "॥ १९॥

जो इस लोक सम्बन्धी फल है, या जो कुछ परलोक सम्बन्धी फल है, उन दोनो ही फलोंका प्रधान कारण ध्यान ही है। मतलब यह है कि "झाणस्स ण दुल्लह कि पीति च" ध्यानके लिये कोई भी व कुछ भी दुर्लभ नही है, ध्यानसे सब कुछ मिल सकता है। इस विषयमे आचार्य निषेध करते हैं, कि ध्यानके द्वारा कायका उपकार नही चितवन करना चाहिये—

इतश्चिन्तामणिर्दिच्य इतः पिण्याकखण्डकम् । ध्यानेन चेदुभे लभ्ये काद्रियन्तां विवेकिनः ॥२०॥ अन्वय—इतो दिव्यश्चिन्तामणि इतश्च विष्याकखण्डकम् चेत् ध्यानेन उमे लभ्ये, विवेकिनः वय आद्रियन्ताम् ।

टीका — अस्ति । कोऽसो, चिन्तामणिः चिन्तितार्थप्रदो रस्तिविश्वणे, दिव्यो देवेनाधिष्ठितः। वन् , इत अस्मिन्नेकस्मिन् पक्षे । इतश्चान्यस्मिन् पक्षे पिण्याकखण्डकं कुस्तितमस्य वा खळखण्डकमस्ति । एते च उभे हे अपि यदि च्यानेन लम्पेते । अवश्यं लम्पेते तिह्नं कथय वन ह्योगंच्ये कतरस्मिन्नेकस्मिन् विवेकिनो लोभच्छेदविचारचतुरा आद्रियन्ताम् आदर कुर्वन्तु । तदैहिकफलाभिलापं त्यवस्वा आमुत्रिकफलसिद्धचर्यमेवात्मा च्यातव्यः । उक्तं च —

"यद्धचानं रोद्रमात्तं वा, यदैहिकफलार्थिनाम् । तस्मादेतत्परित्यज्य, धर्म्य शुक्लमुपास्यताम्" । २२०॥ –तत्त्वातुशासन

अर्थवमुद्दोधितश्रद्धानो विनेयः पृच्छति, स आत्मा कीदृश इति यो युष्माभिव्यतिव्यतयोपदिष्टः पुमान् स कि —स्वरूप इत्यर्थः । गुरुराह-—॥ २० ॥

अर्थ — इसी ध्यानसे दिव्य चितामणि मिल सकता है, इसीसे खलीके टुकड़े भी मिल सकते हैं। जब कि ध्यानके द्वारा दोनों मिल सकते हैं, तब विवेकी लोग किस ओर आदश्वृद्धि करेंगे ?

विश्वदार्थ—एक तरफ तो देवाधिष्ठत चिन्तित अर्थको देनेवाला चिन्तामणि और दूसरी ओर दूरा व छोटासा खलीका टुकडा, ये दोनो भी यदि ध्यानके द्वारा अवश्य मिल जाते हैं, तो कहो, दोनोंभेसे किसकी ओर विवेकी लोभके नाश करनेके विचार करनेमें चतुर-पुरुष आदर करेंगे? इसलिये इसलोक सम्बन्धी फल कायकी नीरोगता आदिकी अभिलापाको छोडकर परलोक सम्बन्धी फलको सिद्धि-प्राप्तिके लिये ही आत्माका ध्यान करना चाहिये। कहा भी है कि, ''यद् ध्यान रौद्र-मार्त वा॰''।। २०॥

"वह सब रीद्रध्यान या आर्त्तध्यान है, जो इसलोक सम्बन्धी फलके चाहनेवालेको होता है। इसलिये रीद्र व आर्त्तध्यानको छोड़कर धर्म्यध्यान व शुक्लध्यानकी उपासना करनी चाहिये।"

दोहा—इत चितामणि है महत्, उत खल टूक असार। ध्यान उभय यदि देत बुध, किसको मानत सार ॥ २०॥

अव वह शिष्य जिसे समझाये जानेसे श्रद्धान उत्पन्न हो रहा है, पूछता है कि जिसे आपने ध्यान करने योग्य रूपसे बतलाया है वह कैसा है? उस आत्माका क्या स्वरूप है? आचार्य कहते हैं—

स्वसंवेदनसुव्यक्तस्तनुमात्रो निरत्ययः । अत्यन्तसौख्यवानात्मा, लोकालोकविलोकनः ॥ २१ ॥

अन्वय—आत्मा, लोकालोकविलोकनः अत्यन्तसीख्यवान् तनुमात्रः निरत्ययः स्वसंवेदन-सुव्यक्तः (अस्ति) ।

दीका — अस्ति । कौऽसी, आत्मा । कीद्या , लोकालोकविलोकन . लोको जीवाद्याकीर्णमाकाशं ततो-ऽन्यदलोक . तो विशेषेण अशीपविशेषनिष्ठतेया लोकते पश्यति जानाति । एतेन ''ज्ञानशून्यं चेतन्यमात्रमारमा''

१ परिपूर्णतया ।

इति सांख्यमतं बुद्वधादिगुणोज्झतः पुमानिति योगमतं च प्रत्युवतम् । प्रतिव्वस्तश्च नैरात्स्यंवादो बोद्धानाम् । पुन. कोद्धाः, अरयन्तसोख्यवान् अनन्तसुखस्वभावः । एतेन साख्ययोगतन्त्रं प्रत्याहतम् । पुनरिष कोदृशस्तनु-मात्रः स्वोपात्तशरीरपरिमाणः । एतेन न्यापकं वटकणिकामात्रं चारमानं वृदन्तौ प्रत्याख्यातौ । पुनरिष कोदृशः, निरस्ययः द्रन्यरूपतया निर्यः । एतेन गर्भादिमरणपर्यन्तं जीवं प्रतिजानानश्चावोको निराकृतः । ननु प्रमाण-सिद्ध वस्तुन्येवं गुणवादः श्रेयान्न चारमनस्तया प्रमाणसिद्धत्त्यमस्तीरयारेकायामाह—स्वसंवेदनस्वयम्त इति ।

"वैद्यात्व वेदकरवं च, यरस्वस्य स्वेन योगिनः । सरस्वसंवेदनं प्राहुरात्मनोऽनुभव दृशम् ॥ १६१ ॥

—तत्त्वानुशासनम् । इत्येवं लक्षणस्वसंवेदनप्रत्यक्षेणे सकलप्रमाणधुर्येणे मुष्ठु उनते गुणैः संपूर्णतया व्यक्त. विशयतयानु-भूतो योगिभिः स्वेकदेशेन ।

अत्राह शिष्यः यद्येवमात्मास्ति तस्योपास्तिः कथमिति स्पष्टम् आत्मसेवोपायप्रश्नोऽयम् । गुरुराह— ॥ २१ ॥

अर्थ--आरमा लोक और अलोकको देखने जाननेवाला, अत्यन्त अनन्त सुख स्वभाववाला, शरीरप्रमाण, नित्य, स्वसंवेदनसे तथा कहे हुए गुणोंसे योगिजनों द्वारा अच्छी तरह अनुभवमे आया हुआ है।

विद्यार्थ—जोवादिक द्रव्योसे चिरे हुए बाकाशको लोक और उससे अन्य सिर्फ बाकाशको अलोक कहते हैं। उन दोनोंको विशेषरूपसे उनके समस्त विशेषोंमे रहते हुए जो जानने देखनेवाला है, वह आत्मा है। ऐसा कहनेसे "ज्ञानशून्यचेतन्यमात्रमात्मा" ज्ञानसे शून्य सिर्फ चैतन्यमात्र ही आत्मा है, ऐसा सांख्यदर्शन तथा "वृद्धचादिगुणोज्झितः पुमान्" वृद्धि सुख दुःखादि गुणोसे रहित पुष्व है, ऐसा योगदर्शन खडित हुआ समझना चाहिये। और बौद्धोका 'नेरात्म्यवाद' भी खंडित हो गया। फिर बतलाया गया है कि 'वह आत्मा सौख्यवान् अनंत सुखस्वभाववाला है'। ऐसा कहनेसे सांख्य और योगदर्शन खंडित हो गया। फिर कहा गया कि वह "तनुमात्र" 'अपने द्वारा ग्रहण किये गये शरीर—पिरमाणवाला है'। ऐसा कहनेसे जो लोग कहते हैं कि 'आत्मा व्यापक है' अथवा 'आत्मा वटकणिका मात्र है' उनका खंडन हो गया। फिर वह आत्मा "निरत्यय." 'द्रव्यक्त्यसे हिंद है' ऐसा कहनेसे, जो चार्वाक् यह कहता था कि "गर्भसे लगाकर मरणपर्यन्त हो जोव रहता है," उसका खण्डन हो गया।

यहाँपर किसीकी यह शंका है कि प्रमाणसिद्ध वस्तुका ही गुण-गान करना उचित है। परन्तु आत्मामे प्रमाणसिद्धता ही नहीं है—वह किसी प्रमाणसे सिद्ध नहीं है। तब ऊपर कहे हुए विशेषणोसे किसका और कैसा गुणवाद ? ऐसी शंका होनेपर आचार्य कहते है कि वह आत्मा 'स्वसवेदन —सुब्यक्त है,' स्वसंवेदन नामक प्रमाणके द्वारा अच्छी तरह प्रगट है। "वेद्यत्वं वेदकत्वं च०"

"जो योगीको खुदका वेद्यत्व व खुदके द्वारा वेदकत्व होता है, वस, वही स्वसंवेदन कह-लाता है। अर्थात् उसीको आत्माका अनुभव व दर्शन कहते है। अर्थात् जहाँ आत्मा ही ज्ञेय और आत्मा ही जायक होता है, चैतन्यको उस परिणितको स्वसंवेदन प्रमाण कहते है। उसीको आत्मा-नुभव व आत्मदर्शन भी कहते है। इस प्रकारके स्वरूपवाले स्वसंवेदन-प्रत्यक्ष (जो कि सव प्रमाणोमे मुख्य या अग्रणी प्रमाण है) से तथा कहे हुए गुणोसे सम्पूर्णतया प्रकट वह आत्मा योगि-जनोको एकदेश विश्वदरूपसे अनुभवमे आता है।"॥ २१॥

१ वाभावात्मको मोक्ष: । २ ब्रुवन् । ३ प्रमाणेन । ४ मुख्येन ।

दोहा—निज अनुभवसे प्रगट है, नित्य ज्ञरीर-प्रमान । लोकालोक निहारता, आतम अति सुखवान ॥ २१ ॥

यहाँपर शिष्य कहता है, कि यदि इस तरहका आत्मा है तो उसकी उपासना कैसे की जानी चाहिये ? इसमें आत्मध्यान या आत्मभावना करनेके उपायोंको पूछा गया है ।

आचार्य कहते है-

संयम्य करणग्राममेकाग्रत्वेन चेतसः । आत्मानमात्मवान् ध्यायेदात्मनैवात्मनि स्थितम् ॥ २२ ॥

अन्वय—करणग्रामं संयम्य चेतसः एकाग्रत्वेन आत्मवान् आत्मिन स्थितं आत्मानं आत्मना एव ध्यायेत् ।

टीका-च्यायेत् भावयेत् । कोऽसी, आत्मवान् गुप्तेन्द्रियमना अध्वस्तस्यायत्तवृत्तिर्वा । कं, आत्मनं यथोक्तस्वभाव पृष्पम् । केन, आत्मनंव स्वसवेदनरूपेण स्वेनैव तत्काप्ती करणान्तराभावात् । उवतं च---

"स्वपरज्ञप्तिरूपत्वात्, न तस्य कारणान्तरम् । ततश्चिन्ता परित्यज्य, स्वसंवित्ययैव वेद्यताम्" ॥१६२॥ —तत्त्वानुतासनम् ।

चव तिष्ठन्तिमित्याह्, आत्मिनि स्थितं वस्तुतः सर्वभावागां स्वरूपमात्राधारत्वात् । कि कृत्वा ? संयम्य रूपादिन्यो व्यावृत्त्य । कि, करणप्रामं चक्षुरादीन्द्रियगणम् । केनोपायेन, एकाग्रत्वेन एकं विविश्वतिमात्मानं तद् द्रव्यं पर्यायो वा अग्रं प्राधान्येनालम्बनं विषयो यस्य अथवा एकं पूर्वापरपर्यायाजनुस्यूतं अग्रमात्मग्राह्य यस्य तदेकाग्रं तद्भावेन । कस्य, चेतसो मनसः । व्यमर्थो यत्र चविद्वात्मन्येव वा श्रुतज्ञानावष्टम्भात् आलम्बतेन मनसा इन्द्रियाणि निरुद्वयं स्वात्मानं च भावियत्वा तत्रैकाग्रतामासाद्य विन्ता त्यक्त्वा स्वयंवेदनेनैवात्मान-मनुभवेत् । उन्तं च—

"गहियं तं सुअणाणा, पच्छा संवेषणेण भाविज्जा । जो ण हु सुयमवलंबद्द, सो सुज्झद्द अप्पसन्भावो ॥" ---अनगारघर्मामृतं तृतीयोऽच्यायः पृ० १७० ॥

तथाच "प्राच्याच्य विषयेभ्योऽहं, मां मयैव मिय स्थितम् । बीद्यातमानं प्रपन्नोऽस्मि परमानन्दनिवृत्तम्" ---समाधिश्यतकम् ।

अथाह शिष्यः आत्मोपासनया किमिति भगवन्नात्मसेवनया कि प्रयोजनं स्यात् फलप्रतिपैत्तिपूर्वकत्वा-ह्येक्षावत्प्रवृत्तेरिति पृष्टः सन्नाचष्टे—॥ २२॥

अर्थ---मनकी एकाग्रतासे इन्द्रियोंको वशमें कर ध्वस्त-नष्ट कर दी है स्वच्छन्द वृत्ति जिसने ऐसा पुरुष अपनेमें ही स्थित आत्माको अपने ही द्वारा ध्यावे ।

विश्रदार्थ —िजसने इन्द्रिय और मनको रोक लिया है अथवा जिसने इन्द्रिय और मनकी उच्छू खल एव स्वैराचारूप प्रवृत्तिको ध्वस्त कर दिया है, ऐसा आत्मा, जिसका स्वरूप पहिले (नं० २१ के च्लोकमें) बता लाये है, आत्माको आत्मासे ही यानी स्वसंवेदनरूप प्रत्यक्ष ज्ञानसे

१. अविच्छिन्नं प्रवर्तमानं । २. फल ज्ञान ।

ही ध्याबे, कारण कि स्वयं आत्मामे हो जगको जीत (जान) होती है। उस विमें बीर्ट करणान्तर नहीं हाते । जैसा कि सच्चानुजागनमं कहा है-- 'स्वगन्तिस्ववस्वान्'

"वह आत्मा स्वपर-प्रतिभागस्यगर है । यह स्वयं ही स्वयं से जानता है बीर पक्षेर जानता है। उसमें उससे भिन्न अन्य प्रस्णांका आवडमकता नहीं है। इमिन्से निहानों होड़ स्वसंवित्ति-स्वसवेदनके हारा ही उसे जाती, यो हि सुदर्भ ही स्थित है। साम्य हि परमहे सभी पदार्थ स्वरूपमे ही रहा करते हैं। इसके लिये उचित है कि मनकी एकाप कर वस् शिंक इन्द्रियोंकी अपने अपने विषयों (मन आदियों) से व्यावृत्ति करे ।" महीपर संस्कृतनीता पंडित आशाधर जीने 'एकाम्र' शब्दके दो अर्थ प्रथमित किये हैं। एक कहिये विनिधन केई ए आत्मा, जथना कोई एक द्रव्य, अथना पर्याय, वही है अग्र कहिये प्रधानतामे आलम्बनमूर्वासा जिसका ऐसे मनको कहेरे 'एकात्र' अथवा एक कहिये पूर्वावर पर्वायाम अविच्छिन्न रूपसे प्रकृतिक द्रव्य-आत्मा वही है, अग्र-आत्मग्राह्म जिमका ऐसे मनको एकाग्र कहेंगे ।

सागञ्ज यह है कि जहा कहीं अथवा आत्मामें ही श्रुतज्ञानके महारेसे भावनायुक्त हुए पक द्वारा इन्द्रियोंको रोक कर स्वास्माकी भावना कर उसीमें एकाग्रताकी प्राप्त कर चिन्ताकी छोड़क स्वसंवेदनके ही द्वारा आत्माका अनुभव करे। जैसा कि कहा भी हं—"गहिय तं सुग्रणाणाः अर्थ-''उस (आत्मा) को श्रुतज्ञानके द्वारा जानकर पीछे संवेदन (स्वस्वेदन) में अनु भव करे । जो श्रुतज्ञानका आलम्बन नहीं छता वह आत्मस्वभावके विषयमें गडवड़ा जाता है। इसी तरह यह भी भावना करे कि जैसा कि पूज्यापादस्वामीके समाविशतकमे कहा है— "प्राच्मार्य

विषयेभयोऽहं ॰ '

"मै इन्द्रियोके विषयोसे अपनेको हटाकर अपनेमें स्थित ज्ञानस्वरूप एवं प्रमानत्वमी आपको अपने ही द्वारा प्राप्त हुआ है।" ॥ २२॥ े

दोहा-मनको कर एकाग्र, सब इंद्रियविषय मिटाय।

े आतमज्ञानी आंत्ममे, निजंको निजसे घ्याय ॥ २२ ॥

यहाँपर शिष्यका कहना है कि भगवन् । आत्मासे अथवा आत्माकी उपासना करनेसे का 'तलब समेगा-ज्या फरू मिलेगा ? झयोंकि विचारवानोंकी प्रवृत्ति तो फरूज्ञानपूर्वक हुआ करती , इस प्रकार पूछे जानेपर आचार्य जवाब देते है-

अज्ञानोपास्तिरज्ञानं, ज्ञानं ज्ञानिसमाश्रयः । ः

ददाति यत्तु यस्यास्ति, सुत्रसिद्धमिद वंचा ॥ २३ ॥ -

् / अन्वय—अञ्चानोपास्तिरज्ञानं, ज्ञानिसमाश्रयः ज्ञानं देदाति 'यत्तु तस्य अस्ति तदेव वदाित' letter better the Circ हं सुप्रसिद्ध वचः।

े दीका—ददाति । काषी, अंज्ञानस्य देहादेमूंडभ्रान्तिः संदिग्धंनुर्वदिवां उपास्ति सेवा । कि वे बजान (भूमसर्वेहेलक्षण । तथा दराति । कासी, श्रोतिन स्वभावस्थारमनी भागसंपन्नेगुविदेव समार्थम् । अन्य प्राभीवनं । कि ? ज्ञानं स्वार्थाववीयम् । उपतं च づ 🐪

"ज्ञानमेत्र फल जाने, ननु रलाध्यमनव्यरम् । अहो मोहस्य माहात्म्यमन्यदंष्यन मृत्यते", ॥१७५॥

को अत्र दृष्टान्त इत्याह यदित्यादि । ददातीत्यत्रापि योज्यं 'तुरवधारणे । तेनायमर्थः संपद्यते । यद्येव यस्य स्वाधीनं विद्यते स सेन्यमानं तदेव ददातीत्येतद्वावयं लोके सुप्रतीतमतो भद्र ज्ञानिनमुपास्य समुल्लंभित-स्वपरिविकेज्योतिरजसमास्मानमात्मिनि सेन्यक्च । अत्राप्याह शिष्यः → ज्ञानिनोघ्यात्मस्वस्यस्य किं भवतीति निष्यत्रयोग्यपेक्षया स्वात्मस्यानफलप्रकोऽयम् । गुरुराह—।। २३ ॥

अर्थ — अज्ञान किंद्रये ज्ञानसे रिहत शरीरादिककी सेवा अज्ञानको देती है, और ज्ञान पुरुषों-की सेवा ज्ञानको देती है। यह वात प्रसिद्ध है, कि जिसके पास जो कुछ होता है, वह उसी को देता है, दूसरी चीज जो उसके पास है नहीं, वह दूसरेको कहाँसे देगा?

विज्ञहार्थ—अज्ञान शब्दके दो अर्थ हैं, एक तो ज्ञान रहित शरीरादिक और दूसरे मिथ्या-ज्ञान (मोह-फ्रांति-संदेह) वाले मूढ़-फ्रांत तथा संदिग्ध गुरु आदिक। सो इनकी उपासना या सेवा अज्ञान तथा मोह-फ्रम व संदेह लक्षणात्मक मिथ्याज्ञानको देती है। और ज्ञानी कहिये, ज्ञान-स्वभाव आत्मा तथा आत्मज्ञानसम्पन्न गुरुओंकी तत्परताके साथ सेवा, स्वार्थावबोधरूप ज्ञानको देती है। जैसा कि श्रीगुणभद्राचार्यने आत्मानुशासनमें कहा है—"ज्ञानमेव फलं ज्ञाने॰"

"ज्ञान होनेका फल, प्रशंसनीय एवं अविनाशी ज्ञानका होना ही है, यह निश्चयसे जानो । अहो ! यह मोहका ही माहात्म्य है, जो इसमें ज्ञानको छोड़ कुछ और ही फल ढूँढ़ा जाता है । ज्ञानात्मासे ज्ञानकी ही प्राप्ति होना न्याय है । इसिलिये हे भद्र ! ज्ञानीकी उपासना करके प्रयट हुई है स्व-पर विवेकरूपी ज्योति जिसको ऐसा आत्मा, आत्माके द्वारा आत्मामें ही सेवनीय है, अनन्यशरण होकर भावना करनेके योग्य है ।" ॥ २३ ॥

दोहा—अज्ञभक्ति अज्ञानको, ज्ञानभक्ति दे ज्ञान। लोकोक्ती जो जो घरे, करे सो ताको दान॥२३॥

यहाँ फिर भी शिष्य कहता है कि अध्यात्मलीन ज्ञानीको क्या फल मिलता है ? इसमें स्वात्मनिष्ठ ग्रोगीकी अपेक्षासे स्वात्मध्यानका फल पूछा गया है । आचार्य कहते हैं—

परीपहाद्यविज्ञानादास्त्रवस्य निरोधिनी । जायतेऽध्यात्मयोगेन, कर्मणामाशु निर्जरा ॥ २४ ॥

अन्वय—अध्यात्मयोगेन परीषहाद्यविज्ञानात् आस्रवस्य निरोधिनी कर्मणां निर्जरा आशु जायते ।

टीका — जायते भवति । कासौ, निर्णरा एकदेशेन संक्षयो विश्लेष इत्यर्थः । केषा, कर्मणा सिद्धयोग्य-पेक्षयाऽशुभाना च शुभानां साध्ययोग्यपेक्षया त्वसद्देशादीनाम् । कथमाशु सद्यः । केन, अध्यात्मयोगेन अध्यात्म-न्यात्मन. प्रणिवानेन, किं केवला, नेत्याह-निरोधिनी प्रतिषेषयुक्ता । कस्यास्रवस्थागमनस्य कर्मणामित्यत्रापि योज्यम् । कुत इत्याह, परीपहाणा क्षुधादिदुः अभेदानामादिशव्दाहेवादिकृतोपसर्गवाधानां चाविज्ञानादसंविदनात् । तथा चोक्तम्—

"यस्य पुण्यं च पापं च, निष्फलं गलति स्वयम् । स योगी तस्य निर्वाणं, न यस्य पुनराह्मवः" ॥२४६॥ ----ब्रात्सानुशासनम् ।

"तथा ह्यचरमाङ्गस्य, व्यानमम्यस्यतः सदा । निर्जरा संवर६चास्य सकलाशुभकर्मणाम्" ॥२२५॥ ≔तत्त्वानुशासनम्। ही ध्यावे. कारण कि स्वयं आत्मामे ही उसकी ज्ञप्ति (ज्ञान) होती है। उस ज्ञप्तिमें और कोई करणान्तर नहीं होते । जैसा कि तत्त्रानुशासनमें कहा है—''स्वपरज्ञमिरूपत्वात्ं'

"'वह आत्मा स्वपर-प्रतिभासस्वरूप है। वह स्वयं ही स्वयंकी जानता है, और परकी भी जानता है। उसमे उससे भिन्न अन्य करणोको आवश्यकता नहीं है। इसलिये चिन्ताको छोडकर स्वसंवित्ति-स्वसचेदनके द्वारा ही उसे जानो, जो कि खुदमे ही स्थित है। कारण कि परमार्थसे सभी पदार्थ स्वरूपमे ही रहा करते हैं। इसके लिये उचित है कि मनको एकाग्र कर चक्षु आदिक इन्द्रियोंकी अपने अपने विषयो (रूप आदिको) से व्यावत्ति करे।" यहांपर संस्कृत-टीकाकार पंडित आजाधर जीने 'एकाग्र' शब्दके दो अर्थ प्रदेशित किये है। 'एक किये विवक्षित कोई एक आत्मा, अथवा कोई एक द्रव्य, अथवा पूर्वाय, वही है, अग्र कहिये प्रधानतासे आलम्बनभूत विषय जिसका ऐसे मनको कहेंगे 'एकाम्र' अथवा एक किहये पूर्वापर पर्यायोमे अविच्छिन्न रूपसे प्रवर्तमान द्रव्य-आत्मा वही है, अग्र-आत्मग्राह्म जिसका ऐसे मनको एकाग्र कहेगे।

साराज्ञ यह है कि जहाँ कहीं अथवा आत्मामें ही श्रुतज्ञानके सहारेसे भावनायुक्त हुए मनके द्वारा इन्द्रियोको रोक कर स्वात्माकी भावना कर उसीमें एकाग्रताको प्राप्त कर चिन्ताको छोड़कर स्वसंवेदनके ही द्वारा आत्माका अनुभव करे। जैसा कि कहा भी है—"गहिय तं सुमणाणा०"

्अर्थ- "उस (आत्मा) को श्रुतज्ञानके द्वारा जानकर पीछे संवेदन (स्वसवेदन) में अनु-भव करे। जो श्रतज्ञानका आलम्बन नहीं लेता वह आत्मस्वभावके विषयमे गडबड़ा जाता है। इसी तरह यह भी भावना करे कि जैसा कि पूज्यापादस्वामीके समाधिशतकमे कहा है- "प्राच्याव्य विषये भयोऽहं ॰''

"मै इन्द्रियोके विषयोसे अपनेको हटाकर अपनेमें स्थित ज्ञानस्वरूप एवं परमानन्दमयी अपनो अपने ही द्वारा प्राप्त हुआ हूँ।" ॥ २२ ॥ १ · · ·

दोहा-मनको कर एकाग्र, सब इंद्रियविषय मिटाय।

अतमज्ञानी आत्ममें, निजको निजसे ध्याय ॥ २२ ॥ यहाँपर ज्ञिष्यका कहना है कि भगवन् । आत्मासे अर्थना आत्माकी उपासना करनेसे क्या मतलब सधेगा-निया फरु मिलेगा ? वयोकि विचारवानीकी प्रवृत्ति तो फेलजानपूर्वक हुआ करती है, इस प्रकार पूछे जानेपर आचार्य जवाब देते है-

् अज्ञानोपास्तिरज्ञानं ज्ञानं ज्ञानिसमाश्रयः । 🗀 🗀 ददाति यत्तु यस्यास्ति, सुप्रसिद्धमिद वेचा ॥ २३ ॥ .

. अन्वय—अज्ञानोपास्तिरज्ञान्_{रः}ज्ञानिसमार्थयः ज्ञानं ददाति ''यत्तु' तस्य अस्ति तदेव ददाति'' HALL GASTAL CO. इदं सुप्रसिद्ध वचः।

विक्रिक टीका - देवाति । कासी, अज्ञानस्य देहोंदेर्मूढेम्रान्ति संदिग्धर्मुवृद्धिया ज्यास्ति सेवा । कि [?] अञ्चानं, मोहश्रमसर्वेहलक्षण । तथा देवाति । कासी, ज्ञानित स्वभावस्यारमनी ज्ञानसपन्नगुवदिव समार्थय । अनन्य-परंगा सेवनं । कि ? ज्ञानं स्वार्थावबोधम् । उनतं च, 🚉 🔠 🖟 🤼 🧎

"ज्ञानमेव फल ज्ञाने, ननु क्लाध्यमनश्वरम् !! बहो मोहस्यः माहात्म्यमन्यदंष्यत्रः मृग्यते"ः॥१७५॥ ---आत्मानुशासनम् ।

को अत्र दृष्टान्त इत्याह यदित्यादि । ददातीत्यत्रापि योज्यं 'तुरवधारणे । तेनायमर्थः संपधते । यद्येव यस्य स्वाधीमं विद्यते स सेन्यमानं तदेव ददातीत्येतद्वावयं लोके सुप्रतीतमतो भद्र ज्ञानिनमुपास्य समुल्लंभित-स्वपरविवेकज्योतिरजसमारमानमारमान सेन्यरच । अत्राप्याह शिष्यः—ज्ञानिनोध्यारमस्वस्थस्य कि भवतीति निष्यत्रयोग्यपेक्षया स्वात्मव्यानफलप्रकोऽयम् । गुरुराह्—॥ २३ ॥

अर्थ — अज्ञान किंद्रये ज्ञानसे रिहत शरीरादिककी सेवा अज्ञानको देती है, और ज्ञान पुरुषों-की सेवा ज्ञानको देती है। यह बात प्रसिद्ध है, कि जिसके पास जो कुछ होता है, वह उसी को देता है, दूसरो चीज जो उसके पास है नहीं, वह दूसरेको कहाँसे देगा ?

विश्वदार्थ—अज्ञान शब्दके दो अर्थ है, एक तो ज्ञान रहित शरीरादिक और दूसरे मिथ्या-ज्ञान (मोह-फ्रांति-संदेह) वाले मूड-फ्रांत तथा संदिग्ध गुरु आदिक। सो इनकी उपासना या सेवा अज्ञान तथा मोह-फ्रम व संदेह लक्षणात्मक मिथ्याज्ञानको देती है। और ज्ञानी कहिये, ज्ञान-स्वभाव आत्मा तथा आत्मज्ञानसम्पन्न गुरुओंकी तत्परताके साथ सेवा, स्वार्थाववोधरूप ज्ञानको देती है। जैसा कि श्रीगुणभद्राचार्यने आत्मानुशासनमें कहा है—"ज्ञानमेव फलं ज्ञाने॰"

"ज्ञान होनेका फल, प्रशंसनीय एवं अविनाशी ज्ञानका होना ही है, यह निश्चयसे जानो। अहो! यह मोहका हो माहात्म्य है, जो इसमें ज्ञानको छोड़ कुछ और ही फल ढूँढ़ा जाता है। ज्ञानात्मासे ज्ञानकी ही प्राप्ति होना न्याय है। इसिलिये हे भद्र! ज्ञानीकी उपासना करके प्रगट हुई है स्व-पर विवेकरूपी ज्योति जिसको ऐसा आत्मा, आत्माके द्वारा आत्मामें ही सेवनीय है, अनन्यशरण होकर भावना करनेके योग्य है।"॥ २३॥

दोहा—अज्ञभिक्त अज्ञानको, ज्ञानभिक्त दे ज्ञान। लोकोक्तो जो जो घरे, करे सो ताको दान॥२३॥

यहाँ फिर भी शिष्य कहता है कि अध्यात्मलीन ज्ञानीको क्या फल मिलता है ? इसमे स्वात्मनिष्ठ योगोको अपेक्षासे स्वात्मध्यानका फल पूछा गया है । आचार्य कहते हैं—

परीपहाद्यविज्ञानादास्त्रवस्य निरोधिनी । जायतेऽध्यात्मयोगेन, कर्मणामाज्ञु निर्जरा ॥ २४ ॥

अन्वय—अध्यात्मयोगेन परीषहाद्यविज्ञानात् आस्रवस्य निरोधिनी कर्मणां निर्जरा आज्ञु जायते ।

टीका—जायते भवति । कासी, निर्णरा एकदेशेन संक्षयो विश्लेष इत्यर्थः । केषा, कर्मणा सिद्धयोग्य-पेक्षयाऽशुभाना च शुभानां साध्ययोग्यपेक्षया त्वसद्धेद्यादीनाम् । कथमाशु सद्यः । केन, अध्यात्मयोगेन अध्यात्म-ग्यात्मनः प्रणिधानेन, किं केवला, नेत्याह-निरोधिनी प्रतिषेषयुक्ता । कस्यास्रवस्यागमनस्य कर्मणामित्यवािष योज्यम् । कुत इत्याह, परीपहाणा झुधाबिदुःखभेदानामादिशब्दाहेवादिकृतोपसर्गवाधानां चाविज्ञानादसंवेदनात् । तथा चोक्तम्—

"यस्य पुण्यं च पापं च, निष्फलं गलति स्वयम् । स योगी तस्य निर्वाणं, न यस्य पुनरास्रवः" ।।२४६॥ —आत्सानुवासनम् ।

"तथा ह्यचरसाङ्गस्य, त्र्यानमम्यस्यतः सदा । 'निर्जुरा संवरश्चास्य सकळाशुभकर्भणाम्'' ॥२२५॥ —तत्त्वानुशासनम् । "आत्मदेहान्तरज्ञानजनिताल्हादिनवृंत:। तपसा दुःष्कृतं घोरं मुङ्जानोऽपि न खिद्यते"।।३४॥ —समाघिशतकम।

एतच्य व्यवहारानपाडुच्यते । कृत इत्यात्राङ्काया पुनराचार्य एवाह्—सा खलु कर्मणो भवति तस्य संवाध्यस्तवा कथिमिति । वत्स आकर्णय खलु यस्मात्सा एकदेशेन विवलेपलक्षणा निर्जरा कर्मणः चित्सामान्यानृविधायिपुद्गलपिणामरूपस्य द्रव्यकर्मणः संविध्यमी संभवति द्रव्ययोरेव संयोगपूर्वविभागसंभवात् । तस्य च द्रव्यकर्मणस्या योगिनः स्वरूपभावादस्यानकाले संवाधः प्रत्यासत्तिरास्मा सह । कथं केन संयोगादिप्रकारेण संभवति ? सुरुमेक्षिकया समीक्षस्य न कथमि संभवतीत्ययः । यदा खल्वास्मैव व्यानं व्ययं च स्थात्तवा सर्वासमान्यास्मनः परद्रव्याद् व्यावृद्य स्वरूपमात्रावस्यितद्यास्तवं द्रव्यान्तरेण संवाधः स्यात्तस्य द्विष्टत्वात् । न चैतत्ससारिणो न संभवतीति वाच्यं । संसारतीरप्राप्तस्य योगिनो मुक्तात्मवत् पञ्चहृत्वस्वरोच्यारणकालं यावत्त्यानस्यानसभावत् कर्मक्षपणामिमुखस्य लक्षणोरक्वप्रकृत्वस्थासंस्कारावेशवशात्तावन्मात्रकर्मपारवन्त्र्यव्यवहरणात् । तथा चोक्तं परमागमे—

"सीलेसि संपत्तो, णिरुद्धणिरसेसबासवो जीवो। कम्मरयविष्यमुक्को, गयजोगो केवली होदि" ॥ ६५ ॥--गोम्मटसारः जीवकाडः। श्रुयता चास्यैवार्णस्य संग्रहरुलोकः॥ २४॥

अर्थ--आत्मामें आत्माके चितवनरूप ध्यानसे परीषहादिकका अनुभव न होनेसे कर्मोंके आगमनको रोकनेवाली कर्म-निर्जरा जीव्र होती है।

विश्वसर्थ — अध्यात्मयोगसे आत्मामें आत्माका ही ध्यान करनेसे कर्मोंकी निर्जरा (एक-देशसे कर्मोंका क्षय हो जाना, कर्मोंका सम्बंब छूट जाना) हो जाती है। उसमे भी जो सिद्धयोगी हैं, उनके तो अशुभ तथा शुभ दोनों ही प्रकारोके कर्मोंकी निर्जरा हो जाती है। और जो साध्य-योगी हैं, उनके असातावेदनीय आदि अशुभ कर्मोंकी निर्जरा होती है। कोरी निर्जरा होती हो सो बात नहीं है। अपि तु भूख-प्यास आदि दु खके भेदो (परीवहो) की तथा देवादिकोंके द्वारा किये गये उपसर्गोंकी बाघाको अनुभवमें न लानेसे कर्मोंके आगमन (आस्रव) को रोक देनेवाली निर्जरा भी होती है। जैसा कि कहा भी है:—''यस्य पुण्यं च पापं चठ''

"जिसके पुण्य और पापकर्म, विना फल दिये स्वयमेव (अपने आप) गल जाते हैं—खिर जाते हैं, वही योगी है। उसको निर्वाण हो जाता है। उसके फिर नवीन कर्मोंका आगमन नही होता। इस इलोक द्वारा पुण्य-पापरूप दोनों ही प्रकारके कर्मोंकी निर्जरा होना बतलाया है। और भी तत्त्वानुशासनमें कहा है—"तथा ह्यचरमांगस्य?"

चरमशरीरीके ध्यानका फल कह देनेके बाद आचार्य अचरमशरीरीके ध्यानका फल बतलाते हुए कहते हैं—िक जो सदा ही ध्यानका अभ्यास करनेवाला है, परन्तु जो अचरमशरीरी है, (तद्मवमोक्षगामी नही है) ऐसे ध्याताको सम्पूर्ण अशुभ कर्मोंकी निर्जरा व संवर होता है। अर्थात् वह प्राचीन एवं नवीन समस्त अशुभ कर्मोंका संवर तथा निर्जरा करता है। इस श्लोक हारा पापरूप कर्मोंकी ही निर्जरा व उनका संवर होता बतलाया गया है। और भी पूज्यपादस्वामो ने समाधिशतकर्में है—"आस्मदेहान्वरज्ञान॰"

"आत्मा व शरीरके विवेक (भेद) ज्ञानसे पैदा हुए आनन्दसे परिपूर्ण (युक्त) योगा, तपस्याके द्वारा भयंकर उपसर्गों व घोर परीषहोको भोगते हुए भी खेद-खिन्न नहीं होते हैं।

यह सब व्यवहारनयसे कहा जाता है कि बन्धवाले कर्मोकी निर्जरा होती है, परमार्थसे

नहीं। कदाचित् तुम कहो कि ऐसा क्यों ? आचार्य कहते हैं कि वत्स ! सुनो, क्यों कि एकदेश में सम्बन्ध छूटजाना, इसीको निर्जरा कहते हैं। वह निर्जरा कर्मकों (चित्सामान्यके साथ अन्वय-व्यत्तिरेक रखनेवाले पुद्गलों परिणामरूप द्रव्यकर्मकों) हो सकती है। क्यों कि संयोगपूर्वक विभाग दो द्रव्यों में हो बन सकता है। अब जरा वारीक दृष्टिसे विचार करों कि उस समय जब कि योगी पुरुष स्वरूपमात्रमें अवस्थान कर रहा है, उस समय द्रव्यकर्मका आत्माके साथ संयोगादि सम्बन्धों मेसे कौन-सा सम्बन्ध हो सकता है? मतलब यह है कि किसी तरहका सम्बन्ध नहीं बन सकता। जिस समय आत्मा ही ध्यान और ध्येय हो जाता है, उस समय हर तरहसे आत्मा परद्रव्योसे व्यावृत होकर केवलस्वरूपमें हो स्थित हो जाता है। तब उसका दूसरे द्रव्यसे सम्बन्ध कैसा? क्यों कि सम्बन्ध तो दोमें रहा करता है, एकमें नहीं होता है।

यह भी नहीं कहना कि इस तरहकी अवस्था संसारीजीवमें नहीं पाई जाती। कारण कि संसाररूपी समुद्र-तटके निकटवर्ती अयोगीजनोंका मुक्तात्माओकी तरह पंच ह्रस्व अक्षर (अ इ उ ऋ ळू) के बोलनेमें जितना काल लगता है, उतने कालतक वैसा (निर्वन्थ-वन्ध रहित) रहना सम्भव है।

शीघ्र हो जिनके समस्त कर्मोंका नाश होनेवाला है, ऐसे जीवों (चौदहवें गुणस्थानवाले जीवों) में भी उत्कृष्ट शुक्लेश्याके संस्कारके वशसे उतनी देर (पंच ह्रस्व अक्षर वोलनेमें जितना समय लगता है, उतने समय) तक कर्मपरतन्त्रताका व्यवहार होता है जैसा कि परमागममें कहा गया है—"सीलेंसि संपत्तो॰"

"जो जीलोंके ईशस्य (स्वामित्व) को प्राप्त हो गया है, जिसके समस्त आस्रव रुक गये है, तथा जो कर्मरूपी धूलीसे रहित हो गया है, वह गतयोग-अयोगकेवली होता है" ॥ २४॥

दोहा—परिषहादि अनुभव विना, आतम-ध्यान प्रताप। शोद्र ससंवर निर्जरा, होत कर्मकी आप॥ २४॥

उपरिलिखित अर्थको बतलानेवाला और भी क्लोक सुनो-

कटस्य कर्ताहमिति, संबन्धः स्याद् द्वयोर्द्वयोः । ध्यानं ध्येयं यदारमैव, संबन्धः कीदृशस्तदा ॥ २५ ॥

अन्वय—अहं कटस्य कत्ती इति द्वयोर्द्वयोः संबन्धः स्यात्, यदा आत्मैव ध्यानं ध्येयं तदा कीदृधः सबन्ध ।

दीका—स्याद् भवेत् । कोशौ, संबन्धः द्रध्यादिना प्रत्यासितः । कयोद्वंयोः कथंचिद् भिन्नयोः पदार्थयो. इति अनेन लोकप्रसिद्धेन प्रकारेण कथमिति यथाहमस्मि । कीदृष्यः, कर्ता निर्माता । कस्य, कटस्य वंशवलाना जलादिप्रतिवन्धाद्यर्थस्य परिणामस्य । एवं संवन्धस्य द्विष्ठतां प्रदर्श्य प्रकृतेर्व्यतिरेकमाह । ध्यानमित्यादि ध्यायते येन ध्यायति वा यस्तद्वचानं ध्यानिक्षियां प्रति करणं कर्ता वा । उक्तं च—

"च्यायते येन तद्धचानं, यो व्यायित स एव वा । यत्र वा व्यायते यद्वा, व्यातिर्वा व्यानमिष्यते ?"।।६७॥ —तत्त्वानुशासनम् ।

घ्यायत इति घ्येयं वा घ्यातिकियया घ्याप्यं । यदा यस्मिन्नात्मनः परमात्मना सहैकीकरणकाले आत्मैव

चिन्मात्रमेव स्थात्तवा कीवृधाः संयोगादिप्रकारः संबन्धो द्रव्यकर्मणा सहात्मनः स्थात् येन जायतेऽध्यात्मयोगेन कर्मणामाधु निर्जरित परमार्थतः कथ्यते । अत्राह शिष्यः—तिहं कथं अप्रतिपदाश्च मोक्ष इति भगवन् यद्यात्म-कर्मवन्यस्ते, द्रव्ययोर्घ्यात्मयोगेन विश्लेष कियते । तिहं कथं केनोपायप्रकारेण त्योर्थन्यः परस्परप्रदेशानु-प्रवेशलक्षणः संश्लेषः स्थात् । तत्पूर्यकत्वाद्विश्लेषस्य कथं च तत्प्रतिपक्षो यन्धविरोधो मोक्षः सक्लकर्मविद्लेष-लक्षणो जीवस्य स्थात्तस्यैवानन्तसुखहेनुत्वेन योगिभिः प्रार्थनीयत्वात् । गृहराह्—॥ २५ ॥

अर्थे—"मै चटाईका बनानेवाला हूँ" इस तरह जुदा-जुदा दो पदार्थों में सम्बन्ध हुआ करता है। जहाँ आत्मा ही ध्यान, ध्याता (ध्यान करनेवाला) और ध्येय हो जाता है, वहाँ सम्बंध कैसा?

विश्वदार्थ—लोकप्रसिद्ध तरीका तो यही है, कि किसी तरह भिन्न (जुदा जुदा) दो पदार्थोंमें संबन्घ हुआ करता है। जैसे बीसकी खपिच्चियोसे जलादिकके सबंधसे बननेवाली चटाईका
मैं कर्त्ता हूँ—बनानेवाला हूँ। यहाँ बनानेवाला 'मैं' जुदा हूँ और बननेवाली 'चटाई' जुदी है।
तभी उनमें 'कर्तृकर्में' नामका सम्बंध हुआ करता है। इस प्रकार सम्बंध द्विष्ठ (दो में रहनेवाला)
हुआ करता है। इसको बतलाकर, प्रकृतमें वह बात (भिन्नता) विलक्कुल भी नहीं है इसको
दिखलाते है।

"ध्यायते येन, ध्यायित वा यस्तद् ध्यान, ध्यातिक्रियां प्रति करणं कर्ता च"—िजसके द्वारा ध्यान किया जाय अर्थात् जो ध्यान करनेमे करण हो—साधन हो उसे ध्यान कहते हैं। तथा जो ध्याता है—ध्यानका कर्ता है, उसे भी ध्यान कहते हैं, जैसा कि कहा भी है—"ध्यायते येन तद् ध्यानं॰"

"जो ध्येज् चिन्तायाम्" घातुका व्याप्य हो अर्थात् जो ध्याया जावे, उसे ध्येय कहते हैं। परंतु जब आत्माका परमात्माके साथ एकीकरण होनेके समय, आत्मा ही चिन्मात्र हो जाता है, तब संयोगादिक प्रकारोमेसे द्रव्यकर्मोंके साथ आत्माका कौनसे प्रकारका सम्बन्ध होगा? जिससे कि "अध्यात्मयोगसे कर्मोंकी शोध्र निर्जरा हो जाती है" यह बात परमार्थसे कही जावे। मावार्थ यह है कि आत्मासे कर्मोंका सम्बन्ध छूट जाना निर्जरा कहलाती है। परंतु जब उत्कृष्ट अहैत ध्यानावस्थामें किसी भी प्रकार कर्मका सम्बन्ध नही, तब छूटना किसका? इसलिये सिद्धयोगी कहों या गतयोगी अथवा अयोगकेवली कहो, उनमे कर्मोंकी निर्जरा होती है, यह कहना व्यवहारन्यसे ही है, परमार्थसे नहीं।"॥ २५॥

दोहा—'कटका मै कर्तार हूँ" यह द्विष्ठ सम्बन्ध। आप हि ध्याता ध्येय जहुँ, कैसे भिन्न सम्बन्ध॥ २५॥

यहाँपर शिष्यका कहना है कि भगवन् ! यदि आत्मद्रव्य और कर्मद्रव्यका अध्यात्मयोगके बलसे बन्ध न होना बतलाया जाता है, तो फिर किस प्रकारसे उन दोनोमें (आत्मा और कर्मष्ट्य पुद्गल द्रव्योंमें) परस्पर एकके प्रदेशोमें दूसरेके प्रदेशोका मिलजाना रूप वय होगा ? क्योंकि बन्धाभाव तो वंधपूर्वक ही होगा । और वंधका प्रतिपक्षो, सम्पूर्ण कर्मोंकी विमुक्तावस्था रूप मोक्ष भी जीवको कैसे बन सकेगा ? जो कि अविच्छित्र अविनाशी सुखका कारण होनेसे योगियोंके द्वारा प्रार्थनीय हुआ करता है ? आचार्य कहते है—

वध्यते मुच्यते जीवः, सममो निर्ममः क्रमात् । तस्मात्सर्वप्रयत्नेन, निर्ममत्वं विचिन्तयेत् ॥ २६ ॥

अन्वय-सममः निर्ममः जीवः क्रमात् बघ्यते मुच्यते तस्मात् सर्वप्रयत्नेन निर्ममत्वं विचिन्तयेत्।

दीका-ममेत्यव्ययं ममेदिमत्यिभिनवेशार्थमन्ययानामनेकार्थत्वात् तेन सममो ममेदिमित्यभिनिवेशार्विष्टो अहमस्येत्यभिनिवेशाविष्टरचोपलक्षणत्वात् जीवः कर्ममिर्वष्यते । तथा चौक्तम्-

"न कर्मबहुलं जगन्नचलनात्मकं कर्म्म वा न नैककरणानिवान चिदिचिद्विष्ठो वन्वकृत् । यदैनयमुपयोगभूः समुपयाति रागादिभिः, स एव किल केवलं भवित चन्बहेतुर्नृणाम्" ॥२॥—नाटकसमयसारकलज्ञाः वन्धो-ऽधिकारः ।—अनगरधममिते पच्छोऽष्यायः पृ० २०५

यदेवयमुपयोगभूसमुपरी अतिरागादिभिः स एव किल केवलं भवति वन्वहेतुर्नृणाम् । तथा स एव जीवो निर्ममस्तद्विपरीतस्तिर्मृच्यत इति यथासंस्थेन योजनार्थं क्रमादित्युपात्ताम् । उक्तं च—

"अर्किचनोऽहमित्यास्व, त्रैलोवयाधिपतिर्भवेः । योगिगम्यं तव प्रोक्तं, रहस्यं परमात्मनः" ॥ ११० ॥ —आत्मानुशासनम् ।

अथवा "रागी वव्ताति कर्माणि, बीतरागी विमुख्यति । जीवी जिनीपदेशोऽयं, संक्षेपाद्वन्धमीक्षयोः"।।
—ज्ञानार्णवः पृ० २४२

यस्मादेवं तस्मात्सर्वप्रयत्नेन व्रताधवधानेन मनोवाक्कायप्रणिधानेन वा निर्ममत्वं विचिन्तयेत् । मत्तः कायादयो भिन्नास्तेम्योऽहमपि तत्त्वतः । नाहमेपां किमप्यस्मि ममाप्येते न किचन ॥ इत्यादि श्रुतज्ञानभावनया मुमुखुर्वियेणेण भावयेत् । उक्तं च—

"निवृत्ति भावयेद्यावित्वर्वृत्ति तदभावतः। न वृत्तिर्न निवृत्तिश्च, तदेव पदमव्ययं"।। २३६ ॥ —आरमानुशासनम्।

अयाह शिष्यः—कयं नु तदिति निर्ममत्विविचिन्तनोपायप्रश्नोऽयम् अय गुरस्तस्प्रक्रियां मम विज्ञस्य का स्पृहेति यावदुपदिशति—॥ २६ ॥

वर्थ---"ममतावाला जीव वैद्यता है और ममता रहित जीव मुक्त होता है। इसिलये हर तरह पूरी कोशिशके साथ निर्ममताका ही ख्याल रक्खे।"

विश्रदार्थं—अब्ययोके अनेक अर्थ होते हैं, इसिल्ये, "मम" इस अब्ययका अर्थ 'अभिनिवेश' है, इसिल्ये 'समम' किंद्ये 'मेरा यह है' इस प्रकारके अभिनिवेशवाला जीव भी कर्मोसे वेंघता है। उपलक्षणसे यह भी अर्थ लगा लेना कि 'मैं इसका हूँ' ऐसे अभिनिवेशवाला जीव भी वेंघता है, जैसा कि अमृताचार्यने समयसारकलशमें कहा है—

"न कर्मबहुलं जगन्न०"

अर्थ-न तो कर्मस्कंधोसे भरा हुआ यह जगत् बंघका कारण है, और न हलनचलनादिरूप किया ही, न इन्द्रियाँ करण हैं, और न चेतन अचेतन पदार्थोंका विनाश करना ही बन्धका कारण है। किन्तु जो उपयोगरूपी जमीन रागादिकोंके साथ एकताको प्राप्त होती है, सिर्फ वही अर्थात् जीवोंका रागादिक सहित उपयोग ही वन्धका कारण है। यदि वही जीव निर्मम रागादि रहित-उपयोगवाला हो जाय, तो कर्मीसे छूट जाता है। कहा भी है कि---"अिकंचनोऽह॰"

मै अकिचन हूँ, मेरा कुछ भी नहीं, बस ऐसे होकर बैठे रही और तीन लोकके स्वामी हो जाओं। यह तुम्हें बड़े योगियोंके द्वारा जाने जा सकने लायक परमात्माका रहस्य बतला दिया है।

और भी कहा है—"रागी वध्नाति कर्माणिं रागी जीव कर्मोको वाँघता है। रागादिसे रिहत हुआ जीव मुक्त हो जाता है। बस यही संक्षेपमें बंब मोक्ष विषयक जिनेन्द्रका उपदेश है। जब कि ऐसा है, तब हरएक प्रयत्नसे ब्रतादिकोमे चित्त लगाकर अथवा मन, बचन, कायकी सावधानतासे निर्ममताका ही ख्याल रखना चाहिये "मत्तः कायादयो भिन्नास्त्र"

"शरीरादिक, मुझसे भिन्न है, मैं भो परमायंसे इनसे भिन्न हूँ, न मै इनका कुछ हूँ, न मेरे ही ये कुछ हैं।" इत्यादिक श्रुतज्ञानकी भावनासे मुमुक्षुको भावना करनी चाहिये। आत्मा-नुशासनमें गुणभद्रस्वामीने कहा है।---"निवृद्ति भावयेत्०"

जबतक मुक्ति नहीं हुई तबतक परद्रव्योंसे हटनेकी भावना करे। जब उसका अभाव हो जायगा, तब प्रवृत्ति हो न रहेगी। वस वहो अधिनाशी पद जानो ॥ २६ ॥

दोहा—मोही बाँधत कर्मको, निर्मोही छुट जाय। यातें गाढ़ प्रयत्नसे, निर्ममता उपजाय॥२६॥

यहाँपर शिष्य कहता है कि इसमे निर्ममता कैसे होवे ? इसमें निर्ममताके चितवन करनेके उपायोका सवाल किया गया है। अब आवार्य उसकी प्रक्रियाको "एकोऽहं निर्ममः" से प्रारंभ कर "मम विज्ञस्य का स्पृहाण" तकके क्लोकों द्वारा वतलाते है।

एकोऽहं निर्ममः शुद्धो, ज्ञानी योगीन्द्रगोचरः । बाह्याः संयोगजा भावा, मत्तः सर्वेऽपि सर्वथा ॥ २७ ॥

अन्वय—अह एकः निर्ममः शुद्धः ज्ञानी योगीन्द्रगोचरः संयोगजाः सर्वेऽपि भावा मत्तः सर्वेथा बाह्यः।

टीका—इन्याविकत्यादेकः पूर्वापरपर्यायातृस्यूतो निर्ममो ममेदमहमस्येत्यमिनिवेशकृत्यः सुद्धः सुद्धन्या-देशाद् द्रव्यभावकर्मिनमुक्तो ज्ञानी स्वपरप्रकाशस्वभावो योगीन्द्रगोचरोऽनन्तपर्यायविशिष्टतया केविलमां शुद्धो-प्योगमात्रमयत्वेन श्रुतकेविलना च संवेशोहमात्मास्मि ये तु संयोगाद् द्रव्यकर्मसवन्याद्याता मया सह संवन्यं प्राप्ता भावा देहादयस्ते सर्वेऽपि मत्तो मत्सकाशात्सर्वथा सर्वेण इन्यादिप्रकारेण वाह्या भिन्नाः सन्ति पुनर्भावक एव विमुश्चति संयोगातिकमिति देहादिभिः संवन्धाद्देहिना कि फर्ल स्यादित्यर्थः। तत्र स्वयमेव समाधत्ते—॥२७॥

क्षर्य-मै एक, ममता रहित, बुद्ध, ज्ञानी, योगीन्द्रोके द्वारा जानने लायक हूँ। सयोगजन्य जितने भी देहादिक पदार्थ है, वे मुझसे सर्वया बाहिरी-भिन्न हैं।

विश्वदार्थ—मै द्रव्यायिकनयसे एक हूँ, पूर्वापर पर्यायोमें अन्वित हूँ। निर्मम हूँ-भिरा यह 'मैं इसका' ऐसे अभिनिवेशसे रहित हूँ। शुद्ध हूँ, शुद्धनयकी अपेक्षासे, द्रव्यकमं भावकमंसे रहित हूँ, केविल्योके द्वारा तो अनन्त पर्याय सहित रूपसे और श्रुतकेविल्योके द्वारा शुद्धोपयोग-मात्ररूपसे जातनेमें आसकने लायक हूँ, ऐसा मै आत्मा हूँ, और जो स्रयोगसे-द्रव्यकमोंके सम्बन्धसे प्राप्त हुए देहादिक पर्याय है, वे सभी मुझसे हर तरहसे (द्रव्यसे गुणसे पर्यायसे) विल्कुल जुदे है।। २७।।

दोहा- मै इक निर्मम शुद्ध हूँ, ज्ञानी योगीगम्य । कर्मोदयसे भाव सब, मोतेँ पूर्ण अगम्य ॥ २७ ॥

फिर भावना करनेवाला सोचता है कि देहादिकके सम्बन्धसे प्राणियोको क्या होता है? क्या फल मिलता है ? उसी समय वह स्वय ही समाधान भी करता है कि—

दुःखसंदोहभागित्वं, संयोगादिह देहिनाम् । त्यजाम्येनं ततः सर्वं, यनोत्राकायकर्मभिः ॥ २८ ॥

अस्वय—इह संयोगात् देहिनां दुःखसंदोहभागित्वं ततः एनं सर्वमनोवायकार्यकर्मभिः त्यजामि ।

टीका-—दुःखाना संदोहः समूहस्तद्भागित्वं देहिनामिह संसारे संयोगाहेहादिसंबन्धाद्भवेत् । यतश्चैवं तत एनं संयोगं सर्वं निःश्चेवं त्यजामि । कै क्रियमाणं, मनोवावकायकर्मभिर्मनोवर्गणाद्यालम्बनैरात्मप्रदेश-पिरस्पन्दैसनैदेत्वत्यजामि । अयमिनप्रायो मनोवावकायान्प्रतिपरिस्पन्दमानानात्मप्रदेशान् भावतो निरुद्धामि । तद्भेदामिम् तद्भेदासम्बद्धान् स्वतः स्वतः

"स्वबुद्धचा यत्तु गृह्णीयास्कायवाक्षेतसा त्रयम् । संसारस्तावदेतेषा, तदाम्यासेन निर्वृतिः" ॥ ६२ ॥ —समाधिशतकम्

पुनः स एवं विमृशति—पुद्गलेन किल संयोगस्तदपेका मरणादयस्तद्वयमा कथं परिह्नियन्त इति । पुद्गलेन देहात्मना मूर्तद्रव्येण सह किल आगमे श्रूपमाणो जीवस्य संवन्धोऽस्ति तदपेक्षाश्च पुद्गल-संयोगनिमित्ते मरणादयो मृत्युरोगादय संभवन्ति । तद्यया मरणादयः संभवन्ति । मरणादिसंबन्धिय्यो वाधाः । कथं, केन भावनाप्रकारेण मया परिह्नियन्ते । तदिभिभवः कथं निवार्थत इत्यर्थः । स्वयमेव समाधत्ते;—।।२८॥

अर्थ—इस संसारमे देहादिकके सम्बन्धसे प्राणियोंको दु ख-समूह भोगना पड़ता है—अनन्त नलेश भोगने पडते है, इसिल्ये इस समस्त सम्बन्धको जो कि मन, वचन, कायको क्रियासे हुआ करते है, मनसे, वचनसे, कायको छोड़ता हूँ। अभिप्राय यह है कि मन, वचन, कायका आलम्बन लेकर चंचल होनेवाले आत्माके प्रदेशोको भावोसे रोकता हूँ। 'आत्मा, मन वचन कायसे भिन्न है,' इस प्रकारके अभ्याससे सुखल्प एक फलवाले मोक्षकी प्राप्ति होती है और मन, वचन, कायसे आत्मा अभिन्न है, इस प्रकारके अभ्याससे दु:खल्प एक फलवाले संसारको प्राप्ति होती है, जैसा कि पूज्यपादस्वामोने समाविद्यातकों कहा है—"स्ववृद्ध्या यत्तु गृह्णीयात्०"

"जबतक शरीर, वाणी और मन इन तीनोको ये 'स्व हैं—अपने हैं' इस रूपमे ग्रहण करता रहता है। तबतक संसार होता है और जब इनसे भेद-बुद्धि करनेका अभ्यास हो जाता है, तव मुक्ति हो जाती है।"।। २८।।

> होहा—प्राणी जा संयोगतें, दुःख समूह लहात । याते मन वच काय युत, हूँ तो सर्व तजात ॥ २८॥

फिर भावना करनेवाला सोचता है कि पुद्गल—ज्ञरीरादिकरूपी मूर्तद्रव्यके साथ जैसा कि

आगममें सुना जाता है, जोवका सम्बन्ध है । उस सम्बन्धके कारण हो जीवका मरण व रोगादिक होते है, तथा मरणादि सम्बन्धी वाधाएँ भो होती है । तव इन्हे कैसे व किस भावनासे हटाया जावे ? वह भावना करनेवाला स्वयं ही समाधान कर लेता है कि—

न में मृत्युः कुतो भीतिर्न में न्याधिः कुतो न्यथा । नाहं वालो न बुद्धोऽह, न युवैतानि पुद्गले ॥ २९ ॥

अन्वय—मे मृत्युर्न कुतः भीतिः, मे व्याधिर्न व्यथा कुतः, अहं न वालः, नाहं वृद्धः, न युवा, एतानि पुर्गले ।

टीका—न मे एकोऽहिमत्यादिना निश्चितात्मत्वरूपस्य मृत्युः प्राणत्यागो नास्ति । चिच्छिक्तल्य्यणभावप्राणाना कदाचिद्यि त्यागाभावात् । यत्रश्च मे मरण नास्ति तत. कुतः कस्मात्मरणकारणात्कृष्णसपिदेगीतिर्मयं
मम स्यात्र कुतिश्चिदि विभेगीत्यर्यः । तथा व्याधिवितादिदोपवैषम्य मम नास्ति मूर्त्तंसम्बन्धित्वद्वातादीनाम् ।
यत्रश्चैवं ततः कस्मान् ज्वरादिविकारात् मम व्यवा स्यात्त्या वालाध्यक्यो नाहमस्मि ततः कथ वालाध्यक्याप्रभवै: वु खैरिभभूयेय अहमिति सामर्थावत्र द्रष्टव्यम् । तिह वय मृत्युप्रभूतीनि स्युरित्याह—एतानि मृत्युव्याधियालादीनि पृद्गले मूर्त्ते देहादिवेव संभवित । मूर्त्वचमंत्रादमूर्तं मिय तेपा नितरामसंभवात् । भूयोऽपि
भावक एव स्वयमाशङ्कृते तह्यतान्यासाद्य मुक्तानि पश्चातापकारोणि भविष्यन्तीति यशुक्तनीत्या मयादयो मे
न भवेयुक्तिहि एतानि देहादिवस्तून्यासाद्य जन्मप्रभृत्यास्मारमोयभावेन प्रतिपद्य मुक्तानीदानी भेदभावनावष्टभाग्मया त्यक्तानि । चिराम्यस्ताभेदसस्कारवधात्मश्चात्मापकराणि किमितीमानि मयात्मोयानि त्यवतानीत्यनुशयकरीणि मम भविष्यन्ति । अत्र स्वयमेव प्रतिपेवमनृत्यायित विन्नति यत्नति यत्नानि रवि ।

अर्थ — मेरी मृत्यु नहीं, तब डर किसका ? मुझे व्याधि नहीं, तब पीड़ा कैसे ? न मैं वालक हूँ, न बूढ़ा हूँ, न जवान हूँ । ये सब बातें (दशाएँ) पुद्गलमे ही पाई जाती हैं ।

विद्यार्थं—"एकोहं निर्मम. शुद्धः" इत्यादिरूपसे जिसका स्वस्वरूप निश्चित हो गया है, ऐसा जो में हूँ, उसका प्राणत्यागरूप मरण नहीं हो सकता, कारण कि चित्राक्तरूप भाव-प्राणोका कभी भी विछोह नहीं हो सकता। जब कि मेरा मरण नहीं, तब मरणके कारणभूत कालं नाग आदिकोसे मुझे भय क्यों? अर्थात् में किसीसे भी नहीं इरता हूँ। इसी प्रकार वात, पित्त, कफ आदिकी विषमताको व्याधि कहते हैं, और वह मुझे है नहीं, कारण कि वात आदिक मूर्तपदार्थसे हो सम्बन्ध रखनेवाले हैं। जब ऐसा है, तब ज्वर आदि विकारोसे मुझे व्यथा—तकलेफ कैसी? उसी तरह मैं बाल, वृद्ध आदि अवस्थावाला भी नहीं हूँ। तब बाल, वृद्ध आदि अवस्थावीसे पैदा होनेवाले दु खो-क्लेशोसे में कैसे दु खी हो सकता हूँ? अच्छा यदि मृत्यु व्यारह आत्माम नहीं होते, तो किसमें होते हैं? इसका जवाब यह है कि 'एतानि पुद्गले' ये मृत्यु-व्याधि और बाल-वृद्ध आदि दशाएँ पुद्गल-पूर्त शरीर आदिकोमें हो हो सकती है। कारण कि ये सब मूर्तिमान् पदार्थों वर्ष है। मैं तो अमूर्त हूँ, मुझमें वे कदािप नहीं हो सकती है।

दोहा—मरण रोग मोमै नहीं, तातें सदा निशंक। बाल तरुण नींह वृद्ध हूँ, ये सब पुद्गल अंक॥ २९॥

१. करोति ।

फिर भी भावना करनेवाला खुद शंका करता है, कि यदि कही हुई नीतिके अनुसार मुझे भय आदि न होवे न सही, परन्तु जो जन्मसे लगाकर अपनाई गई थी और भले ही जिन्हे मैने भेद-भावनाके बलसे छोड़ दिया है, ऐसी देहादिक वस्तुएँ, चिरकालके अभ्यस्त-अभेद सुंस्कारके वशसे पश्चात्ताप करनेवाली हो सकती है कि 'अपनी इन चीजोंको मैने क्यों छोड़ दिया ?'

भावक-भावना करनेवाला स्वयं ही प्रतिबोध हो सोचता है कि नहीं, ऐसा नहीं हो सकता है, कारण कि---

भुक्तोिज्झिता ग्रहुमोंहान्सया सर्वेऽपि पुद्गलाः। उच्छिष्टेष्विय तेष्वद्य, मम विज्ञस्य का स्पृहा॥३०॥

अन्वय—मोहात् सर्वेऽपि पुर्गलाः मया मुहुर्मुक्तोज्झिताः उच्छिष्टेष्टिव तेपु अद्य विज्ञस्य मम का स्पृहा ।

टीका — मोहादिवद्यावेदावसादनादिकालं कर्मीदिभावेतोपादाय सर्वे पुद्गला मया संसारिणा जीवेन वार वार पूर्वमनुभूता. पश्चाच्च नीरसीकृत्य त्यक्ताः यतस्यैवं तत उच्छिष्ठिविव भोजनगम्बमात्यादिषु स्वयं भुक्तवा त्यक्तेषु यथा लोकस्य तथा मे संप्रति विज्ञस्य तत्त्वज्ञानपरिणतस्य तेषु फेलीकर्षेषु पुद्गलेषु का स्पृहा ? न कदाचिदिष । वत्स ! त्यमा मोक्षायिना निर्ममत्वं विचिन्तयित्व्यम् । अत्राह शिष्यः । अय कथं ते निवच्यन्त इति । अथित प्रकृते केन प्रकारेण पृद्गला जीवेन नियतमुपादीयन्ते इत्यर्थः । गुरुराह—॥ ३० ॥

अर्थ—मोहसे मैने सभी पुद्गलोको बार-वार भोगा, और छोड़ा। भोग भोगकर छोड़ दिया। अब जूठनके छिए (मानिन्द) उन पदार्थीमें मेरी क्या चाहना हो सकती है? अर्थात् उन भोगोंके प्रति मेरी चाहना-इच्छा हो नहीं हैं।

विद्यादार्थ—अविद्याके , आवेशके वशसे अनादिकालसे ही मुझ संसारीजीवने कमं आदिके रूपमें समस्त पुद्गलोंको वार-वार पहले भोगा और पीछे उन्हें नीरस (कमंत्वादि रहित) करके छोड दिया। जब ऐसा है, तब स्वयं भोगकर छोड़ दिये गये जूठन—उच्छिष्ठ भोजन, गन्ध, मालादिकोंमें जैसे लोगो को फिर भोगनेकी स्पृहा नहीं होती, उसी तरह इस समय तत्त्वज्ञानसे विशिष्ट हुए मेरी उन छिनकी हुई रेट (नाक) सरीले पुद्गलोंमे वया अभिलापा हो सकती है ? नहीं, नहीं; हरिगज नहीं। भैया! जब कि तुम मोक्षार्थी हो तब तुम्हें निर्ममत्वकी ही भावना करनी चाहिये।। ३०।।

दोहा—सब पुद्गलको मोहसे, भोग भोगकर त्याग। मै ज्ञानी करता नहीं, उस उच्छिप्टमें राग॥ ३०॥

यहाँपर शिष्य कहता है कि वे पुर्गल क्यों वैंच जाते हैं ? अर्थात् जीवके द्वारा पुर्गल क्यों और किस प्रकारसे हमेशा जन्धको प्राप्त होते रहते है ?

१. फेलाभुक्तसमुज्झितम् । अ । भुक्तवा त्युक्तमित्वर्थः ।

आचार्य उत्तर देते हुए कहते है-

कर्म कर्महितावन्धि, जीवो जीवहितस्पृहः। स्वस्वप्रभावभृयस्त्वे, स्वार्थं को वा न वाञ्छति ॥३१॥

अन्वय-कर्म, कर्महितावन्धि, जीवः जीवहितस्पृहः स्वस्वप्रभावभूयस्त्वे स्वार्थं को वा न वाञ्छति ।

टीका—"कत्यिव विलयो जीवो, कत्यिव कम्माड हुति विलयाइ । जीवस्स य कम्मस्स य, पुव्य-विरुद्धाइ वहराइ ॥" इत्यिभधानात्पूर्वोपाजित चलवत्कर्म कर्मण. स्वस्यैव हितमावव्नाति जीवस्यौदयिकादि-भावमुद्भाव्य नवनवक्रमोधायकत्वेन स्वसतानं पुरणातीत्यर्थः । तथा चौक्तम्—

"जीवकृतं परिणाम, निमित्तमात्रं प्रपद्य पुनरम्ये । स्वयमेव परिणमन्तेऽत्र पुर्गला[.] कर्मभावेन" ॥ १२ ॥ —पुरुपार्थसिद्धघुपायः

"परिणममानस्य चितश्चिदारमकै स्वयमपि स्वकैमीवै । भवति हि निमित्तमात्रं, पौद्गलिकं कर्म तस्यापि"॥१३॥ —पुरुपार्थसिद्धसूषायः

तया जीव. कालादिलब्ब्या वलवानात्मा जीवस्य स्वस्यैव हितमनन्तसुखहेतुत्वेनोपकारकं मोक्षमा-काङ्क्षति । अत्र दृष्टान्तमाह—स्वस्वेत्यादि निजनिजमाहात्म्यवहुतरत्वे सति स्वार्थे स्वस्योपकारकं वस्तु को न वाञ्छति सर्वोष्पभिलपतीत्यर्थ.। ततो विद्धि कर्माविष्टो जीवः कर्म सचिनोतीति । यतर्श्चैवं तत –॥३१॥

अर्थ-कर्म कर्मका हित चाहते है। जीव जीवका हित चाहता है। सो ठीक ही है, अपने-अपने प्रभावके बढनेपर कौन अपने स्वार्थको नही चाहता। अर्थात् सब अपना प्रभाव बढाते ही रहते है।

विश्ववार्थ — कभी जीव बलवान् होता तो कभी कर्म बलवान् हो जाते है। इस तरह जीव खोर कर्मोका पहलेसे (अनादिसे) हो बेर चला आ रहा है। ऐसा कहनेसे मतलब यह निकला कि पूर्वोन्नाजित बलवान् द्रव्यकर्म, अपना यानी द्रव्यकर्मका हित करता है अर्थात् द्रव्यकर्म, जीवमे औदियक आदि भावोको पैदा कर नये द्रव्यकर्मोको ग्रहणकर अपनी सतानको पुष्ट किया करता है, जैसा कि अमृतचन्द्राचार्थने पुरुषार्थसिद्धबुपायमे कहा है — "जीवकृतं परिणाम॰", "परिणममानस्य॰"

जीवके द्वारा किये गये परिणाम जो कि निमित्तमात्र है, प्राप्त करके जीवसे विभिन्न पुद्गल, खुद व खुद कर्मरूप परिणम जाते हैं। और अपने चेतनात्मक परिणामोसे स्वयं ही परिणमनेवाले जीवके लिये वह पौद्गलिककर्म सिर्फ निमित्त बन जाता है। तथा कालादि लिब्बसे बलवान् हुआ जीव अपने हितको अनन्त सुखका कारण होनेसे उपकार करनेवाले स्वास्मोपलिब्बरूप मोक्षको चाहता है। यहाँपर एक स्वभावोक्ति कही जाती है कि "अपने-अपने माहात्म्यके प्रभावके वढनेपर स्वार्थको—अपनी अपनी उपकारक वस्तुको कीन नही चाहता ? सभी चाहते है।। ३१।।

दोहा—कर्म कर्मिहतकार है, जीव जीवहितकार। निज प्रभाव वल देखकर, को न स्वार्थ करतार॥ ३१॥ इसिल्ये समझो कि कर्मोसे वैंद्या हुआ प्राणी कर्मोका संचय किया करता है। जविक ऐसा है तब —

परोपकृतिग्रत्सृज्य, स्वीपकारपरो भव । उपकुर्वन्परस्याज्ञो, दृश्यमानस्य लोकवत् ॥ ३२ ॥

अन्वय-परोपकृति उत्सृज्य स्वोपकारपरो भव दृश्यमानस्य परस्य उपकुर्वन् अज्ञः लोकवत् ।

टीका — परस्य कर्मणो देहादेवी अविद्यावशात् क्रियमाणमुपकारं विद्यास्यासेन त्यवस्वातमानुग्रहप्रधानो भव त्वम्। कि कुर्वन्सन्, उपकुर्वन्। कस्य, परस्य सर्वया स्वस्माद्वाह्यस्य दृश्यमानस्येन्द्रियैरनुभूयमानस्य देहादेः । क्रिविशिष्टो यतस्त्यं अक्षत्रतत्वानिभिक्षः किवल्लोकवत् । यथा लोकः परं परत्वेनाजानंस्तस्योपकुर्वन्नपि तं तत्त्वेन ज्ञात्वा तदुपकारं त्यवस्वा स्वोपकारपरो भवत्येवं त्वमपि भवत्येवः । अयाह शिष्यः । कयं तयोविशेष इति केनोपायेन स्वपरयोगेंदो विज्ञायेत । तद्वि ज्ञातुश्च कि स्वादित्यर्थं । गुरुराह—॥ ३२ ॥

अर्थ-परके उपकार करनेको छोड़कर अपने उपकार करनेमें तत्पर हो जाओ । इद्वियोके द्वारा दिखाई देते हुए शरीरादिकोका उपकार करते हुए तुम अक्ष (वास्तविक वस्तुस्थितिको न जाननेवाले) हो रहे हो । तुम्हे चाहिये कि दुनियाँकी तरह तुम भी अपनी भलाई करनेमे लगो ।

विश्रदार्थ—पर किह्ये कर्म अथवा शरीरादिक, इनका अविद्या—अज्ञान अथवा मोहके विश्र जो उपकार किया जा रहा है, उसे विद्या सम्यग्ज्ञान अथवा वीतरागताके अभ्याससे छोड़कर प्रवानतासे अपने (आत्माके) उपकार करनेमें तत्पर हो जाओ। तुम सर्वथा अपने (आत्मा) से वाह्य इन्द्रियोके द्वारा अनुभवमे आनेवाले इन शरीरादिकों की रक्षा करना आदि रूप उपकार करनेमें लगे हुए हो। इसल्ये मालूम पड़ता है कि तुम अज्ञ (वस्तुओं वास्तविक स्वरूपसे अजान) हो। जैसे दुनियाके लोग जबतक दूसरेको दूसरे रूपमे नहीं जानते, तबतक उनका उपकार करते है। परन्तु ज्यों ही वे अपनेको अपना और दूसरेको दूसरा जानते है, उनका (दूसरोका) उपकार करना छोड़कर अपना उपकार करनेमें लग जाते है। इसी प्रकार तुम भी तत्वज्ञानी वनकर अपनेको स्वाचीन शुद्ध बनाने रूप आत्मोपकार करनेमें तत्पर हो जाओ।। ३२।।

दोहा--प्रगट अन्य देहादिका, सूढ़ करत उपकार। सज्जनवत् या भूल को, तज कर निज उपकार॥ ३२॥

यहाँपर शिष्य कहता है कि किस उपायसे अपने और परमें विशेषता (भेद) जानी जाती है, और उसके जाननेवालेको क्या होगा ? किस फलकी प्राप्ति होगी ? आचार्य कहते है—

गुरूपदेशादभ्यासात्संवित्तेः स्वपरान्तरम् । जानाति यः स जानाति, मोक्षसौख्यं निरन्तरम् ॥ ३३ ॥

अन्वय—यः गुरूपदेशात् अभ्यासात् संवित्तेः स्वपरान्तरं जानाति स मोक्षसौख्यं निरन्तरं जानाति ।

टीका —यो जानाति । किं तरस्यपरान्तर ओरागपरयोभेंदं य स्वारमान परस्माद्भिन्नं प्रयतीत्यर्पः । कुतः संवित्तेर्लक्षणत स्वलक्ष्यानुभवात् । एपोपि कुतः, लम्यासात् लम्यासभावनातः । एपोप्पि गुरूपदेशात् धर्माचार्यस्यारममस्य सुदृढस्वपरिविकेक्षानोत्पादकवाक्यात् स तथान्यापोढस्वारमानुभविता सोक्षसौद्धं निरन्तर-पविच्छिन्नमनुभवित । कर्मविविक्तानुभाव्यविनाभावित्वात्तस्य । तथा चोक्तं तत्वानुशासने,—

"तदेवानुभवंश्वायमेकाग्रं परमृच्छिति । तथात्मधीनमानन्दमेति वाचामगोचरम्" — वत्त्वानुशासनम् ।
॥ १७० ॥

अय शिष्यः पृच्छति-कस्तत्र गुरुरिति तत्र मोक्षसुखानुभवविषये । गुरुराह्-।। ३३ ॥

अर्थ—जो गुरुके उपदेशसे अभ्यास करते हुए अपने ज्ञान (स्वसवेदन) से अपने और परके अन्तरको (भेदको) जानता है। वह मोखसम्यन्धी सुखका अनुभव करता रहता है।

विञ्जदार्थ — गुरु किह्ये वर्माचार्य अथवा गुरु किह्ये स्वयं आत्मा, उसके उपदेशसे सुदृढ स्वपर विवेक ज्ञानके पदा करनेवाले वाक्योके और उसके अनुसार अभ्यास करना चाहिये। वार-वार अभ्यास करनेसे सिवित्त (स्वसंवेदन) के द्वारा जो स्वातमाको परसे भिन्न जानता देखता है, भिन्न आत्माका अनुभव करनेवाला मोक्ष-सुखको निरन्तर — हमेशा विच्छेद रहित अनुभव करने लग जाता है। क्योंकि वह मोक्ष-सुखका अनुभव, कर्मोसे भिन्न आत्माका अनुभव करनेवालोको होता है, अन्योको नही। जैसा कि तस्वानुशासनमें कहा है — "तदेवानुभंवश्चाय०,"

उस आत्माका अनुभव करते हुए यह आत्मा, उत्कृष्ट एकाग्रताको प्राप्त कर लेता है, और इस तरह मन तथा वाणीके अगोचर अथवा वचनोसे भी न कहे जा सकनेवाले स्वाधीन आनन्दको प्राप्त कर लेता है।। ३३।।

दोहा--गुरु उपदेश अभ्याससे, निज अनुभवसे भेद। निज-परको जो अनुभवे, लहै स्वसुख वेखेद॥ ३३॥

आगे शिष्य पूछता है कि मोक्ष-सुखके अनुभवके विषयमें कौन गुरु होता है ? आचार्य कहते हैं—

स्वस्मिन् सद्भिलापित्वादभीष्टजापकत्वतः । स्वयं हितप्रयोक्तृत्वादात्मैव गुरुरात्मनः ॥ ३४ ॥

अन्वय—स्वय स्विःमम् सदिभलापित्वात् अभीष्टशापकत्वतः हितप्रयोकतृत्वात् आत्मनः आत्मा एव गुरुः अस्ति ।

टीका—य खलु शिष्य. सदा अभीइणं कल्याणमिण्ठणित तेन जिज्ञास्य तदुणयं त ज्ञापयति । तत्र चाप्रवर्त्तमानं त प्रवर्तयिति स किल गुरु. प्रसिद्धः । एवं च सत्यात्मन आत्मैन गुरु. स्यात् । कृत इत्याह्— स्वयमात्मा स्वित्मिन्मोक्षसुखाभिलाणिण्यात्मित सत् प्रशस्त मोक्षसुखमभीदणमभिल्यति । मोक्षसुखं मे संपद्यता-मित्याकाद्वक्षतीत्येव भयात् । तथाभोष्टस्यात्मना जिज्ञास्यमानस्य मोक्षसुखोणायस्यात्मविषये ज्ञापकत्यादेष मोक्षतुक्षोपायो मया सेव्य इति वोधकत्वात् । तथाहि तं मोक्षतुक्षोपाये स्वयं स्वस्य प्रयोधतृत्वात् । अस्मिन्सु-दुर्लभे मोक्षसुक्षोपाये दुरात्मन्नात्मन्स्वयमद्यापि न प्रवृत्त इति । तत्रावर्त्तमानस्यात्मनः प्रवत्तंकत्वात् । अथ शिष्यः साक्षेपमाह । एवं नान्योपास्ति प्राप्नोतीति भगवन्नुक्तनीत्या परस्परगृक्त्वे निश्चिते सति वर्माचार्यादि-सेवनं प्राप्नोति मुमुक्षुः । मुमुक्षुणा घर्माचार्यादिः सेव्यो न भवतीति भावः । न चैवमेतविति वाच्यमपिसद्धान्त-प्रसङ्कायिति वदन्तं प्रत्याह्—। ३४ ॥

अर्थ — जो सत्का कल्याणका वांछक होता है, चाहे हुए हितके उपायोको जतलाता है, तथा हितका प्रवत्तंक होता है, वह गुरु कहलाता है। जब आत्मा स्वयं ही अपनेमें सत्की — कल्याणकी यानी मोक्ष-सुखको अभिलाषा करता है, अपने द्वारा चाहे हुए मोक्ष-सुखके उपायोंको जतलानेवाला है, तथा मोक्ष-सुखके उपायोमें अपने आपको प्रवर्तन करानेवाला है. इसलिये अपना (आत्माका) गुरु आप (आत्मा) ही है।

विश्वदार्थ—यह आत्मा स्वय ही जब मोक्ष सुखाभिलाषी होता है, तब सत्की यानी मोक्ष-सुखको हमेशा अभिलापा करता रहता है कि मुझे मोक्ष-सुख प्राप्त हो जावे। इसी तरह जब स्वयं आत्मा मोक्ष-सुखके उपायोको जानना चाहता है, तब यह स्वय मोक्षके सुखके उपायोको जतलाने-वाला बन जाता है कि यह मोक्ष-सुखके उपाय मुझे करना चाहिये। इसी तरह अपने आपको मोक्ष-उपायमे लगानेवाला भी वह स्वयं हो जाता है, कि इस सुदुर्लंभ मोक्ष सुखोपायमे हे दुरात्मन् आत्मा! तुम आजतक अर्थात् अभीतक भी प्रवृत्त नही हुए। इस प्रकार अभीतक न प्रवर्तनेवाले आत्माका प्रवर्तक भो हुआ करता है। इसल्ये स्वय हो आत्मा अपने कल्याणका चाहनेवाला, अपनेको सुखोपाय बतलानेवाला और सुखोपायमे प्रवृत्ति करनेवाला होनेसे अपना गुरु है।। ३४॥

दोहा—आपिह निज हित चाहता, आपिह ज्ञाता होय। आपिह निज हित प्रेरता, निज गुरु आपिह होय॥ ३४॥

यहाँपर शिष्य आक्षेप सिंहत कहता है कि इस तरह तो अब अन्य दूसरोको क्यो सेवा करनी होगी ? वस जब आपसमे खुदका खुद ही गुरु वन गया, तब धर्माचार्यीदिकोंकी सेवा मुमुक्षुओको नहीं करनी होगी। ऐसा भी नहीं कहना चाहिये, कि हाँ ऐसा तो है ही, कारण कि वैसा माननेसे अपसिद्धान्त हो जायगा। ऐसे बोलनेवाले शिष्यके प्रति आचार्य जवाब देते है—

नाज्ञो विज्ञत्वमायाति, विज्ञो नाज्ञत्वमुच्छति । निमित्तमात्रमन्यस्तु, गतेर्धर्मास्तिकायवत् ॥ ३५ ॥

अन्वय—अज्ञः विज्ञत्वं न आयाति विज्ञ अज्ञत्वं न ऋच्छिति गतेर्धमीस्तिकायवत् अन्यस्तु निमित्तमात्रम् ।

टीका—भद्र ! अज्ञस्तत्त्वज्ञानोत्पत्त्ययोग्योऽभव्यादिविज्ञत्वं तत्त्वज्ञत्वं वर्माचार्यायुपदेशसहस्रेणापि न गच्छति । तथा चोक्तम्—

"स्वाभाविकं हि निष्पत्ती, क्रियागुणमपेक्ष्यते । न व्यापारशतेनापि-शकवत्पाठ्यते वक." ॥

तया विज्ञस्तत्त्वज्ञानपरिगतो अज्ञस्वं तत्त्वज्ञानास्यरिभ्रंश्चमुनायसहस्रेणापि_न गण्छति । तथा चीक्तम्---"वच्चे पतस्यपि भयद्वतविदवलोकमुक्ताव्वनि प्रशमिनो न चलन्ति योगात् ।

—पद्मनन्दिपञ्चविशतिका, पृ० ३३.

बोधप्रदीपहतमोहमहान्धकाराः, सम्यग्द्रशः किस्त श्रेषपरीपहेष्"।।६३॥

नन्तेवं बाह्यितिमत्तसेपः प्राप्नोतीत्यत्राह । अन्यः पुनर्गुरिविपक्षादिः प्रकृतार्थसमुत्यादभंक्षयोगिनिमत्तार्शं स्थात्तत्र योग्य 'ताया एव साक्षारसाधकत्वात् । कस्याः को यथेत्यत्राह्, गतिरित्यादि । अयमयों न्यया युगपद्भा-विगति-परिणामोन्मुलाना भावाना स्वकीया गतिश्रवितरेव गतिः साक्षाण्जनिका तद्वैकत्ये तस्याः सहकारिकारण-मार्गं स्यादेवं प्रकृतेऽपि अतो व्यवहारादेव गुवदिः शुक्षूपा प्रतिपत्तत्व्या । अय्वाह शिव्यः — अभ्यासः कथ्यति । अस्यासप्रयोगोपायप्रश्नोऽधम् । अस्यासः कथ्यत इति ववचित्ताठः । तत्राभ्यासः स्यात् भूयोग्भयः प्रवृत्तिव्यण-देवेन सुप्रसिद्धत्वात्तस्य स्थानित्यमादित्पेणोपदेशः क्रियत इत्यर्थः । एवं सवित्तिष्वयत इत्युत्तरातिकाया अपि व्याव्यानमेतत्याद्यादेवा इत्यन्त्वत्या द्वात्याच्या स्थान्याविकाया अपि व्याव्यानमेतत्याद्याविकाया इत्यन्त्वात्यम् । तथा च गुरोरवैते वायये व्याव्योगे । शिव्यवीचार्थं गृहराह्—।।३५॥

अर्थ--तरवज्ञानको उत्पत्तिके अयोग्य अभव्य आदिक जीव, तत्त्वज्ञानको धर्माचार्यादिकोके हजारो उपदेशोंसे भी नही प्राप्त कर सकते हैं। जैसा कि कहा गया है "स्वाभाविक हि निष्पत्ती०"

"कोई भी प्रयत्न कार्यको उत्पत्ति करनेके लिये स्वाभाविक गुणको अपेक्षा किया करता है। सैकडों व्यापारोसे भी वगुला तोतेकी तरह नही पढ़ाया जा सकता है।"

इसी तरह तत्वज्ञानी जीव, तत्त्वज्ञानसे छूटकर हजारों उपायोंके द्वारा भी अज्ञत्वको प्राप्त नहीं कर सकता । जैसा कि कहा गया है—"बज्जे पतत्यपि०"

"जिसके कारण भयसे घवराई हुई सारी दुनियाँ मार्गको छोड़कर इधर-उधर भटकने लग जाय, ऐसे वज्जके गिरनेपर भी अतुल ज्ञातिसम्पन्न योगिगण योगसे (ध्यानसे) चलायमान नहीं होते। तब ज्ञानरूपी प्रदीपसे जिन्होने मोहरूपी महान् अन्यकारको नष्ट कर दिया है, ऐसे सम्ययकृष्टि जीव वया जेप परीषहोके आनेपर चलायमान हो जायेगे? नहीं, वे कभी भी चलायमान नहीं हो सकते हैं।"

यहाँ शंका यह होती है कि यों तो बाह्य निमित्तोंका निराकरण ही हो जायेगा? इसके विषयमें जवाब यह है कि अन्य जो गुरु आदिक तथा शत्रु आदिक है, वे प्रकृत कार्यके उत्पादनमें तथा विध्वसनमें सिर्फ निमित्तमात्र है। वास्तवमें किसी कार्यके होने व विगडनेमें उसकी योग्यता ही साक्षात् साधक होती है। जैसे एक साथ गतिरूप परिणामके क्रिये उन्मुख हुए पदार्थोंमें गतिकी साक्षात् पैदा करनेवाली उन पदार्थोंकी ही गमन करनेकी क्षिक है। क्योंकि यदि पदार्थोंमें गमन करनेकी क्षिक हो हो वे तो उनमें किसीके द्वारा भी गति नहीं की जा सकती। घर्मीस्तकाय तो गति करानेमें सहायकरूप द्रव्यविशेष है। इसिल्ये वह गतिकें क्यि सहकारी कारणमात्र हुआ करता है। यही वात प्रकृतमें भी जाननी चाहिये। इसिल्ये व्यवहारसे हो गुरु आदिकोंकी सेवा शुश्रूण आदि की जानी चाहिये।। ३५॥

१ सामध्यंस्य ।

दोहा—मूर्ख न ज्ञानी हो सके, ज्ञानी मूर्ख न होय। निमित्त मात्र पर जान, जिमि गित धर्मतें होय॥३५॥

अब शिष्य कहता है कि 'अभ्यास कैसे किया जाता है ?' इसमें अभ्यास करनेके उपायोंको पूछा गया है। सो अभ्यास और उसके उपायोंको कहते है। बार-बार प्रवृत्ति करनेको अभ्यास कहते है। यह बात तो भलीभाँति प्रसिद्ध ही है। उसके लिये रथान कैसा होना चाहिए ? कैसे नियमादि रखने चाहिए ? इत्यादि रूपसे उसका उपदेश किया जाता है। इसी प्रकार साथमें संवित्तिका भी वर्णन करते हैं।

अभवचित्तविक्षेप, एकान्ते तत्त्वसंस्थितः। अभ्यस्येदभियोगेन, योगी तत्त्वं निजात्तमनः ॥३६॥

अन्वय—अभविचन्तिविक्षेपः तत्त्वसंस्थितः योगी निजात्मनः तत्त्वं एकान्ते अभियोगेन अभ्यस्येत्।

टीका — अम्यस्ये द्वावयेत्कोऽसी, योगी संयमी। किं, तत्त्वं यावात्म्यं। कस्य, तिजात्मनः। केन, अभियोगेन आलस्यिनद्राविनरासेन। वन, एकान्ते योग्यशून्यगृहादो। किंविशिष्टः सन्, अभवन्नजायमानिश्च-त्त्र्य मनसो विक्षेपो रागाविसंक्षीमो यस्य सोऽयमित्यंभूतः सन्। किंभूतो भूत्वा, तथाभूत इत्याह। तत्त्व-संस्यितस्तत्त्वे हेये उपादेये च गुरूपदेशानिश्चलधोः यवि चा तत्त्वेन साध्ये वस्तुनि सम्यक् स्थितो यथोक्तः-कायोरसर्गाविना व्यवस्थितः। अथाह शिष्यः संवित्तिरिति। अभ्यासः कथमित्यनुवत्यंते नायमर्थः संयम्यते। भगवन्नुक्तलक्षणा संवित्तिः प्रवर्तमाना केनोपायेन योगिनो विज्ञायते कथं च प्रतिक्षणं प्रकर्षमापद्यते। अत्राचायां वक्ति। उच्यत इति। घीमन्नाकणय वर्ष्यंते तिल्लञ्जं तावन्मयेत्यथं।। ३६।।

अर्थ-जिसके चित्तमें क्षोभ नहीं है, जो आत्मा-स्वरूपमे स्थित है, ऐसा योगी सावधानीपूर्वक एकान्त स्थानमे अपने आत्माके स्वरूपका अभ्यास करे।

विश्वरार्थ—नही हो रहे हैं चित्तमें विक्षेप—रागादि विकल्प जिसको ऐसा तथा हेय-उपादेय तत्त्वोमे गुरुके उपदेशसे जिसकी बुद्धि निश्चल हो गई है, अथवा परमार्थरूपसे साध्यभूत वस्तुमे भले प्रकारसे—यानी जैसे कहे गये है, वैसे कायोत्सर्गादिकोसे व्यवस्थित हो गया है, ऐसा योगी अपनी आत्माके ठीक-ठीक स्वरूपका एकान्त स्थानमें—योगीके लिये योग्य ऐसे शून्य गृहोमे, पर्वतोको गृहा-कंदरादिकोमे, आलस्य-निद्रा आदिको दूर करते हुए अभ्यास करे ॥ ३६ ॥

दोहा—क्षोभ रहित एकान्तमें, तत्त्वज्ञान चित घाय। सावधान हो संयमी, निज स्वरूपको भाय॥३६॥

यहाँपर शिष्य पूछता है, कि भगवन् ! जिसका लक्षण कहा गया है ऐसी 'संवित्ति हो रही है।'यह बात योगीको किस तरहसे मालूम हो सकती है? और उसकी हरएक क्षणमे उन्तिति हो रही है, यह भी कैसे जाना जा सकता है? आचार्य कहते है कि हे घीमन् ? सुनो मैं उसके चिह्नका वर्णन करता हूँ—

यथा यथा समायाति, संवित्ती तन्त्रमुत्तमम् । तथा तथा न रोचन्ते, विषयाः मुल्मा अपि ॥३७॥

अन्वय—यथा यथा सिवत्ती उत्तम तत्त्व समायाति तथा तथा सुलभा अपि विषया न रोचन्ते ।

टोका—येन येन प्रकारेण संवित्ती विशुद्धारमम्बर्ष्यं सामुख्येनागच्छति योगिनः तथा तथानायासरूम्या अपि रम्येन्द्रियार्था भोग्यबुद्धि नोत्पादयस्ति । महासुखरुव्यावऽल्पसुखकारणाना लोकेऽप्यनादरणीयस्वदर्शनात् । तथा चोक्तम्—

''गमसुबञ्जीलितमनसामजनमिव द्वेपमेति किमु कामा । स्थलमिव दहति झपाणा किमङ्ग पुनरङ्गमङ्गाराः ।१।''

अतो विषयारुचिरेव योगिन. स्वात्मसंवित्तर्गिमिका तदभावे तदभावात् प्रकृष्यमाणाया च विषयारुचौ वात्मसंवित्तिः प्रकृष्यते । तद्यया—।। ३७ ॥

अर्थ-ज्यो ज्यो संवित्ति (स्वानुभव) मे उत्तम तत्त्वरूपका अनुभवन होता है, त्यो त्यो उस योगीको आसानीसे प्राप्त होनेवाले भी विषय अच्छे नही लगते ।

विश्वदार्थ — जिस जिस प्रकारसे योगीको संवित्तिमे (स्वानुभवरूप सवेदनमे) शुद्ध आत्माका स्वरूप झलकता जाता है, सम्मुख आता है, तैसे-तैसे विना प्रयाससे, सहजमे ही प्राप्त होनेवाले स्रमणीक इन्द्रिय विषय भी योग्य बुद्धिको पैदा नही कर पाते हैं, दुनियाँमे भी देखा गया है कि महान् सुखकी प्राप्ति होजानेपर अल्प सुखके पैदा करनेवाले कारणोके प्रति कोई आदर या ग्राह्य-भाव नही रहता है। ऐसा हो अन्यत्र भी कहा है — "श्रमसुखकीलितमनसा॰"

"जिनका मन शाति-सुबसे सम्पन्न है, ऐसे महापुरुपोको भोजनसे भी द्वेप हो जाता है, अर्थात् उन्हें भोजन भी अच्छा नहीं लगता। िकर और विषय-भोगोकी क्या चर्चा? अर्थात् जिन्हें भोजन भी अच्छा नहीं लगता, उन्हें अन्य विषय-भोग क्यों अच्छे लग सकते हैं? अर्थात् उन्हें अन्य विषय-भोग रुचिकर प्रतीत नहीं हो सकते। हे वत्स! देखो, जब मछलीके अंगोको जमीन ही जला देनेमें समर्थ है, तब अग्निके अगारोंका तो कहना ही क्या? वे तो जला ही देगे। इसलिये विषयोकी अरुचि ही योगो की स्वात्म-सवित्तको प्रकट कर देनेवाली है।"

स्वात्म-संवित्तिके अभाव होनेपर विपयोसे अरुचि नही होती और विपयोके प्रति अरुचि वढनेपर स्वात्म-संवित्ति भी वढ जाती है ॥३७॥

> दोहा--जस जस आतम तत्त्वमें, अनुभव आता जाय ॥ तस तस विषय मुलस्य भी, ताको नहीं सुहाय ॥३७॥

उपरिलिखित भावको और भो स्पष्ट करते हुए आचार्य कहते हैं-

यथा यथा न रोचन्ते, विषयाः सुरुभा अपि । तथा तथा समायाति, संवित्ती तत्त्वमुत्तमम् ॥३८॥ अन्वय—यथा यथा सुलभा अपि विषयाः न रोचन्ते तथा तथा उत्तमं तत्त्वं सिवत्ती समायाति।

अनापि पूर्वबद्द्याख्यानम् । तथा चोक्तम्-

"विरमे किमपरेणाकार्यकोलाहलेन, स्वयमि निभृतः सन्पश्य पण्मासमेकम् । हृदयसरिस पुसः पुद्गलाद्भिन्नधाम्मो, ननु किमनुपलन्धिर्माति कि चोपलन्धिः" ॥ २ ॥ —नाटकसमयसारकल्याः जोवाजीवाधिकारः ।

प्रकृष्यमाणाया च स्वात्मसंवित्तो यानि चिह्नानि स्युस्तान्याकर्णय । यथा-॥ ३८ ॥

अर्थं—ज्यो-ज्यो सहजमें भी प्राप्त होनेवाले इन्द्रिय विषय-भोग रुचिकर प्रतीत नहीं होते हैं, त्यो-त्यों स्वात्म-संवेदनमें निजात्मानुभवकी परिणति वृद्धिको प्राप्त होती रहती है।

विश्वदार्थ—विषय-भोगोके प्रति अरुचि भाव ज्यों-ज्यों वृद्धिको प्राप्त होते हैं त्यों-त्यो योगी-के स्वात्म-सवेदनमे निजात्मानुभवको परिणित वृद्धिको प्राप्त होती रहती है। कहा भी है— "विरम किमपरेणा॰"

आचार्य शिष्यको उपदेश देते हैं, हे वरस । ठहर, व्यर्थके ही अन्य कोलाहलोंसे क्या लाभ ? निश्चिन्त हो छह मास तक एकान्त में, अपने आपका अवलोकन तो कर । देख, हृदयरूपी सरोवर-में पुद्गलसे भिन्न तेजवाली आत्माकी उपलब्धि (प्राप्ति) होती है, या अनुपलब्धि (अप्राप्ति) ॥३८॥

दोहा—जस जस विषय सुलभ्य भी, ताको नहीं सुहाय। तस तस आतम तस्वमें, अनुभव बढ़ता जाय॥३८॥

हे वत्स ! स्वात्मसिवित्तिके बढनेपर क्या क्या वाते होती है, किस रूपमे परिणित होने लगती है, आदि बातोंको सुन—

निशासयति निश्शेपसिन्द्रजालोपमं जगत्। स्पृहयस्यात्मलायाय, गस्वान्यत्रानुतप्यते॥३९॥

अन्वय—योगी निश्शेषं जगत् इन्द्रजालोपमं निशामयति, आत्मलाभाय स्पृहयति अन्यत्र गत्वा अनुतप्यते ।

१ 'विरम किमपरेणा०'का कितना सुन्दर भावपूर्ण सबैया स्व कविवर बनारसीदासजीने समयसार-नाटकमें कहा है—

[&]quot;भैया जगवासी तू उदासी व्हैकै जगतसी, एक छ. महोना उपदेस मेरी मानु रे। और संकलप विकलपके विकार तजि, बैठकै एकंत सन एक ठीच आनु रे।। तेरो घट-सर तामै तूही है कमल ताकी, तूही मधुकर व्है सुवास पहिचानु रे। प्रापित न व्हैहै कल्लु ऐसी तू विचारतु है, सही व्हैहै प्रापित सरूप यौ ही जानु रे।। ३॥ (अजीवद्वार)

टीका—योगीत्यन्तदीपकत्वात्सर्वत्र योज्यः । स्वात्मसंवित्तिरसिको व्याता चराचरं बह्विंस्तुजातम-वस्योपेक्षणीयतया हानोपादानवृद्धिविषयत्वादिन्द्रजािळकोपदश्वितसर्पहारादिषदार्थसदृश्चं पत्रयति । तथात्मलामाय स्पृह्यति चिदानन्दस्वरूपमात्मानं संवेदियिषुमिच्छिति । तथा अन्यत्र स्वात्मव्यतिरिक्ते यत्र पशिष वस्तुनि पूर्व-संस्कारादिवशात्मनोवाषकार्यर्गत्वा व्यापृत्य अनुतप्यते स्वयमेव आ कर्यं मयेदमनात्मीनमनुष्ठितिमिति पृक्षात्तापं करोति । तथा—॥ ३९ ॥

अर्थं—योगी समस्त संसारको इन्द्रजालके समान समझता है। आत्मस्वरूपकी प्राप्तिके लिये अभिलाषा करता है। तथा यदि किसी अन्य विषयमे उलझ जाता, या लग जाता है तो परवात्ताप करता है।

विश्ववार्थः — इलोक नं. ४२ में कहे गये "योगी योगपरायणः" शब्दको अन्त्यदीपक होनेसे सभी "निशामयित स्पृहयित" आदि क्रियापदोके साथ लगाना चाहिये। स्वात्म-सवेदन करनेमें जिसे आनन्द आता है, ऐसा योगी इस चर, अचर, स्थावर, जगमरूप समस्त वाहरी वस्तु- समूहको त्याग और ग्रह्णविषयक बृद्धिका अविषय होनेसे अवश्य उपेक्षणीय रूप इन्द्रजालियाके द्वारा दिखलाये हुए सर्पहार आदि पदार्थोंके समूहके समान देखता है। तथा विदानन्द-स्वरूप आत्माके अनुभवकी इच्छा करता है और अपनी आत्माको छोड़कर अन्य किसी भी वस्तुमें पहले संस्कार आदि कारणोसे यदि मनसे, वचनसे, या कायसे, प्रवृत्ति कर बैठता है, तो वहाँसे हटकर खुद हो पश्चात्पाप करता है, कि ओह! यह मैंने कैसे आत्माका अहित कर डाला।।३९॥

वोहा—इन्द्रजाल सम देख जग, निज अनुभव रुचि लात। अन्य विषयमें जात यदि, तो मनमें पळतात॥३९॥

आत्मानुभवीके और भी चिह्नोंको दिखाते हैं-

इच्छत्येकान्तसंवासं, निर्जनं जनितादरः। निजकार्यवशास्त्रिश्चदुक्त्वा विस्मरति द्रुतम् ॥४०॥

अन्वय—(योगी) निर्जन जनितादरः एकान्तसवासं इच्छति निजकार्यवशात् किञ्चिदुवत्वा द्रुतं विस्मरति ।

टोका—एकान्ते स्वभावतो निर्जने गिरिगहनादौ संवासं गुर्वादिभिः सहावस्थानमभिलवति । किवि-थिष्ट. सन्, जनितादरो जनमनोरञ्जनवमस्कारि-मन्त्रादि-प्रयोगवात्तिनिवृत्ती कृतप्रयत्तः । कस्मै निर्जनं जना-भावाय स्वार्थवशाल्लाभालाभादिप्रश्नार्थं लोकमुपसर्प्यन्त निर्पेच्यमिरयर्थः। व्यानाद्धि लोकचमस्कारिणः प्रत्ययाः स्युः । तथा चोषतम्—

''गुरूपदेशमासाद्य, समभ्यस्यन्ननारतम् । घारणासौधवाच्यानप्रत्ययानिव पश्यति'' ॥

तथा स्वस्वावस्थकरणीयभोजनादिपारतन्त्र्यास्किचिक्त्यसमग्रं श्रावकादिकं प्रति अहो इति अहो इद-मिति अहो इदं कुर्वित्रत्यादि भाषित्वा तत्क्षण एव विस्मरित । भगवन् किमादिरयत इति श्रावकादो पृच्छिति सित न किमप्यृत्तर ददाति । तथा—

अर्थ--निर्जनताको चाहनेवाला योगी एकान्तवासको इच्छा करता है और निज कार्यके वजसे कुछ कहे भी तो उसे जल्दी ही भुला देता है।

विश्वदार्थ—लोगोके मनोरंजन करनेवाले चमत्कारी मन्त्र-तत्त्र आदिके प्रयोग करनेकी वार्ताएँ न हुआ करें, इसके लिये अर्थात् अपने मतलबसे लाभ-अलाभ आदिकके प्रश्न पूछनेके लिये आनेवाले लोगोंको मना करनेके लिये किया है प्रयत्त जिसने ऐसा योगी स्वभावसे ही जनशून्य—पहाड़ोंकी गुहा-कन्दरा आदिकोंमें गुरुओके साथ रहना चाहता है। ध्यान करनेसे लोकचमत्कारी बहुतसे विश्वास व अतिशय हो जाया करते हैं, जैसा कि कहा गया है—"गुरूपदेशमासाद्य०"

"गुरसे उपदेश पाकर हमेशा अच्छी तरह अभ्यास करते रहनेवाला, घारणाओमें श्रेष्ठता प्राप्त हो जानेसे ध्यानके अतिशयोको भी देखने लग जाता है।" अपने शरीरके लिये अवश्य करने योग्य जो भोजनादिक, उसके वशसे कुछ थोड़ासा श्रावकादिकोंसे "अही, देखो, इस प्रकार ऐसा करना, अहो, और ऐसा, यह इत्यादि" कहकर उसी क्षण भूल जाता है। भगवन् ! क्या कह रहें हा ? ऐसा श्रावकादिकोंसे देशा । तथा—।।४०॥

दोहा—निर्जनता आदर करत, एकांत सवास विचार। निज कारजवश कुछ कहे, भूल जात उस बार॥ ४०॥

ब्रुवन्निप हि न ब्र्ते, गच्छन्निप न गच्छिति । स्थिरीकृतात्मतत्त्वस्तु, पश्यन्निप न पश्यति ॥४१॥

अन्वय—स्थिरीकृतात्मतत्त्वस्तु बुवन् अपि न ब्रूते गच्छन् अपि न गच्छित पश्यन् अपि न पद्यति ।

टोका—स्थिरीकृतात्मतत्त्वो दृढप्रतीतिगोचरीकृतस्यस्यरूपो योगी संस्कारवद्यात्परोपरोधेन ब्रुवस्निप धर्मादिकं भापमाणोऽपि न केवलं योगेन तिष्ठति ह्यपिशब्दार्थः । न ब्रूते हि न भाषत एव । तत्राभिमुख्या-भावात् । उनतं च—

"आस्मज्ञानात्परं कार्यं, न बुद्धौ धारयेच्चिरम् । कुर्यादर्थवशास्किचिद्वावकायाम्यामतत्परः" ॥५०॥ —समाधिश्चतकम्.

तथा भोजनार्थं व्रजन्निप न व्रजस्यपि । तथा सिद्धश्रतिमादिकमवलोक्यन्निप नावलोक्यत्येव । तुरेवार्थः । तथा–॥४१॥

क्षर्थं—जिसने आत्म-स्वरूपके विषयमे स्थिरता प्राप्त कर ली है, ऐसा योगी वोलते हुए भी नहीं बोलता, चलते हुए भी नहीं चलता और देखते हुए भी नहीं देखता है।

विश्रदार्थ—जिसने अपनेको दृढ प्रतीतिका विषय बना लिया है, ऐसा योगी संस्कारोके वशसे या दूसरोके सकोचसे धर्मादिकका व्याख्यान करते हुए भी नहीं बोल रहा है, ऐसा समझना चाहिये, क्योंकि उनको बोलनेको ओर झुकाव या ख्याल नहीं होता है। जैसा कि कहा है—"आत्म-ज्ञानात्परं कार्यं॰"

"आत्म-ज्ञानके सिवा दूसरे कार्यको अपने प्रयोगमे चिरकाल-तक ज्यादा-देरतक न टहरने देवे। किसी प्रयोजनके वश यदि कुछ करना पड़े, तो उसे अतत्पर होकर-अनासक्त होकर वाणी व शरीरके द्वारा करे। इसी प्रकार भोजनके लिये जाते हुए भी नहीं जा रहा है, तथा सिद्ध प्रति-मादिकोको देखते हुए भी नहीं देख रहा है, यही समझना चाहिये। फिर—॥४१॥

> दोहा—देखत भी नींह देखते, बोलत बोलत नाींह । दृढ़ प्रतीत आतममयो, चालत चालत नाींह ॥४१॥ ४

किमिदं कीदृत्रं कस्य, कस्मात्क्वेत्यविशेषयन् । स्वदेहमपि नावैति योगी योगपरायणः ॥४२॥

अन्वय—योगपरायण योगी किम् इदं, कोदृश, कस्य, कस्मात्, वव इति अविशेषयन् स्वदेहम् अपि न अवैति।

टीका-—इदमच्यात्ममनुभूयमानं तत्त्वं किं किरूपं कीदृशं केन सदृशं कस्य स्वामिकं कस्मारुक्तस्य सकाशात्त्व किंस्नन्नस्तीत्यविशेषयन् अविकल्पयन्सन् योगपरायणः समरतीभावमापन्नो योगी स्वदेहमपि न चेतप्रति का कथा हिताहितदेहातिरियतवस्तुचेतनायाः । तथा चोक्तम्—

तदा च परमैकान्याद्वहिरथेंपु सस्विप । अन्यन्न किचनाभाति, स्वमेवात्मिन परयतः" ॥ १७२ ॥ ——तत्त्वानुकासनम्.

अत्राह शिष्य.-कवमेतिदिति । भगवन् विस्मयो मे कथमेतदवस्थान्तरं संभवति । गुरुराह्-घीमन्नि-बोध ॥ ४२ ॥

अर्थ-च्यानमे लगा हुआ योगी यह क्या है ? कैसा है ? किसका है ? क्यों है ? कहाँ है ? इत्यादिक विकल्पोंको न करते हुए अपने शरीरको भी नही जानता।

विज्ञदार्थ—यह अनुभवमे आ रहा अन्तस्तत्त्व, किस स्वरूपवाला हे ? किसके सदृश है ? इसका स्वामी कौन है ? किससे होता है ? कहाँपर रहता है ? इत्यादिक विकल्पोको न करता हुआ किन्नु समरसीभावको प्राप्त हुआ योगी जो अपने ज्ञारीरतकका भी ख्याल नही रखता, उसकी चिन्ता व परवाह नही करता, तव हितकारी या अहितकारी शारीरसे भिन्न वस्तुओको चिन्ता करनेकी वात ही क्या ? जैसा कि कहा गया है—"तदा च परमैका०"

यहाँपर शिष्य कहता है कि भगवन् । मुझे आश्चर्य होता है कि ऐसी विलक्षण विभिन्न दशाका होजाना कैसे सम्भव है ?

उस समय आत्मामे आत्माको ही देखनेवाले योगीको बाहरी पदार्थोके रहते हुए भी परम एकाग्रता होनेके कारण अन्य कुछ नहीं मालूम पड़ता है।। ४२।।

> दोहा—क्या कैसा किसका किसमें, कहाँ यह आतम राम। तज विकल्प निज देह न जाने, योगी निज विश्राम॥ ४२॥

आचार्य कहते हैं, धीमन् ! सुनो, समझो-

यो यत्र निवसन्त्रास्ते, स तत्र क्रस्ते रतिम् । यो यत्र रमते तस्मादन्यत्र स न गच्छति ॥ ४३ ॥ अन्वय-यो यत्र निवसन् आस्ते स तत्र र्रात कुरुते यो यत्र रमते स तस्मान्न गच्छति ।

टीका—यो जनो यत्र नगरादी स्वार्थे सिद्धचङ्कात्वेन वद्धनिर्वन्धवास्तव्यो भवन् तिष्ठति स तस्मिन्नन्य-स्मान्निवृत्तन्तित्त्वान्निर्वृतित्वं लभते । यत्र यश्च तथा निर्वाति स ततोऽन्यत्र न यातीति प्रसिद्धं प्रतीतम् । अतः प्रतीहि योगिनोऽप्यात्मं निवसतोऽननुभूतापूर्वानन्दानुभवादन्यत्र वृत्त्यभावः स्यादिति । अन्यत्राप्रवर्त्तमा-नश्चेदृक् स्यात्—॥ ४३ ॥

अर्थ—जो जहाँ निवास करने लग जाता है, वह वहाँ रमने लग जाता है और जो जहाँ लग जाता है, वह वहाँसे फिर हटता नहीं है।

विद्यादार्थ—जो मनुष्य, जिस नगरादिकमें स्वार्थकी सिद्धिका कारण होनेसे बन्धुजनींके आग्रहसे निवासी बनकर रहने लग जाता है, वह उसमे अन्य तरफसे चित्त हटाकर आनन्दका अनुभव करने लग जाता है और जो जहाँ आनन्दका अनुभव करता रहता है, वह वहाँसे दूसरी जगह नहीं जाता, यह सभी जानते है। इसलिये समझो कि आत्मामे अध्यात्ममें रहनेवाले योगी अननुभूत (जिसका पहिले कभी अनुभव नहीं हुआ) और अपूर्व आनन्दका अनुभव होते रहनेसे उसकी अध्यात्मके सिवाय दूसरी जगह प्रवृत्ति नहीं होती।। ४३।।

दोहा—जो जामें बसता रहे, सो तामे रुचि पाय। जो जामें रम जात है, सो ता तज नींह जाय॥ ४३॥

जब दूसरी जगह प्रवृत्ति नहीं करता तब क्या होता है ? उसे आगेके श्लोकमे आचार्य कहते है—

अगच्छंस्तद्विशेपाणामनभिज्ञश्च जायते । अज्ञाततद्विशेपस्तु, वध्यते न विम्रुच्यते ॥ ४४ ॥

अन्वय-अगच्छन् तद्विशेषाणा अनिभन्नश्च जायते अज्ञाततद्विशेषस्तु न वध्यते, विमुच्यते ।

दोका—स्वारमतत्त्वनिष्टोऽन्यत्र अगच्छन्तप्रवर्तमानस्तस्य स्वारमनाऽन्यस्य वेहादिवशेषाणा सौन्दर्यास्त्रीन्दर्यादिवर्माणामनभिज्ञ आभिमुख्येनाप्रतिपत्ता च भवति । अज्ञाततद्विशेष. पुनस्तत्राजायमानरागद्वेपस्वान्तर्कर्मभिनं वृद्यते । कि तर्हि । विशेषेण ब्रताखनुष्ठातृस्योऽतिरेकेण तैर्मुच्यते । कि च ॥ ४४ ॥

अर्थ-अध्यात्मसे दूसरी जगह प्रवृत्ति न करता हुआ योगी, शरीरादिककी मुन्दरता असुन्दरता आदि धर्मोकी ओर विचार नहीं करता और जब उनके विशेषोकी नहीं जानता, तब वह बंधको प्राप्त नहीं होता, किन्तु विशेष रूपसे छूट जाता है।

विश्ञदार्थ—स्वात्मतत्त्वमे स्थिर हुआ योगो जब अध्यात्मसे भिन्न दूसरो जगह प्रवृत्ति नही करता, तब उस स्वात्मासे भिन्न शरीरादिके सौन्दर्य-असौन्दर्य आदि विशेषोसे अनिभन्न हो जात है और जब उनकी विशेषताओंपर स्थाल नही करता, तब उनमें राग-हेष पैदा न होनेके कारण कर्मोसे वँधता नही है, किन्तु ब्रतादिकका आचरण करनेवालोंकी अपेक्षा भी कर्मोसे ज्यादा छूटत है।। ४४।।

दोहा—वस्तु विशेष विकल्पको, नींह करता मितमान । स्वात्मनिष्ठतासे छुटत, नींह वँवता गुणवान ॥ ४४ ॥

और भी कहते है-

परः परस्ततो दुःखमात्मैवात्मा ततः सुखम् । अत एव महात्मानस्तिचिमित्तं कृतोद्यमाः ॥ ४५ ॥

अन्वय--परः परः ततो दु.खं, आत्मा आत्मा एव ततः सुखम् अतएव महात्मानः तन्निमित्तं कृतोद्यमाः।

टीका—परो देहादिरर्थः पर एव कर्षविदिष तस्यास्मीकर्त्तुमशक्यत्वात् । यतश्चैवं ततस्तस्मादात्मन्या-रोप्यमाणो दु खमेत्र स्यात्तद्द्वारत्वात् दु खिनिमित्ताना प्रवृत्तेः । तथा आत्मा आत्मैव स्यात् । तस्य कदाचिदिष वेहादिरूपत्वानुपादानात् । यतस्वैवं ततस्तस्मात्युख स्याद्दुःखिनिमित्ताना तस्याविपयत्वात् । यतस्वैवम् अत एव महात्मानस्तीर्थकरादयस्तिस्मिनिमित्तनात्मार्थं कृतोद्यमा विनिहिततपोनुष्ठानाभियोगा संजाताः । अय परद्रव्यानुरागे दोषं दर्शयति—॥ ४५ ॥

अर्थ-दूसरा दूसरा ही है, इसिलये उससे दु:ख होता है, और आत्मा आत्मा ही है, इसिलये ससे सुख होता है। इयिलये महात्माओने आत्माके लिये ही उद्यम किया है।

विश्वदार्थ —पर देहादिक अर्थ, पर ही है। किसी तरहसे भी उन्हें आत्मा या आत्माके सदृश नहीं बनाया जा सकता। जब कि ऐसा है तब उनसे (आत्मा या आत्माके मान छेनेसे) दु ख ही होगा। कारण कि दु खके कारणोकी प्रवृत्ति उन्हींके द्वारा हुआ करती है। तथा आत्मा आत्मा ही है, वह कभी देहादिकरूप नहीं बन सकता। जब कि ऐसा है, तब उससे सुख ही होगा। कारण कि दु खके कारणोको वह अपनाता ही नहीं है। इसीछिये तीर्थंकर आदिक बड़े-बड़े पुरुपोने आत्माके स्वरूपमें स्थिर होनेके लिये अनेक प्रकारके तपोंके अनुष्ठान करनेमें निद्रा, आलस्यादि रहित अप्रमत्त हो उद्यम किया। ४५।।

दोहा—पर पर तातें दुःख हो, निज निज ही सुखदाय। महापुरुष उद्यम किया, निज हितार्थ मन लाय॥ ४५॥

परद्रव्योमे अनुराग करनेसे होनेवाले दोपको दिखाते हैं-

अविद्वान् पुद्गलद्रव्यं, योऽभिनन्दति तस्य तत् । न जातु जन्तोः सामीच्यं, चतुर्गतिषु मुखति ॥ ४६ ॥

अन्वय—यः अविद्वान् पुद्गलद्रव्यं अभिनन्दति तस्य जन्तोः तत् चतुर्गतिषु सामीप्य जातु न मुञ्चिति ।

टीका—पः पुनरिनद्वान् हियोपादेयनत्त्वानिमजः पुद्गलद्वत्यं देहादिकमिनन्दिति श्रष्ठते वात्मात्मीय-भावेन प्रतिपद्यते तस्य जन्तोर्जीवस्य तत्युद्गलद्वत्यं चतसृषु नारकादिगतिषु मामीप्यं प्रत्यातित्तं संयोगसयन्यं जात् कदाचिदपि म_्त्यजति । अयाह् किप्यः—स्वरूपपरस्य कि भवतीति सुगग् । गुग्राह—॥ ४६ ॥ अर्थ-जो हेगोपादेयके स्वरूपको न समझनेवाला, बरीरादिक पुद्गल द्रव्य को आप (आत्मा) रूप तथा अपनेको (आत्माके) मानता है, उस जीवके साथ नरकादिक चार गतियोंमें वह पुद्गल अपना सम्बंघ नहीं छोडता है, अर्थात् भव-भवमें वह पुद्गलद्रव्य जीवके साथ वैधा ही रहता है। उससे पिंड नहीं छूट पाता ।।४६।।

दोहा—पुद्गलको निज जानकर. अज्ञानी रमजाय । चहुँगतिमें ता संगको, पुद्गल नहीं तजाय ॥४६॥

आत्मस्वरूपमें तत्पर रहनेवालेको क्या होता है ? आचार्य कहते हैं—

> आत्मानुष्ठाननिष्ठस्य, व्यवहारबहिःस्थितेः । जायते परमानन्दः, कथिद्योगेन योगिनः ॥४७॥

अनन्वय-आत्मानुष्ठानिष्ठस्य व्यवहारबहिः स्थितेः योगिनः योगेन कश्चित् परमानन्दो जायते ।

टोका-आत्मानोऽमुष्ठानं देहादेर्व्यावर्त्य स्वात्मन्येवावस्थापनं तत्परस्य व्यवहारात्प्रवृत्तिनिवृत्तिलक्ष-णाद्वहि.स्थिते. बाह्यस्य योगिनो ध्यातुर्योगेन स्वात्मध्यानेन हेतुना कश्चिद् वाचामगोचर परमोऽनन्यसंभवी आनन्द उत्पद्यते। तत्कार्यमुच्यते—॥४७॥

अर्थं—देहादिकसे हटकर अपने आत्मामे स्थित रहनेवाले तथा प्रवृत्ति-निवृत्ति-लक्षण-वाले व्यवहारसे वाहर दूर रहनेवाले ध्यानी योगी पुरुषको आत्म-ध्यान करनेसे कोई एक वचनोंके अगोचर परम जो दूसरोंको नहीं हो सकता ऐसा आनन्द उत्पन्न होता है।।४७॥

> दोहा—प्रहण त्यागसे ज्ञून्य जो. निज आतम लवलीन । योगीको हो ध्यानसे, कोइ परमानन्द नवीन ॥४७॥

उस आनन्दके कार्यको बताते है-

आनन्दो निर्दहत्युद्धं, कर्मेन्धनमनारतम् । न चासौ खिद्यते योगी, वहिर्दुःखेब्वचेतनः ॥४८॥

अन्वय—(सः) आनन्दः उद्घं कर्मेन्त्रनम् अनारतं निर्देहति योगी असौ च बहिर्दुः खेपु अचेतनः न खिद्यते ।

टोका—स पुनरानन्द उद्घं प्रभूतं कर्ममंतित निर्दहित । विह्निरिन्धनं यथा । कि च अमाबानन्दा-विष्टो योगी बहिंदुं खेपु परीपहोपसर्गवलेशेपु अचेतनोऽसंवेदनः स्यात्तत एव न खिद्यते न संवलेशं याति । यस्मा-देवं तस्मात्—॥४८॥

अर्थ- जैसे अग्नि, ईन्यनको जला डालता है, उसी तरह आत्मामें पैदा हुआ परमानन्द, हमेशासे चले आए प्रचुर कर्मोंको अर्थाल कर्म-सन्तितको जला डालता है, और आनन्दसिह्त योगी, बाहरी दुःखोके-परीषह उपसर्ग-संबंधी बलेशोके अनुभवसे रहित हो जाता है। जिससे खेदको (सक्लेशको) प्राप्त नही होता ॥४८॥ दोहा—निजानंद नित दहत है, कर्मकाष्ट अधिकाय। बाह्य दुःख नींह बेदता, योगी खेद न पाय।।४८॥

इसलिये---

अविद्याभिदुरं ज्योतिः, परं ज्ञानमयं महत् । तत्प्रष्टच्यं तदेष्टच्यं, तद् द्रष्टच्यं मुमुक्षुभिः ॥४९॥

अन्वय—अविद्याभिदुरं महत् परं ज्ञानमयं ज्योतिः मुमुक्षुभिः तत् प्रष्टव्यं तत् एष्टव्यं तद् द्रष्टव्यम् ।

टीका—तदानन्दस्वभावं ज्ञानमयं स्वायावभासारमकं परमुक्कण्टमविद्याभिदुरं विश्वमच्छेदकं महत् विषुवाम् इन्द्रादोना पूज्यं वा ज्योति प्रव्टब्यं सुमुक्षुभिर्मुवीदिस्योऽनुयोक्तव्यम् । तथा तदेव एष्टब्यं व्यभिक्त पणीयं तदेव च द्वव्टब्यमनुभवनीयम् । एवं ब्युत्पाद्य विस्वरतो ब्युत्पाद्य उक्तार्थतत्त्वं परमकष्णया संगृद्ध तन्मनस्य संस्थापियतुकामः सूरिरिदमाह कि बहुनीति । हे सुमते कि कार्यं बहुनोक्तेन हेयोपादेयतत्त्वयोः संसेपे- णापि प्राज्ञचेतिस निवेशयितुं शययत्वादिति भावः ॥ ४९ ॥

अर्थ-अिंवडाको टूर करनेवाली महान् उत्कृष्ट ज्ञानमयी ज्योति है। सो मुमुक्षुओं (मोक्षाभिलापियो) को उसीके विषयमे पूछना चाहिये, उसीकी वांछा करनी चाहिये और उसे ही अनुभवमें लाना चाहिये।

विश्वरार्थं—वह आनन्द स्वभावशाली, महान् उत्कृष्ट, विश्वमको नष्ट करनेवाली, स्वार्थको प्रकाशन करनेवाली, अथवा इन्द्रादिकोंके द्वारा पूज्य ऐसी ज्योति है। मोक्षको इच्छा रखनेवालोंको चाहिये कि वे गुरु आदिकोसे उसीके विषयमे पूछ-ताछ करें तथा उसीको चाहें एवं उसीका अनुभव करें। १९९॥

दोहा—पूज्य अविद्या-दूर यह, ज्योति ज्ञानमय सार । मोक्षार्थी पूछो चहो, अनुभव करो विचार ॥४९॥

इस प्रकार शिष्यको विस्तारके साथ समझाकर आचार्य अब परम करुणासे उस कहे हुए अर्थस्वरूपको संक्षेपके साथ शिष्यके मनमे वैठानेको डच्छासे कहते है कि "हे सुमते-अच्छी बृद्धिवाले । बहुत कहनेसे क्या ? हेय-उपादेय तत्त्वोको सक्षेपमे भी बुद्धिमानोंके हृदयोमे उतारा जा सकता है। उन्हें साररूपमें बतलाया जा सकता है।"

जीवोऽन्यः पुद्गलश्चान्य इत्यसौ तन्वसंग्रहः। यदन्यदुच्यते किञ्चित्, सोऽस्तु तस्यैव विस्तरः॥५०॥

अन्वय—जीव. अन्यः, पुद्गलभ्च अन्यः इति असौ तत्त्वसग्रहः यत् अन्यत् किञ्चित् उच्यते स तस्येव विस्तर अस्तु ।

टीका--जीवो देहादेभिन्नो देहादिश्च जीवाद्भिन्न इतीयानेव वसी विधीयते ज्ञात्मनस्तत्त्वस्य भूतार्थस्य संग्रह. सामस्त्येन ग्रहण निर्णय. स्यात् । यत्पुनरितस्तत्त्वसंग्रहादस्यदतिरिक्तं किञ्चिद्भेदायिक विस्तरचीच-शिष्पपेक्षयात्रार्येरुच्यते स तस्यैव विस्तरो व्यासो यस्तु तमिष वयमभिनन्दाम इति भाव ॥ ५०॥

बाचार्यः ज्ञास्त्राध्ययनस्य साक्षात्पारंपर्येण च फलं प्रतिपादयति—

अर्थ--- 'जीव जुदा है, पुद्गल जुदा है, 'वस इतना ही तत्त्वके कथनका सार है, इसीमें सब कुछ आ गया। इसके सिवाय जो कुछ भी कहा जाता है, वह सब इसीका विस्तार है।

विश्वदार्थ—'जीव' शरीरादिकसे भिन्न है, 'शरीरादिक' जीवसे भिन्न है' वस इतना ही कहना है कि सत्यार्थ आत्मरूप तत्त्वका सम्पूर्ण रूपसे ग्रहण (निर्णय) हो जाय। और जो कुछ इस तत्त्व-संग्रहके सिवाय भेद-प्रभेद आदिक विस्तारमें सुननेकी रुचि-इच्छा रखनेवाले शिष्योंके लिये आचार्योंने कहा है, वह सब इसीका विस्तार है। इसी एक बातको 'जीव जुदा है और पुद्गल जुदा है' समझाने के लिये ही कहा गया है। जो विस्तार किया है। उसको भी हम श्रद्धाकी दृष्टिसे देखते है। ५०।।

दोहा—जीव जुदा पुद्गल जुदा, यही तत्त्वका सार। अन्य कछू व्याख्यान जो, याहीका विस्तार॥५०॥

आचार्य शास्त्रके अध्ययन करनेका साक्षात् अथवा परम्परासे होनेवाले फलको बतलाते है-

इष्टोपदेशमिति सम्यगधीत्य धीमान्, मानापमानसमतां स्वमताहितन्य । मुक्ताग्रहो विनिवसन् सजने वने वा, मुक्तिश्रियं निरुपमामुपयाति भव्यः ॥५१॥

अन्वय—इति इष्टोपदेशं सम्यक् अधीत्य धीमान् भव्यः स्वमतात् मानापमानसमतां वितन्य मुक्ताग्रहः सजने वने वा निवसन् निरुपमां मुक्तिश्रयम् उपयाति ।

टीका—इत्यनेन प्रकारेण इष्टोपदेशं इष्टं सुखं तत्कारणत्वानमोक्षस्तदुपायत्वाच्च स्वात्मध्यानम् उप-विश्यते यथावत्प्रतिपाद्यते अनेनास्मिन्निति वा इष्टोपदेशो नाम ग्रम्थस्तं सम्यग्व्यवहारिनश्चयाम्यामधीत्य पठित्वा विन्तियित्वा च धीमान् हिताहितपरीक्षादक्षो भव्यांऽनन्तज्ञानाद्याविर्भावयोग्यो जीवः मुक्तिश्चियमनन्तज्ञानादि-संपदं निश्वमामनीपम्या प्राप्नोति । कि जुर्वन्मुवताग्रहो विज्ञत्वहिर्ध्याभिनिवेशः सन् सजने ग्रामादौ वने वाऽरण्ये विनिवसन् विधिपूर्वकं तिष्ठन् । कि क्रुत्वा, वितन्य विशेषेण विस्तार्य । का, माने महत्त्वाधाने अपमाने च महत्त्वखण्डने समता रागद्वेषयोरभावम् कस्माद्धेतो, स्वमतात् इष्टोपदेशाध्ययनिचन्तनजनितादात्मज्ञानात् । उनतं च—॥ ५१ ॥

"यदा मोहात्प्रजायेते, रागद्वेपी तपस्विनः । तदैव भावयेत्स्वस्थमात्मानं शाम्यतः क्षणात्" ॥ ३९ ॥
—समाधिशतकम् ।

अर्थ-इस प्रकार 'इष्टोपदेश' को भली प्रकार पढ़कर-मनन कर हित-अहितकी परीक्षा करनेमे दक्ष-निपुण होता हुआ भव्य अपने आत्म-ज्ञानसे मान और अपमानमे समताका विस्तार कर छोड दिया है आग्रह जिसने ऐसा होकर नगर अथवा वनमे विधिपूर्वक रहता हुआ उपमा रहित मुक्तिरूपी लक्ष्मीको प्राप्त करता है।

विश्वादार्थं—इष्ट कहते हैं सुखको-मोक्षको और उसके कारणभूत स्वात्मध्यानको । इस इष्टका उपवेदा यथावत् प्रतिपादन किया है जिसके द्वारा या जिसमें इसलिये इस ग्रन्थको कहते हैं 'इष्टो-पवेदा' । इसका भली प्रकार व्यवहार और निश्चयसे पठन एव चिन्तन करके हित और अहितकी परीक्षा करनेमें चतुर ऐसे भव्य प्राणी, जिससे अनन्त-ज्ञानादिक प्रगट हो सकते है—इस इष्टोपदेशके अध्ययन-चिन्तन करनेसे उत्पन्न हुए आत्मज्ञानसे मान-अपमानमे राग-द्वेवको न करना रूप समताका प्रसार कर नगर-ग्रामादिकोंमे अथवा निर्जन-चनमें विधि-पूर्वक ठहरते हुए छोड़ दिया है वाहरी

पदार्थों में और मेरेपन का आश्रह अथवा हठाग्रह जिसने ऐसा वीतराग होता हुआ प्राणी अनुपम तथा अनन्त ज्ञानादि गुणोंको और सम्पत्तिरूप मुक्ति-लक्ष्मीको प्राप्त कर लेता है। जैसा कि कहा गया है "यदा मोहात्प्रजायेते॰"।।

जिस समय तपस्वीको मोहके उदयसे मोहके कारण राग-द्वेष पैदा होने लगे, उस समय शीघ्र ही अपनेमें स्थित आत्माकी समतासे भावना करे, अथवा स्वस्य आत्माकी भावना भावे, जिससे क्षणभरमें वे राग-द्वेष शान्त हो जावेंगे ॥ ५१ ॥

> दोहा—इप्टरूप उपदेशको, पढ़े सुबुद्धी भव्य। मान अमानमें साम्यता, निज मनसे कर्तव्य॥ आग्रह छोड़ स्वग्राममें, वा वनमें सु वसेय। उपमा रहित स्वमोक्षश्री, निजकर सहजहि लेय॥ ५१॥

लागे इस ग्रन्थके सस्कृतटीकाकार पंडित आशाधरजी कहते हैं कि— प्रशस्ति :

विनयेन्दुमुनेर्वाक्याद्भव्यानुग्रहहेतुना । इष्टोपदेशटीकेयं कृताशाधरधीमता ॥

अर्थ—विनयचन्द्र नामक मुनिके वाक्योंका सहारा लेकर भव्य प्राणियोके उपकारके लिये मुझ आशाधर पडितने यह 'इष्टोपदेश' नामक ग्रन्थकी टीका की है ।

उपञाम इव मूर्तः सागरेन्दोमुनीन्द्रादजनि विनयचन्द्रः सच्चकोरैकचन्द्रः । जगदमृतसगर्भा शास्त्रसंदर्भगर्भाः, शुचिचरितवरिष्णोर्यस्य धिन्वन्ति वाचः ॥ २ ॥

अर्थे—सागरचन्द्र नामक मुनीन्द्रसे विनयचन्द्र हुए जो कि उपशमकी (शांतिकी) मानो मूर्ति ही थे तथा सज्जन पुरुपरुपी चकोरोके लिये चन्द्रमाके समान थे और पवित्र चारित्रवाले जिन मुनिके अमृतमयी तथा जिनमे अनेक शास्त्रोकी रचनाएँ समाई हुई है, ऐसे उनके वचन जगतको तृप्ति व प्रसन्नता करनेवाले हैं।

जयन्ति जगतीवन्द्या, श्रीमन्नेमिजिनाङ्घयः । रेणवोऽपि शिरोराज्ञामारोहन्ति यदाश्रिताः ॥ ३ ॥ अर्थ—जगद्वंद्य श्रीमान नेमिनाथ जिनभगवान्के चरणकमळ जयवन्त रहे, जिनके आश्रयमे

अय—जगद्वध आमान नामनाथ । जनमगनाच्क चरणकमळ जयनग्त रह, जिनक रहनेवाली धूलि भी राजाओके मस्तकपर जा बैठती है।

इति श्रीपुज्यपादस्वामिविरचितः इष्टोपदेशः समाप्तः । इस प्रकार श्रीपुज्यपादस्वामीके द्वारा बनाया हुआ (इष्टोपदेश' नामक ग्रन्थ समाप्त हुआ ।

मराठी साधारण सशोधन है

परिशिष्ट नं. १

आप्र्यपादस्वामीकृत रलोकांचा श्रीअज्ञात कविकृत मराठी पद्यानुवाद



--: e:--

कर्मी समूळ नाश्नि प्रगटविती जे स्वयं स्वभीवाते । वंदन त्या हो माझे सम्यक्तान-स्वरूपि आत्म्यातें ॥ ۶ स्वर्णजये बनेत हो त्या दगडातून मानिती कनक । आत्मत्व मिळवि आत्मा होता द्रव्यादि चार तै एक ॥ वत सुरपद दे म्हणुनी इष्टिंच परि अवते मिळें नरक । छायेंत मित्र जेवी वघत उसे बाट आतेंपी एक ॥ ज्या चितवितां लाभे शिव, त्याते स्वर्ग दूर किति राही। क्रोशार्टे खेद कसा, जो सहजचि भार कोस दो नेई।। ४ स्वर्गिय स्रस्त असते निरोगि ते अक्षेजन्य नाकाते । बहुकाळ भोगता येते सूख त्यानाच योग्य लोकांत ॥ फक्त वासना असती संसारीचे जगात सुख-दु:ख। दाविति आपत्काली रोगासम अक्षभोग भय देख।। संवर्त मोहे ज्ञान न जाणी द्रव्यस्वभाव, मत्त बने । द्रव्यं मद्योत्पादक पदार्थभावा तसा न नर जाणे ॥ घर, घन, शरीर, दारा शत्रु मित्रादि पुत्र वस्तु ना । अन्यस्वभावि सगळे परि मानी मृढ आपले त्याना ॥ ८ निश्चि खग येउनि वसती, दिग्देशात्न नगानगावरती । निज निजकार्यवशे ते देशोदेशी उजाडता जाती ॥ केवि विराधक मारिति त्याते. करि त्या जनावरी कोष । त्र्यंगुल पदी घरोनो पाडी, दण्डे पडे अपोक्षाप ॥ रागद्वेपे मथिता कर्माचे वघ निचेचि नवनीर्त । जीवात्मा बज्ञानें त्या चिर ससार-सागरी भ्रमत ॥ विपदा भवपथवर्ती पथिकेसम जाति सारली दूर । जोवरि तोवरि दुसरी विपदा, जीवासमोर ये प्रचुर ॥ १२ रक्षाया मिळवाया धनादि नश्वर कठीण जे असती । मानी सुखी तथे नर पिउनि घता ज्वर हरावया वयती॥ १३ इतरासम अपणाते येति निपत्तिन विचार मूढास। पशु जळती वीन वधुनी तरुवर बसुनिन विचारि निजनाश ॥१४ आयुक्षय धनवृद्धिस कारण निर्णमन होय कालाचे । तत्त्रेमी धनिकाते जीवाहन अधिक इष्ट पैशाचे ॥ निर्धन करि धनसचय,कर्मा श्रेयेचि प्राप्त त्यागाया।स्नान कराचे म्हणूनी पंके ⁹⁰ लिपन करीच देहा या ॥ १६ बार्सि तापदायक मिळता अतृष्ति वाहते जाण । भोगून, हेयभोगी अधिकचि भोगील तो सुबी कवण ? ॥ १७ ज्याच्या संगतिने जिंग बनती वस्तूं पितत्र अपित्र । त्या इच्छिणे वृथा हो काया संतत अपाय जी करित ॥१८ जपकारक जे जीवा अपकारक तेच होय देहास । जे जपकारक होते अपकारक ते ठरेचि जीवास ॥ चिंतामणि दिव्य तसा खंडे पेंडिचा तथापि नि:सार। लाभित उभयध्यानें कोणा बुध मानतील बध सारे २००

१ मूल स्वरूपवाला २ उन्हात ३ इन्द्रियजन्य ४ स्वर्गात ५ वेष्टित ६ वदला घेणारा ७ एक माती खांद-णेचे यंत्र अर्घात् कुदाल फावडे या सारखे ८ लोणो ९ संसारात पदोपदी येणारी १० चिखलाने ११ तुकडा १२ श्रेष्ठ

स्वानुभये तो प्रगटे प्राप्त देह सम जमा असे माने । अत्यंत मूखी बात्मा लोकालोकावलोकि वय जाण ॥ २१ एकाग्रमने इंद्रिय-विषयाते त्यज्ञिन संयमे जगती । आत्मज्ञानी आत्मा आत्म्यामाजी बसे तथा चिती ॥ şş अजभित अज्ञाना जन्मा जानभित दे दान । जें ज्या जयळी तो सें जिंग दे प्रत्याव हैं असे यूचन ॥ ₹3 बब्बात्म्याच्या योगें परीपहादिक न तेच अनुभवता। आखब निरोत्रिकर्मा येड निर्जरा मुझीझ की मैसैतां ॥ २४ कर्ती चटईचा भी यांतिच संबंध भिन्न दोषाचा । व्यान ध्येयचि आस्मा केवी संबंध भिन्न वर स्वाचा ॥ 34 मोही कर्मा वाची निर्मोही तो तयातुनी सुदत । म्हणनी मयळपा यत्ने निर्मम भावाम भावणे सतत ॥ Şξ निर्मोहि एकटा भी विशुद्ध योगीद्रगोचेर जानी । वाह्मभाव संयोगज से मजहन बाह्म उर्व तु जानी ॥ უც प्राण्या द रासमुहा संयोगे भोगणें पटे भूवनी । म्हणूनी स्वजिती स्वार्ते सगळचा गत वचन काय-कर्मानी ॥ २८ माते न मरण केवी भय ना, व्याधी क्रांनी व्याया होया। मो बुद्ध न बाल न भी तमण न हें भेद पुद्नली पाय ॥२९ मोहें संतत सगळे म्या पुदगल भोग भोगनी त्यजिलें। यद गज तत्यज्ञान्या त्या उन्हिंगैत राग पेवि गळे ? ॥३० कर्मीच हितकर कर्मा आरमा आस्म्यास ही हितावह तो। स्वस्वप्रभाव जाणुनि, स्वार्था वद कोणना जगी बहुतो ३१ परोपकृति ती त्यजुनी सुझासम हो स्वतास उपकारी । दृश्यमानमा सञ्चा करि उपकार न असे परा भारी ॥ ३२ अम्यासे उपदेशे गुरुच्या तो अनुभवन आत्म्याते । निजपर भेदा जाणुनि, भोगी चिरकाल मोक्ष सीहवाते ॥ ३३ त्या ती सद् अभिकापाइष्ट वस्तुने तथा अमे ज्ञान । शात्मान गुम आत्म्या प्रेरक निजहित अमे स्वता जाण ॥ ३४ अज्ञ न असतो ज्ञाता विज्ञाता गूर्त तो कथी नसतो । दुसरे निमित्त केवळ गतिते धर्मास्तिकाय जै होतो ॥ ३५ विक्षेप न मनि वर्षनी तत्वी सरियत बनुन एकाती । अभियोगे त्या स्वातिमक तत्वा अस्यासणे मुने जगती ॥ ३६ हें बात्मतत्त्व उत्तम स्वानभवाते जसे जरों येते । विषय सुलम ते बसुनी यदा न जीवा वसे तरों रुवते ॥ ३७ इद्रिय-विषय न जेवी सूलम बसोनी न रुचति पुरुषाते । तेथी उत्तम तत्त्वचि, रुनते निज अनुभवास येता तें ।।३८ बारमलाभ तो इच्छी इद्रजालसम जनास निःशेष । बघुनी, विषयात दुज्या रमता, मनि सेंद होइ वह त्यास ॥३९ इच्छुनि अतिप्रयस्ने निर्जन एकातवासि तो रमतो । निजकार्यवर्षे किचित् बोछुन विसहन त्यास तो जातो ॥४० बोलत असुनि न बोले चालत असता गदा न तो चाले। पाहत असुनि न पाही आरिमक तरवी स्विरस्व मेळविले ॥४१ कोण कुणाचे कैमे कवणे कोठे असेच हा राम । त्यागुनि विकल्प देहा, जाणि न निजयोगि योग विश्राम ॥ ४२ जो जेथें वसित करी, तेथे तो जीव करितसे प्रीति । रममाण जिथें होतो तेथुन कोठे न जात तो जमती ॥ ४३ सोडन कुठे न जाती राहि, विशेषा तदीय अनिभज्ञ । तिहिशेष अन्नत्ये हो बद्ध न मुक्त होय परि सुज्ञ ॥ पर ते परदु खद हो आतम्या आतम्येच सीख्य मानवते । तद् प्राप्तिस्तव उद्यम करिती म्हणुनी महान मानव ते ॥४५ करि पदगल दस्त चे अभिनदन जो जगी अविद्वान । सहवास जतुचा त्या सोडी चारी गतीत ते कर्षि न ॥४६ व्यवहार-बाह्य होसन आत्मध्यानात होइ लब-लीन । योगाच्या योगवळे त्या परमानद एक घे जनन ॥ अधिकचि जाळितसे हा, अनंत कर्मेंबनास आनद । विहरग दु.ख योगी मुळि अनुभवतो न पावतो खेद ॥ ४८ दुर अविद्येहन ती ज्ञानसयी श्रेष्ठ परमशी ज्योति । प्रश्न करी अनुभव घे विचार त्याचा करीच मोक्षार्थी ॥ ४९ हा संग्रह तत्त्वाचा वघ पुद्गल जीव दोन ते भिन्न । जे अन्य जाइ नियले त्याचा विस्तार तो ठरे जाण ॥ ५०

इष्टोपदेश बुध वाचुन चिंतवृत् । मानापमानि समता स्वमते वरून ॥ मुक्ताग्रही जिंत वनी विधिने ^{१८}वसून । मुक्तिश्रिया निरुपमा करि प्राप्त जाण ॥ ५१

१३ प्रमाण १४ सट्वृद्धिकाली, केवलज्ञानी १५ गोचर-जाणले जाते-ते ज्ञानात जाते तें १६ ओकून टाक-केल्या १७ मुक्तीच्या आग्रहात १८ विधिपूर्वक

परिशिष्ट नं २ श्रीमत्पूज्यपादस्वामिकृत रत्नोकोनो श्रीरावजीभाई देसाई कृत् गुजराती पद्यानुवाद। इष्टोपदेश

मंगलाचरण अनुष्टुप छंद

अपूर्वं तत्त्वहृष्टिना दाता सद्गुरु राजने; नमी इष्टोपदेशे आ, रमुं, साधुं स्वकाजने ॥ पूज्यपाद सूरिवर्यें, रच्यो इष्टोपदेश आ; रमावी आत्मवृत्ति त्यां, मोक्षार्थी श्रेय साधता ॥

> अवतरण ग्रंथारभ

सर्वं कर्मी हणी पोते, पाम्या आत्मस्वभावने; केवलज्ञानरूपी ते, नसु सत् परमात्मने ॥ १ ॥ स्वर्णपाषाण सहेत् पासी सोनं बनी रहे; सुद्रव्यादि तणा योगे, आत्मा जुद्धात्मता लहे ॥ २ ॥ त्रतो आपे सुखो स्वर्गे, अव्रतो नरके दू.खो; छांये तापे उभा बेनो, भेद मोटो अहो लखो !॥ ३॥ आत्मभाव यदि मोक्ष आपे स्वर्ग विसात नाः कोश वे जे लई जाये, क्रोशार्ध थाय महात ना ॥ ४॥ स्वर्गमां अमरोने जे सुखो इन्द्रियजन्य ए, निरामधी चिरस्थायी देवोने योग्य भोग्य ते ॥ ५ ॥ जीवोनी वासना मात्र ए इन्द्रिय सुखो दुःखो; भोग ते रोगवत् पीडा, आपे आपित्तमां जओ ॥ ६ ॥ मोहाच्छादित जो ज्ञान, जाणे ते न स्वभावने; मेणो चढचे खुवे प्राज्ञो, शुद्धि, बुद्धि-प्रभावने ॥ ७ ॥ देह गेहादि स्त्री पुत्रो, बात्रु मित्रो धनादि तो; स्वभावे सर्वथा न्यारां, सूढ माने स्वकीय जो ॥ ८॥ भिन्न देश दिशामांथी पक्षी आवी तरु वसे: प्रभाते सौ स्वकार्यार्थे, ऊडी जाये दिशे दिशे ॥ ९ ॥ विराधे अन्यने तुं तो अन्य ते तुजने हणे; करे छे क्रोव त्यां शाने ? वावे तेवुं जगे लणे ॥ १० ॥ अज्ञाने राग ने हेष, नेतरां कप्ट नोतरे; खेंचातां, दंडवत जीवो, भवाव्धिमां भम्या करे ॥ ११ ॥ विपत्ति एक ज्यां जाये. आवे तेवी बीजी घणी: संसारे प्राणीने एवी, घटमाल विपत्तिनी ॥ १२ ॥ कमातां रक्षतां कष्ट धनादि नाज्ञवंतने; सुखी तेथी गणे तो, श्रं, सुख घीथी ज्वरार्त्तने ?॥ १३॥ विपत्ति अन्यनी जोतां, पोतानी न विचारतो; वने ज्यां सौ बळे प्राणी, मुर्ख वृक्षे रह्यो छतो ॥१४॥ आयु-भोगे वधे लक्ष्मी, धनिको तोय ते चही, धनार्थे आयु गाळी दे, प्राणथी इप्ट श्री तहीं ॥ १५ ॥ दान के पुण्यना नामे, निर्धनो घन संग्रहे; तो ते 'स्नाने यशुं शुद्ध' चही पंके वृथा पड़े ॥ १६ ॥ पमाये क्षष्टथी भोगो, पाग्ये तृप्ति न आपता; त्यागतां दुःख दे अंते, तेसां सुज्ञो शुं राचता ? ॥१७॥ जेना संगे शुचि एवा, पदार्थी अशुचि बने; ते दुःखमूर्ति वेहार्थे, भोगनी चाह श्रुं तने ? ॥ १८ ॥ आत्माने श्रेयकारी जे, देहने अपकारी ते; किंतु देहीपकारी जे, आत्माने अपकारी ते ॥ १९ ॥ विच्य चितासणि एक, काचनो कटको बीजो; मळे जो ध्यानथी बन्ने, विवेकी इच्छन्ने कयो ? ॥२०॥ स्पष्ट स्वानुभवे व्यक्त, अक्षयी देहव्यापक; आनंद धाम आ आत्मा, लोकालोक-प्रकाशक ॥ २१ ॥ चित्त-एकाप्रता साघी, रोकी इन्द्रिय-प्रामने; आत्माथी संयमी ध्यावे, आत्ममां स्थित आत्मने ॥२२॥ ज्ञानीना आश्रये ज्ञान, अज्ञयी अज्ञता मळे; 'होय जेनी कने जे ते, आपे' लोकोक्ति ए फले ॥२३॥

परीपहो जगाये ना, मग्न अध्यात्ममां थतां, आस्रवो रोकती याये कर्मनी बीघ्र निर्जरा ॥२४॥ कर्ता हं सादडीनो त्यां छे संबंध जुदो कह्यो; घ्यान-ध्येय स्वयं आत्मा त्यां संबंध कयो रह्यो ?॥२५॥ ममतायी जीवने बंध, मुक्ति निर्ममता यंजी, माटे सर्व प्रवत्ने ए, ध्यावी निर्ममता नकी ॥२६॥ गिर्मम एक हं शुद्ध, ज्ञानी योगोन्द्रगोचर, सर्व संयोगी भावो ते, स्वात्मायी सर्वेथा पर ॥२७॥ दुःखना हुंगरो वेदे, जीवो संयोग कारणे; मन वाणी तन कर्म तजुं मंयोग सर्वने ॥२८॥ मने ना मृत्यू, भीति शी [?] मने ना रोग, शी ब्यूया [?] ना हं तरुण, ना वृद्ध, बाल ना पूद्गले वयां ॥२९॥ मोहबी भोगवी छोडचा, पुरुगलो सी फरी फरी; हवे ए एंडमां मारे, ज्ञानीने जी स्पृहा चळी ? ॥३०॥ कमीं कर्महित ताके जीवी इच्छे स्वथेयते: रव स्व प्रभावयोगे सी, सावे कीण न स्वार्थने ? ॥३१॥ देहादि अन्यना अज्ञ उप हारे जी वर्तना ! लो हवत स्वार्य मायी ले. त्याज्य अन्योपकार हा ! ॥३२॥ गुरुबोधे, स्वअस्यासे, स्वानुभृतियी जागताः आत्मा ने अन्यनी भेद, ते मुक्ति-सूल मागता ॥३३॥ स्वयं सतनी करे इच्छा, स्वयं ज्ञापक श्रेयनीः स्वयं स्वश्रेयमां वर्ते, स्वयमेव गुरु स्वनी ॥३४॥ पामे ना ज्ञानता अज्ञ, ज्ञानी ना अज्ञता ग्रहे; निमित्तमात्र बीजा तो, गतिमां घर्मवत्, बने ॥३५॥ शमायी चित्तविक्षेपो, एकाते लीन आत्ममां; अन्यासे उद्यमे योगी, सहजातमतत्त्वता ॥३६॥ अनुभूति निजात्मानी, जेम जेम प्रकाशाती; तेम तेम छता भोगे, स्वयं रुचि विरामती ॥३७॥ जेम जेम छता भोगे, स्वयं एचि विरामती, तेम तेम अनुमृति परात्मानी यती छती ॥३८॥ समस्त विश्वने भाले, इन्द्रजाळ सम् वृया; आत्म-लाभ सदा इच्छे, पस्तावे परमां जतां ॥३९॥ इच्छे एकांतमां वास, चाहे निर्जनता सदा; वदे कार्यवशे किचित्, तेय शीव्र भूली जता ॥४०॥ बोले तोषे न बोले ते. बाले तोषे न बालता, स्थिरता आत्मतत्त्वे जो, देखे तीये न देखता ॥४१॥ विचारे ना शुं आ केवुं कीनुं क्यांथी वळी कहीं ? योंगी तो योगमां लीन, देहभानेय ज्यां नहीं ॥४२॥ जेमां जे वसी रहे छे, त्यां ते रित करे अति; जेमां रमणता जेनी, त्यांथी अन्यत्र ना गति ॥४३॥ अन्यत्र ना गति तेथी, अन्यने ना अनुभवे, अनन्य उपयोगी ते, अवंध मुक्ति भोगवे ॥४४॥ अन्य ते अन्य, त्यां दू.ख, आत्मा आत्मा ज ते सूखो; आत्मार्थे ज महात्मानो, साधना सर्वतोमुखी ॥४५ अज्ञ जे पूर्गलद्रव्य राचे ते पूर्गलो पछी; तेनो पोछो तजे नांही करी चतुर्गतिमहीं ॥४६॥ ध्यानमां मन्नता ज्यां त्यां, वाह्य व्यापारज्ञून्यता; ध्यानथी योगी आस्वादे, सिन्चदानंद व्यक्तता ॥४७। कर्म-राज्ञि वहे नित्य, ते आनंद हताजन; खेद ना पामता योगी, बाह्य दु खे अचेतन ॥४८॥ अविद्या भेदती ज्योति, परं ज्ञानमयी महा; मुमुक्षु मात्र ए पूछे, इच्छे, अनुभवे सदा ॥४९॥ आत्मा ने पुद्गलो जुदां, मात्र आ सार तत्त्वनो; अन्य जे कांई शास्त्रोक्त, आनो विस्तार ते गणो ॥५०

वसन्ततिलका

इष्टोबदेश मितमान भणी यथार्थ, मानावमान समताथी सहे कृतार्थ; तिराग्रही वन विषे जनमां वसे वा, पामे अनूव शिवसंपद भव्य तेवा ॥५१॥ सद्बोध सङ्गुहतणो जीव जे उपासे, तेने निजात्म थकी पुद्गल मिन्न भासे; स्वानुभवे सहज आत्मस्वरूप राजे, ते सौख्य-धाम परमात्मपदे विराजे॥ परिशिष्ट नं. ३

ॐ तमः

श्रीपूज्यपादस्वामिकृत

इष्टोपदेश

THE DISCOURSE DIVINE

Late Mr. Champatrai Jain, Bar-at-Law Vidyavaridhi.

यस्य स्वयं स्वभावाप्तिरभावे कृतस्नकर्मणः । तस्मै संज्ञानरूपाय, नमोऽस्तु परमात्मने ॥ १॥

He who has attained the purity of his nature by the destruction of all his karmas by his own effort—to such an Omniscient Paramatman salutation is offered.

Note:—Omniscience is the attribute of the Pure and perfect soul, and is the most essential of divine qualities, which are all implied in it. In Jainism salutation is offered to divinity not because the devotee expects any boons from the object of his veneration and worship, not because salutation is pleasing to Him who is the embodiment of all divine attributes, not even because such salutation is itself, in any sense, the aim and object of worship, but because, the Paramatman is the Ideal of Perfection for the devotee, who wants to realize it in His own self, and because the adoration of Him who represents the Perfection of Divinity in His own pure being is the only means of attaining to it, at least in the earlier stages of the path.

योग्योपादानयोगेन, हषदः स्वर्णता मता । द्रव्यादिस्वादिसंपत्तावात्मनोऽप्यात्मता मता ॥ २ ॥

As gold in the ore is held to become pure gold on the intervention of the real causes of purification, in the same manner on the attainment to self-nature the impure (unemancipated) soul is also regarded as pure Spirit.

Note — The impure ego is like gold in the state of ore, both of them possess the potentiality of attaining to purity and perfection, when iid of the adhering imputities Smelting is the process employed to obtain pure gold from the ore, which means the iemoval of the non-gold that is found to be mixed up with it. A lump of ore, thus, represents pure gold plus so much dioss added to it. In the same way the emancipated soul is pure. Spirit plus so much filth or dirt (matter) adhering to it. Hence, when the filth is iemoved by a process akin to that of smelting in the case of gold, the foreign material is separated off and self-nature attained, on the emergence of the purity of sva-diavya (own substance), consequent on the elimination of constituents of the not-self. The term sva-diavya (own-substance) here includes the other three conceptions that are homogeneous with it, namely sva-kāla (own-time, signifying the external states that are changing in time), sva-kshetra (own space, or self-sized i.e., as existing in its own expanse) and sva-bhava (own-feeling or own nature, i.e., internal states). These may be termed the 'sva' quaitette technically. The soul that is rid of the non-self exists in its own nature with respect to

the swa quartette, while the transmigrating ego is overwhelmed with the conditions and limitations imposed by the companionship of the not-self. This may be explained in a tabulated form, as follows:—

Pure Spirit	Conditions, of existence	Impure ego.
Exists in His own substance	Dravya	Exists mixed with impurities of the nature of the not-self
Is Divine all over Abides in a form that is His own forever more	Kshetra Kāla	Is involved in impurities all over. Possesses a form that is liable to periodic changes on account of the liability to birth and death
Always enjoys the bliss and blessedness, appertaining to pure Spirit	Bhāva	Is devoid of self-feeling, and passes a joyless, cheerless existence, generally

वरं व्रते पदं देवं, नावतेर्वत नारकम् । छायातपस्थयोर्भेद , प्रतिपालयतोर्महान् ॥ ३ ॥

Observance of vows leads to birth in the heavens, therefore their observance is proper, the vowless life drags one to a birth in the hells, which is painful; therefore, vowlessness should be avoided; when two persons are waiting for the arrival of another person, but one of them waits in the heat of the sun and the other in the shade, great is the difference between their conditions, precisely the same difference is to be found between the condition of him who leads a life regulated by the vows and of him whose life is not so regulated.

Note -In the last verse divinity is said to be the natural attribute of the soul which arises from within its own self on the occurrence of the helpful causes of Self-realization. Naturally enough the question now arises: why should one take the trouble of observing vows and otherwise subjecting one self to a life of austerities and hardships, considering that Divinity is actually the potential nature of the soul? Will not the supreme status be obtained without undergoing penances and without vows? The reply is given here in this verse Painful, at times very painful, indeed, is the life which results from the non-observance of vows. One might even descend into hells which is the most undesirable condition of existence On the other hand, the observance of vows leads to very happy and desirable condition, including a birth in the heavens. Therefore the acharya says that the difference between the soul that is leading a well regulated life and the one whose life is not so regulated is precisely that between the condition of the man who is waiting for the arrival, of a companion in the heat of the day, exposed to hot winds and the burning glare of the sun, and of him who is also awaiting the arrival of the same person but in a cool and shady grove

Metaphysically, of course, the helpful potent causes themselves include the observance of vows and the suffering of haldships at a certain stage of advancement, for without them the karmie filth cannot be separated from the soul But the great thing to note about the observance of vows and the suffering of hardships is this that they appear to be irksome and unpleasant only when thought of or looked at from a distance When one is imbued with the right Faith one realizes at once

the necessity of a well-regulated life and actually longs for the perfection of character through suffering and self-denial. And the task does not then appear to be burden-some, but is cheerfull accepted as the surest means of the acquisition of that joyous feeling of self-elevation which is dear to the heart of every aspirant on the path. That virtue is its own reward, is a saying the truth of which is not realized except by him whose life is characterized by self-imposed suffering in the name of Duty and Dharma.

यत्र भावः ज्ञितं दत्ते, ग्रीः कियदृदुरवर्तिनी । यो नयत्याञ्ज गन्यूति, क्रोशार्द्धे कि स सीदित ॥४॥

The soul that is capible of conferring the divine status when meditated upon, how far can the heavens be from him? Can the man who is able to carry a load to a distance of two koses feel tired when carrying it only a kos?

Note —This verse is intended to settle the doubt that might now arise in the mind as to the respective merits of self-contemplation and the observance of vows, especially in regard to the ability of the former to secure a rebirth in the havenly-regions. The answer is that the soul's contemplation can grant both mokela as well as heavens, which are much nearer so to speak; since he who can easily cover a distance of four miles without being fatigued is not likely to experience trouble in going only a mile. Self-contemplation thus, is much superior to the mere observance of yours, though the latter are able to lead to heavens for the time being

हृषीकजमनातःङ्कं दीर्घकालोपलालितम् । नाके नाकौकसां सींच्यं, नाके नाकौकसामिव ॥५॥ The happiness that is enjoy by the residents of heavens appertains to the senses.

is free from disturbance [literally, disease], enjoyable for very very long periods of time, and is without a parallel outside the heavens!

Note.—The pleasures of a heavenly life are but sense produced, though they are not to be found outside the heavenly region and are exceedingly delightful. The duration of the life, too, is incomparably longer in the heaven than on the earth, and it is therefore true that the heavenly pleasures are enjoyable for much longer periods than the pleasures, of this world

वासनामात्रमेवैतत्सुखं, दुःखं च देहिनाम् । तथा ह्यद्वेजयन्त्येते, भोगा रोगा इवापित ॥६॥

The experiences of pleasures and pains of the xamsan jivas (unemancipated souls) are purely imaginary, for this reason the sense-produced pleasures give rise, like disease, to uneasiness on the approach of trouble!

Note—If the pleasures and pains of the world were not the product of imagination they would be lasting, unchanging and eternal But we see that what is the cause of pleasures to-day becomes a source of disturbance and pain as soon as trouble ansee or calamity overtakes the empoyer. Hence the acharya points out that senseproduced pleasures and pain are purely imaginary in their nature, not withstanding that the infatuated humanity ragard them as real and run after them. By the use of the word imaginary it is not to be taken that the acharya denies the reality of the experiences altogether; what he is aiming at in reality is only an emphasis on the nature of true happing is to be described later.

मोहेन संदृतं ज्ञानं, स्वभावं लभते न हि । मत्तः पुमान्यदार्थानां, यथा मदनकोद्रवैः ॥ ७ ॥

Deluded by infatuation the knowing being is unable to acquire adequate knowledge of the nature of things, in the same way as a person who has lost his wits in consequence of eating intoxicating food is unable to know them properly!

Note—Infatuations—likes and dislikes, etc—deprive us of that purer form of mental scienity which is necessary for the acquisition of true knowledge, for, as is well known, lucidity of the intellectual faculty is clouded when the mind is strongly agitated by passions and desires and wrong convictions and beliefs

वपुर्गृहं धनं दाराः पुत्रा मित्राणि शत्रव । सर्वयान्यस्वभावानि मूढ्, स्वानि प्रपद्यते ॥ ८॥

All the objects, the body, the house, weath, the wife, the son, the friend, the enemy and the like, are quite different in their nature from the soul; the foolish man, however, looks upon them as his own!

Note—The wise always perceive themselves as different from the objects of the world whose relations are transient and temporary and perish after a time. The Self, however, is unperishing and eternal, and will pass away, on death, into some other form of life, leaving his newly-formed relations of a transient phase of life, in the course of his eternal wandering career, mourning his loss. Some times the relations depart plunging ut in mourning. Hence, the acharya points out that the relations and, like them, the other objects which either leave us or are themselves left behind, on death, are all different from the Self in their nature for otherwise they will always accompany the soul and cause it pleasure at all times and under all conditions.

दिखेंदेशेम्य खगा एत्य, संवसंति नगे नगे । स्वस्वकार्यवशाद्यान्ति, देशे दिक्षु प्रगे प्रगे ॥ ९ ॥

The birds gather together to pass the night, on a tree, from various places in different directions in the evening, but at the earliest moment at the break of day they depart, in the pursuit of their diverse purposes, for different places in all directions ¹

Note—The world is like a tree where the birds gather together to pass the night in the morning they are gone. In the same way friends and relations are formed in this world, as if for the night, at the bleak of day we part company from them, each one going his own way! Who, then, but the foolish will suffer himself to be entangled with such 'roosting-time' ties?

विराधक. कथं हन्त्रे, जनाय पीर्कुप्यति । त्र्यङ्गञ्पातयन्यद्भ्यां, स्वयं दण्डेन पात्यते ॥१०॥

Why should the evil-doer become angry with him who takes revenge on him? He who pulls down the trangura with both his feet is himself felled to the ground through its instrumentality! This is but just! It therefore, does not become one to get angry!

Note:—The trangura is an instrument so constructed that if a man holds it with both his hands and then tries with his feet to pull it down to the ground, it will overthrow him at once. The acharya likes the action of an evil-doer to the result of pulling down the trangura. The evil one experiences at this moment from the hands of an enemy is sure enough the result of one's own evil-doing in the past. It is that evil which like the trangura has rebounded on oneself and is responsible for

one's suffering Suiely, this is but justice, pure and simple. Where is, then, room for anger in this? This point is that in this world evil is caused by evil, what is experienced now as an evil, experience is sure enough the resultant of an evil act done by us in the past. The experiencer of evil is thus himself proved to be the doer of evil and the cause of his own suffering. Still it is necessary to punish the evil-doci, for otherwise it will be destructive of society and good order. The wise man should, however, so control himself that he should do his duty, but should not allow himself to be carried away by passion in its discharge. The judge, for instance, shoul so deport himself as to punish the prisoner who is proved to be guilty, but while doing so he should maintain his own screnity of mind and should not allow his decision to be influenced by anger. The result of anger is very harmful for the soul; It tends to undesirable conditions in the next rebirth. Hence, the judge who allows his mind to be swayed by passion will be incurring the hability for a painful hereafter, while the judge who merely discharges his duty and remains calm and collected and of an unruffled temperament will be avoiding that liability and will also be shortening his own bondage as the result of passionlessness

६१

रागद्वेषद्वयोदोर्घनेत्राकर्षणकर्मणा । अज्ञानात्सुचिरं जीवः, संसाराद्यौ भ्रमत्यसौ ॥११॥

Tied to the long rope intwined with [the strands of] attachments and aversions, the soul is whirled about in the ocean of musära (transmigratory existence) for immeasurable time, led by ignorance!

Note.—Love and hatred, or attachment and aversion, are the causes of bondage and transmigration. The series of births and deaths is unending, except in the case of him who acquires Self-knowedge. Hence the statement that souls wander about in transmigration for time beyond measure. Ignorance of the real nature of the soul and the non-soul, and of happiness and what is not happiness through it may appear to be so, is the producer of loves and hatreds of embodied life. Led by these the soul comes and remains under the sway of harmic forces that drag it about in different conditions and grades of existence in the different parts of the world.

विपद्भवपदावर्ते, पदिकेवातिवाह्यते । यावत्तावद्भवन्त्यन्याः, प्रचुरा विपदः पुरः ॥१२॥

The samsara (transmignatory condition) is like a wheel at a well, where before one bucketful of distress is got over a large number of afflictions overtake the soul! Note—The thoughtful mind only discovers the world to be full of misery and pain in all conditions. No one thinks of associating happiness with the coditions of existence in the lower grades of life. The trees are rooted to the spot and remain perpetually exposed to the inclemency of seasons, they are further subjected to all kinds of afflictions in the shape of cutting, piercing, burning, uprooting an the like. The smaller insects are destroyed by the thousand by the careless movements of their bigger fellow-beings. No one cares for their writhings and suffering. The birds and beasts and fishes are seized and devoured merclessly by animals and men. Man himself is a constant prey to the fear of death, and lives in perpetual dread of calamity and misfortune. Those even who may by regarded as favorites of fortune are troubled with many kinds of mental and bodily troubles of their own and of their relations and friends. And at the end of a career, even where it has been the leas undesirable, there is nothing more comforting than the grave or the burning pyr

to look farward to Death and the blankness of death ever stare the thinking being in the face. Human life is short and the best of its conditions is ephemeral and fleeting; you have hardly celebrated the advent of a joy when its place is taken by affliction in some form or other. Those who are unluckly spent, their whole time in crying and lamentations. There suffering ceases even to excite the pity of the passers by, by its frequency. Some of them actually experience all the excruciating horrors of hell-life without being in hell! Kings, and millionaires and potentates are no exceptions, they are subject to the pain and misery which the flesh is heir to The achasya, therefore, justly says that this world of transmigratory life is so full of suffering and pain that you have hardly got-over one affliction when its place has been filled up with a dozen others. The wise should, therefore only seek to obtain release from the world to obtain nirvana where there is iternal peace and joy and life unending

दुरज्येंनासुरक्ष्येण नक्ष्वरेण धनादिना । स्वस्थंमन्यो जनःकोऽपि ज्वरवानिव सर्पिषा ॥१३॥

He who regards himself as happy on account of the possession of wealth and other like objects of desire, that are obtained with great trouble, that require a lot of botheration in their protection and that are after all perishable, is like the fool who eats clarified butter when suffering from fever and then thinks that he is enjoying good health !

Note —Ghee (clarified butter) only goes to aggravate fever, so that he who eats ghee in that condition and regards himself as healthy because of his eating Ghee is a big fool Precisely the same is the case with the man who considers himself happy because he is surrounded by the objects and sources of pleasure. These, too, aggravate the heat and fever of lust, and depart sooner or later without producing anything like satisfaction, that is happiness and rest and peace. The acharya, therefore, points out that it is an act of folly to regard oneself as happy when enjoying material prosperity and the like, which, it is further pointed out, are acquired with a lot of trouble and exertion and which involve a great deal of additional trouble in guarding and piotecting, and which, notwithstanding all this worry and trouble, are ultimately bound to depart, being perishable by nature.

विपत्तिमात्मनो मृढः परेषामिव नेक्षते । बह्यमानमृगाकीर्णवनान्तरतरुस्थवत् ॥ १४ ॥

The fool is not warned by seeing distress overtake others, he acts like the man who, seated on the top of a tree in the midst of burning a forest, sees deer and other living things perish, but does not think that the same fate is soon to overtake him!

Note—The acharya here gives us a true description of the individual blinded by the lusts of the world, who though surrounded by calamity and distress all round is still unable to check himself in time to the true side of life, taking no warning by the fate of others

आयुर्वृद्धिक्षयोत्कषंहेतुं कालस्य निर्गमम् । वांछतां धनिनामिष्टं जीवितात्सुतरां घनम् ॥ १५ ॥

Time is the cause of the shortening of the duration of life as of the increase of wealth the amassers of wealth [thus] love money more than their lives!

त्यागाय श्रेयसे वित्तमवित्तः संचिनोति यः । स्वशरीरं स पड्केन स्नास्यामीति विलिम्पति ॥१६॥

The poor man who accumulates wealth so as to able to acquire merit and the destruction of evil karmas by spending it in charity is like the man who covers himself with filth in the expectation that he is going to bathe his body thereafter.

Note:—The acquisition of wealth is accompanied by so much evil-doing and evil-thinking that it itself implies a lot of sin accruing to the soul: what purpose can, then, be served by charity and good works thereafter. The man who enters a diain full of filth in the hope that he will have a good bath afterwards covers himself for a certain with filth. Whether he will be able to wash it off thereafter is an entirely different matter!

आरंभे तापकान्त्राप्तावऽत्तिप्रतिपादकान् । अन्ते सुदूस्त्यजान् कामान्कामं कः सेवते सुधीः ॥१७॥

What I will any wise man indulge in the pleasures of the senses—which cause trouble in their acquisition, enkindle lust and desire at the moment—of enjoyment and are very painful at the time of parting? Should a wise man—do so, he would not abandon himself to the lustful feeing.

Note —According to the degree of foresight developed by them, men fall into three classes, namely, the short-sighted the far-sighted and the farthest-sighted. The first class is that of fools, as all will agree. The second is that of men who are wordly wise They are learned and thoughtful, but only in matters pertaining to the world, and the concerns of the immediate life that comes to an end after some three score years and ten, when their wisdom also perishes. The third class comprises those few but deeply thoughtful souls who have understood the nature of life and know that the soul survives the physical death. They are familiar with the true nature of things and know that there is no rest or peace for the soul outside nirvana They are the farthest-sighted, for this reason, we may also call them Dharma sighted, for Dhama signifies the ultimate Truth and the nature of things. Of these Knowers of the true nature of things it is said that they will not include in sensual lusts, knowing them to be the causes of suffering and pain, though not appearing to be such to the first or the second classes of men. Should a Knower of Truth be found to indulge in the pleasures of the world, he would not abandon himself altogether to them, but would only be influenced by them in so far as he is unable to resist the forces of karme infatuation engendered in the past. The point is this that the knowledge of Truth changes the angle of vision of the wise one who may not be able to resist the temptation but who will detest himself all the time for his failings, where the fool will simply plunge himself head long in the whirling voitex of pleasures and lusts

भवन्ति प्राप्य वत्संगमज्ञुचीनि । स कायः संततापायस्तदर्थं प्रार्थना वृथा ॥ १८ ॥

By the contact of which even pure objects are rendered impure and which is a constant source of affliction, to seek to provide such a body with the objects of pleasure is vanity 1

Note—It is not the nature of the senses to ever attain to anything like a lasting sense of gratification. The source and store-house of impurity, the body may be surrounded by all sorts of luxuries and things that are expected to give one pleasure; but its cravings only increase while the things which it touches become impute for any other purpose!

यज्जीवस्योपकाराय, तद्देहस्यापकारकं । यद्देहस्योपकाराय, तज्जीव स्यापकारकं ॥ १९ ॥

Whatever action is beneficial to the soul is harmful to the body, and whatever action is beneficial to the body is harmful to the soul!

Note — The association of the soul and the body being the cause of the pain & misery appertaning to embodied existence, nirvana really only signifies the destru-

ction of the fleshy prison of the soul, when the latter, fully exalted and immortal in its own right, is installed in the Temple of Divinity as a God, by the mere process of emancipation from the bondage of matter. Hence, whatever tends to the fattening of the body is the necessarily the source of continued affliction to the soul and vice versa

इतश्चिन्तामर्णिद्द्य, इत[.] पिण्याकखण्डकम् । ध्यानेन चेटुभे लभ्ये, क्वाद्रियंताम् विवेकिनः ॥२०॥

When the divine wish-fulfilling Jewel and a piece of refuse both are obtainable by meditation, which of these will the man of discrimination choose?

Note—The man of discrimination will naturally piefer the soul which is like a divine wish-fulfilling Jewel, capable of conferring the inconceivably great boon—the status and the joy of Divinity—to a passing pleasurable form of sense-tickling that is like a worthless piece of khali (a cake of sesamum seeds from which oil has been extracted) and serves only to prolong and to embitter the bondage of karmas

स्वसंवेदनसुःयक्तस्तनुमात्रो निरत्ययः । अत्यतसौख्यवानात्मा, लोकालोकविलोकनः ॥ २१ ॥

This soul can be adequately known by self-contemplation and is of the size of its body, immortal, of an exceedingly blissful nature and the knower of Loka and Aloka $^{\rm I}$

Note—In this sloka the acharya has given a brief description of the soul as freed from the bondage of matter. It is, roughly speaking of the size, of its physical body and is indestructible, hence immortal. Knowledge and bliss appertain to it by nature, being but two of its divine attributes. It can be known adequately in self-contemplation, and when established in its natural purity, freed the corrupting companionship of matter, it is the enjoyer of unbounded joy and the knower of the entirety of things, which constitute what is known as the Lokaloka (Loka=the universe of life and matter+aloka=the infinity of pure space lying beyond the Loka)

संयम्य करणग्राममेकाग्रत्वेन चेतसः । आत्मानमात्मवान्ध्यायेदात्मनैवात्मनि स्थितम् ॥२२॥

Controlling his senses, with concentrated mind, the knower of the Self should contemplate the Self, seated in his own Self, through the Self †

Note:—The contemplation of the divinity of the Self, that is the soul, is only possible through the soul itself, by turning the attention inwards. Now, because the self is seated inwards and the objects of the senses which attract and enthral the mind lie outwards, the withdrawal of the mind from the outside, that is to say the controlling of the lustful cravings of the lower nature, is an absolute necessity for the realisation of the glory appertaining to Life. For one cannot serve two masters at one time. The Self and the world are antagonistic in nature. The dominance of the latter means the mancipation and distress of the former. Hence, the wise banish the world completely from their thoughts and attend with one-pointed mind to the glorious Divinity of the Self, seated inside.

अज्ञानोपास्तिरज्ञानम्, ज्ञानम् ज्ञानिसमाश्रयः। ददातियन् यस्यास्ति सुप्रसिद्धमिदम् वच॥२३॥

Devotion to ignorance bestows ignorance, and devotion to Gnana (self-know-ledge) bestows Knowledge for it is well established that a thing can grant only that of which it is possessed !

Note:—We have all eady seen that desire is the foot of bondage. Here the acharya takes us a step fulther towards the analysis of desire, which is rooted in the delusion of identity with the body. The ordinary man only knows himself as the physical personality and naturally remains absorbed in the gratifications of the bodily cravings and wants. This is the delusion which the acharya warns us against.

एकोऽहं निर्मम बुद्धो, ज्ञानी योगीन्द्रगोचर । वाह्याः संयोगजा भावा मत्तः सर्वेऽपि सर्वथा ॥२७॥

I am one, I am without delusion, I am the knower of things, I am knowable by Master Ascetics, all other conditions that arise by the union of the not-self are foreign to my nature in every way!

Note —The soul is here described from what is known as the nishchaya naya, that is to say in respect of its pure natural attributes, in other words, as a pure spirit. The pure spirit is devoid of parts, and therefore only one, being a pure embodiment of knowledge, without any obstructing veils to curtail the field of its knowing functions, it is devoid of delusion, ild of all forms of defilement and corruption, it is pure, having omniscience for its attribute, it is the true knower, and not being endowed with sensible qualities, it is knowable by the super-clairvoyant vision of Great Ascetics and Saints. All the other qualities, attributes and relations which appertain to embodied existence are really produced under the corrupting influence of matter, and are, therefore, not natural to a pure Spirit.

दुःखसंबोहभागित्वं, संयोगाविह देहिनाम् । त्यजाभ्येनं ततः सर्वं, मनोवाकायकर्मभिः ॥२८॥

The souls involved in transmigration have to suffer a multitude of afflictions, owing to the association of the not-Self, the body and the like therefore, I [shall] renounce them along with all the activities of the mind, the body and speech!

Note—He who does not control the activities of his mind, speech and body, which are the three channels of sin, only prolongs his bondage and the transmigratory life which is simply full of pain and misery, even under the best of conditions. The aspirant after the final release, therefore, resolves in the manner indicated in the text.

न मे मृत्युः कुतो भौतिर्न मे व्याघिः कुतो व्यथा । नाहं बालो न वृद्धोऽहं, न युवैतानि पुद्गले ॥९९॥

I am not subject death, then, what should I fear death for? Nor am I subject to disease, then, what can cause me pain? I am not a child, I am not an old man, nor am I a youth 'all these appertain to the flesh (matter)!

Note—Pure Spirit is free from death and disease, and has no concern with the divisions of life, childhood, youth, oldage and the like. These are different conditions that appertain to the body of matter, which is, undoubtedly, not the same thing as Spirit or the soul. Why should, then, one tear death? and how can one be really affected by disease? The saint, knowing the pure immortal and incorruptible nature of the soul speedily attains to the highest and best condition of Life which is enjoyed by all who acquire the purity of their spiritual nature.

भक्तोज्ज्ञिता मृहर्मोहान्मया सर्वेऽपि पुर्गलाः । उच्छिष्ठेध्विव तेष्वद्य, मम विज्ञस्य का स्पृहा ॥३०॥

Again and again, through delusions, have the bodies of matter been enjoyed and thrown off by me, how can I long for them now that I am endowed with true wisdom, for no one likes to eat the leavings

Note:—In the part infinity of time, during which the immortal soul has never ceased to exist, it has put on all kinds of bodies and enjoyed, again and again, the pleasures appertaining to embodied existence, through them, throwing them off always at the end of each form of life. The bodies and things of matter are thus like the leavings in a plate which nobody will like to eat. The Right Believer whose, vision has been clarified to perceive the true side of Life, therefore, cannot long for them, since it will be like a longing to eat the leavings and refuse.

कर्म कर्महितावन्मि, जीवो जीवहितस्पृहः । स्वस्वप्रभावभूयस्स्वो, स्वार्य को वा न वांछति ॥३१॥

Karma works in its own cause, the soul works for its own good; who is there in the world that will not work for his own good when he has the power to do so?

Note—Since kasma produces kasma, and thus is the cause of the perpethation of the soul's bondage, it is here dere described as working in its own cause, the soul also works for its own good, that is to say against the kasmic power, when it is able to do so. The interests of the two thus clash with each other. The acharya here exhorts the soul that has acquired the wisdom of the saints to gird up its loins for the destruction of the enemy, further is no one in the world who will not like to destroy his foe when he has the power to do so, especially such a foe or kasma, thit acts by stealth and strikes meicilessly and hard.

परोपकृतिमुत्सृत्व, स्वोपकारपरो भव । उपकुर्वन्परस्याज्ञो, दृव्यमानस्य लोकवत् ॥३२॥

O Witless one! thou art serving this visible show that is not thyself; thou shouldst now renounce doing good to others and take to doing good to thine own Self!

Note—It is the way of the world that one gives up serving those who are found to be inimical to oneself. The soul has been serving its physical body and the rest of the visible sensible panorama; in the belief, that its good lies with the things outside itself. But it has now learnt their real nature. They are-all the ties and joys and relationships of the world, taken together—only so many enemies in disguise! The acharya, therefore, exhorts the soul that is endowed with true insight into the nature of things to abandon them to their own fate and turn to its own-welfare, that is, to take to self contemplation.

गुरूपदेशादभ्यासात्संवित्तः स्वपरांतरं । जानाति यः स जानातिमोक्षसौख्यं निरंतरम् ॥ ३३ ॥

He who has acquired the discrimination between the Self and the not Self, through the teaching of the preceptor, by repeated meditation on the nature of things, or by direct inner Self-perception, that great soul enjoys the happiness appertaining to salvation constantly 1

Note -Salvation and the happiness appertaining to it are obtained by self-contemplation, when the karmas ere destroyed and the soul is left as a pure Spirit, omniscient, and blissful and immortal in its own nature.

स्वस्मिन्सदिमलावित्वादभोष्टज्ञापकत्वतः । स्वयं हितप्रयोगतृत्वादात्मैय गुरुरात्मनः ॥ ३४ ॥

Because of its internal longing for the attainment of the highest. Ideal, because of its understanding of that Ideal, and because of its engaging uself in the realisation of its Ideal, because of these the soul is its own preceptor!

Note:—The outside Teachers and guides are only helpful where the roul itself is tipe for advancement on the path; their word is of no avoid where the hence is

not open to receive it. For this reason the real teacher and guide is the soul itself, and so far as exertion is implied in the realisation of the Ideal, it is the soul's own action which can ever lead to its advancement and progress on the path. Hence the statement that it is its own preceptor !

नाज्ञो विज्ञत्वमायाति विज्ञो नाज्ञत्वमृष्ठ्यति । निमित्तमात्रमन्यस्तु, गतेर्धर्मास्तिकाययत् ॥ ३५ ॥

Those not yet qualified for the acquision of Truth cannot become the knowersof Truth, the knower of Truth cannot become devoid of it, external Teachers are useful like Ether which is but helpful in the motion (of moving things)!

Note:—The acharya here elucidates the nature of the teaching from an outside source, It is like ether which is helpful to the object in motion, but which does not push or move any one Similarly an external Guide can help only the soul that has acquired a longing to proceed on the Path of Freedom, he cannot impart the impulse which is to initiate the proceeding !

अभवन्वित्तराविक्षेप, एकांते तत्त्वसंस्थितिः । अभ्यस्येदिभियोगेन, योगी तत्त्वं निजात्मनः ॥ ३६ ॥

He in whose mind no disturbances occur and who is established in the knowledge of the Self, -such an ascetic should engage himself diligently in the contemplation of his soul, in a lonely place

Note:—The one-pointedness of the mind which is necessary for steady medition is exceedingly difficult in a place where there is even a likelihood of disturbance. Hence, it is pointed out here that self-contemplation should be performed in a lonely place,

यथा यथा समायति, संवित्तौ तत्त्वमुत्तमम् । तथा तथा न रोचंते, विषया मूलभा अपि ॥ ३७॥

As greater and greater progress is made in the realization of the glotious Self, so is lessened, more and more, the liking for even those objects of pleasure which may be obtained with ease

Note—This sloka describes the effect of the progress in self enjoyment. It is destructive of the cravings of the lower nature. The Self is blissful by nature, he who begins to enjoy the divien thrill of spiritual bliss certainly cannot thereafter hanker for worldly pleasure, the craving for which decreases as the enjoyment of true happiness increases

यथा यथा न रोचंते, विषयाः मुलभा अपि । तथा तथा समायाति संवित्तौ तत्त्वमुत्तमम् ॥३८॥

As even those objects of pleasure which are easily obtainable become increasingly intolerable, in the same measure does the glorious self come into one's enjoyment!

Note—The enjoyment of the natural inherent joy of life increases eide hy side with the sense of indifference for worldly pleasures. Thus the more there is of the enjoyment of the internal spiritual happiness, the less is the craving for the sense-produced pleasures, and, conversely, the greater the sense of indifference for worldly attractions and joys, the greater the enjoyment of the real bliss appertaining to Life

निज्ञामयति निःशेर्षोमद्रजालोपम जगत् । स्पृह्यत्यात्मलाभाय, गत्वान्यत्रानुतप्यते ॥३९॥

The seeker of the self regards the whole would as a product of illusion, and is moved by the desire to attain to self-realization. If he ever becomes entangled in anything else he repents of it!

Note:—Self-realization is possible only by completely turning the back on the temptations and snares of the world; hence, he who longs to attain to it must regard the panorma of the world as transient, instable and fleeting, in other worlds, as the product of illusion. The wise man will thus never allow himself to be entangled in anything worldly. Born with all the weaknesses of the human nature, he is nevertheless subject to powerful cravings and impulsions, and may, under their influence, deviate from the proper path. The acharya says that the true characteristic of a wise man is that whenever he is entangled in any of the worldly pleasures neglecting his proper dharma (duty), he will be repenting of his wrong action, even while doing it. For repentance implies confession which is half the amends

इच्छत्येकांतसंवासं, निर्जनं जनितादरः । निजकार्यवशार्तिकचिद्वस्वा विस्मरति द्रतं ॥४०॥

The sceker after the Self longs for solitude, prefering dissociation with men, if he has to speak to men for a purpose of his own, he puts it out of his mind as soon as it is said!

Note:—Solitude is absolutely necessary for pure self-contemplation ब्रुवन्नपि हि न झूते, गण्डान्तपि न गण्डाति । स्थिरीकृतात्मतत्त्वस्तु, पश्यन्नवि न पश्यति ॥४१॥

He who has firmly established himself in the knowledge of the Self, such a one does not speak while speaking, does not move while moving and does not see while seeing!

Note.—When a man has put his faith firmly in the Self his actions cease to bind, that is to say, affect him. His activity in such a case ceases to be volitional and becomes automatic, as it were Of such a being it is correct to say that speaking he does not speak, moving about he does not move about, and seeing he does not see.

किमियं कोहरां कस्य, कस्मात्ववेत्यविमेषयन् । स्वदेहमपि नावैति, योगी योगपरायणः ॥४२॥

The ascetic immersed in the process of self-realization has no awareness of even his body, being undisturbed by questions such as what is the soul? what is its nature? who is its master? from whom is it derived? where does it reside? and the like

Note:—In the culminating samadhi (the condition of entrancement of self-realization) thought is over-powered by the thilling pulsation of the joyousness of self-feeling Consequently, no question arises as to the nature, attributes, etc., of the soul-substance. The entire soul is then filled with the rapturous rhythm of a life that is at once illumined and blissful by its own light and the inherent ecstasy of delight. In that state there can, of course, be no engrossment of the conscious faculty with the idea of the physical personality or its basis and abode, the body of matter

यो यत्र निवसन्नास्ते, स तत्र कुरुते रात । यो यत्र रमते तस्मादन्यत्र स न गच्छति ॥४३॥

He who abides in a place, becomes attached to the place he who takes a liking to a locality does not give it up to go elsewhere !

Note —This is the general rule. When a person likes a place he sticks to it and does not think of leaving it and of going to another place Similarly, the ascetic who loves the state of the samadh of self-realization never entertains the idea of departing from it, it being full of delicious joy and ecstasy for him.

अगच्छंस्तद्विशेषाणामनभिज्ञश्च जायते । अज्ञाततद्विशेषस्तु, बद्धयते न विमुच्यते ॥४४॥

The ascetic, not stirring out of his Self and not attending to the particular natures of the not-self, does not become their enjoyer, by notenjoying the not-self he is not bound by kaimas, but becomes released from them!

Note:—The law governing karma and transmigration is this that attachment and aversion for objects of the senses are the causes of bondage of the soul. They cause the influx of a kind of subtle invisible matter into the soul substance, and the fusion of the inflowing material with the soul is the form of the bondage of karma that is so harmful to the self. The soul not falling in the category of the objects of sense, its contemplation does not give rise to attachment and aversion, on the contrary, it is productive of a state of equanimity and indifference in the mind that is engaged in the enjoyment of the natural inborn joy of his real self. Hence he is not afflicted with fresh karmic bondage while he is engaged in self-contemplation. In addition, his existing karmic bonds also begin to break up on account of the prevailing state of equanimity; because what is attracted into the soul in consequence of an agitated state of the mind must begin to disperse and depart when a contrary state is established therein. The achaina, therefore, says that the samadhi of self-teeling has a two-fold merit: it is, firstly, not productive of any additional manierpation for the soul, and, secondly, it is actually destructive of the existing bondage.

परः परस्ततो दुःखमात्मैवात्मा ततः सुखं । अत एव महात्मानस्तिन्निमतं कृतोद्यमाः ॥४५॥

The not-self are surely never the Self, only sorrow accrues to the soul from them the Self ever remains the Self, it is, therefore, the cause of happiness; because of this, great personages have exerted themselves for the realization of the Self!

Note —The distinction between sense-produced pleasure and the natural joy appertaining to the soul itself is again emphasized here by the acharya, for what shall a man profit if he gain the whole world but lose his own soul? The fact is, as the Jamacharyas have demonstrated, over and over again, that the soul is blissful by natureand comes into the enjoyment of surpassing, unsurpassing bliss by the simple practice of self-feeling. The pleasures of the world are false and illusory, as compared with the joyousness of life itself; they even fail and deceive one in the most critical moment. Moreover, nothing in the class of the not-self is lasting and unperishing, so that he who becomes attached to them has sooner or later to lament their loss. Sometimes he himself has to part from the objects of pleasure, when the parting is all the more terrible. What good can, then, come of attachment to the objects in the world? Atman (the Self) alone is, thus, the fit object of attachment, and it rewards the devotee with life eternal and knowledge and joy unlimited.

अविद्वान्पुद्गालद्रव्यं, योऽभिनंदति तस्य तत् । न जातु जतो सामोप्यं, चतुर्गतिषु मुंचित ॥४६॥

Matter which the undiscerning soul attaches itself to never leaves him wherever he goes in the four gatice !

Note —Gatta signify the four principal types of embodied existence, in which souls are being constantly born and reborn in the course of their transmigration. These are the celestial the hellish, the human and the sub human or the lower kingdoms, the last of which includes all kinds of animals, plants and all other lower

forms of life. All these are imposed on the soul because of the companionship of matter of which the not-self are chiefly composed. The law of the influx of matter has already been noticed a little earlier. It shows that the effect of the love of the not-self on the Self is its being over-powered by matter in the shape of the undesirable forces of kanma that diag it from one gate to another or in the numerous classes and sub classes of the same type. The achanya, therefore, discourses on the folly of the undiscerning who perpetuate their bondage by their own acts, not knowing the nature of the Law that keeps the soul tied to the ever revolving wheel of transmigration. He who allows himself to fall in love with matter—and all the not-self are perceived by us only in so far as they are matter—should know that the object he falls in love with will not abide to console or grant solace to his heart for ever, but matter will cling to him, because of that act of love, all the more closely! Knowing this, the secker after the glory of the Self will shun the pursuit of the objects of the world once the law is shown to him.

बात्मानुष्ठानितप्रस्य व्यवहारबहिःस्थिते । जायते परमानंदः कश्चिद्योगेन योगिनः ॥ ४७ ॥

He who is firmly established in his own Self, and keeps away from the worldly intercourse, a supreme kind of hadpiness is produced in the being of such a yogi!

Note :-- Divine bliss is the nature of the soul which is realized the moment one is rid of all the sense of attachment to the world and is immersed in pure self-contemplation

आनंदो निर्दहतयुद्धं, कर्भधनमनारतं । न चासौ खिराते योगी, वृहिदुः खेष्वचेतनः ॥ ४८ ॥

Self produced happiness is constantly burning up the karmic fuel in large quantities, while the yogi, indifferent to the external pain, is not affected by it in the least!

Note t—The Master Ascetic is constantly absorbed in the enjoyment of the spiritual happiness pertaining to his soul, and is, therefore, not affected by bodily discomforts and pains to which he dose not even attend consciously.

अविद्याभिदुरं ज्योतिः, परं ज्ञानमयं महत् । तत्त्रप्टन्यं, तदेष्टन्यं, तद्द्रप्टन्यं मुमुक्षुभिः ॥ ४९ ॥

That excellent and supreme light of the Self is the destroyer of ignorance,—
the seekers after salvation should always engage themselves in questioning others
about it in affectionately seeking it and in realizing it by actual experience!

Note:—The soul being the embodiment of knowledge is antithetical to ignorance Hence the injunction to be constantly engaged in talking and thinking of it and in feeling it in every other possible way. It will not do to turn to the Self for a moment or two once a week or even every day, for the habit of the mind is that it runs always after what has engaged its attention the most of the time. The teason why novitiates in logar find it difficult to concentrate their mind on the Self is to be found in the fact that their habitual thinking unconsciously directs the stream of thought into the accustomed chunnel of activity, and the slightest temporation, which they have never learnt to resist, suffices to site? away their determination.

जीयोज्यः पुर्गलकात्व, इत्यसी सत्त्वसंग्रहः । यदन्यदुच्यते किचित्सोऽस्तु तस्यैव विस्तरः ॥५०॥ The Self is different from matter, metter is different from the Self is the icide

quintessence of all the compilations of wisdom; all the rest of knowledge is but an amplification of this !

Note:-Here the acharya sums up the result of the entire discourse and says that the one thing to know is the fact that the soul is not matter, nor matter the soul This is the quintessence of philosophy, though it is necessary to explain it in detail for the benefit of the ignorant who entertain many doubts on the subject Whoever has understood this one crucial point or fact thoroughly, so that no doubt is left in his mind concerning the nature and divinity of the soul, is the knower of truth who is sure soon to reap the benefit of his knowledge, and attain to the supreme status outside the painful dreary realm of transmigration and the kingdom of Death. For the soul being actually divine by nature, its divinity remains unrealized only just so long as it is ignorant of itself, and devotes all, its time, to the pursuit of the non-self. Hence, when Self-knowledge has dispelled the thick mists of ignorance and set its natural energy of dispassion in opposition to the forces of harma, the destruction of the latter becomes only a question of time, and is encompassed, generally, in the course of three or four incarnations, when it is loft, as the result of the process of self-realization as a pure Spirit, all-knowing, immortal and eternally blissful, a pure and real Divinity, second to none in the three worlds, and the object of devotion and worship on the part of devas (celestials) and men

इष्टोपदेशमिति सम्याघीत्य धीमान्, मानापमानसमतां स्वमताद्वितन्य ॥ मुक्ताग्रहो विनिवसन्सजने वने वा, मुक्तिश्रियं निरुपमामुपयाति भन्यः ॥ ५१ ॥

The wise bhavyar who has well understood the teaching of the "Ishtopadesha", and who maintains the scienity of the mind by the effort of his will when he is respected as well as when disrespect is shown to him, and who has freed himself from the attachment to the non-self, obtains the matchless treasure of moksha, whether he live in a city or in jungle!

The soul that is endowed with realizate potentiality for the attainment of salvation is termed bhavya, while the abhavya (a, not + bhavya) is the soul that is potentially divine like the bhavya, but with a potentiality that is not realizable into actuality

Note: —Faith in the glorious nature of the Self and mental equanity are the chief things necessary for the obtainment of release from the cycle of births and deaths (transmigiation). The rule with faith is that it never fails to translate itself into action, sooner or lattar, since belief is the builder and moulder of character, and the controller of impulses. For this reason, even the greatest sinner need not despair, and if he will be intelligently try to understand the teaching herein imparted and apply himself to put faith into it he will soon find himself travelling on the road to saintship. Whether he walk towards it or travel in some more speedy way, will depend on the nature of the obstruction that might be offered by the kaimas of his previous like. But even the worst of karmas begin to lose their power under the loosening influence of the Right Faith, and are speedily destroyed by the scorching fire of Right. Knowledge-Mental equanimity is speedily reached in this manner, and the rest becomes easy by a constant meditation on the "Ishtopadesha" which is the Discourse Divine as well as the name of the book in the reader's hand!

FOREWORD

Shri Pujyapada Swami the author of the "Ishtopadesha" (Discourse Divine) was a Jaina saint, of the Digambara sect, who flourished in the fourth century AD. He composed several important works on the Jatna Philosophy and Religion of which the "Sarwatha Siddhi," (an elaborate commentary on the Tatwithha Sutra, which may be termed the Jaina Bible), "Jaimendra Vyākarana' the "Samādhi Shataka" and the "Ishtopadesha" are the most famous. The last-named work was translated into Hindi from the original Sanskrit by Shri Dharma-Divekar, Dham Bhushana Brahmachari Sital Prasadji in the year 1923 I have now translated it into English, at the suggestion of the respected Brahmachariji himself, from his Hindi translation. The English translation has been personally revised by the Brahmachariji to whom I am indebted for the favour

The "Ishtopadesha" is a charming composition in adhyātma rasa, that signifies a sort of direct appeal to the experience of self-trealization rather than a metaphysical study of the soul-nature through the intellectual faculty. I have no doubt that it will prove very serviceable in fixing the attention of the contemplative thought, and, read intelligently, will enable the thoughtful to burn up his karmas on the adhyātmic alter of the Glorious Divinity of the Innet Self

HARDOI : 1 17th May, 1925 CR lain

CONTENTS.

1	Introduction.	75
п.	Versified Sermons	76-81
1.	Obeisance,	76
2	God and Self,	76
3	Path of Peace and Piety.	76
4	Philosophy of pain and pleasure	76
5	Ignorance the cause of all ills.	77
6.	Worldly life is a chain of pains	77
7	Wealth is no remedy for worldly ills.	77
8	Concentrated thought is the only remedy.	78
9	Self is the only thing worth realization	78
10	Path of self realization,	78
11	Superiority of a devotee.	78
12	The unreality of worldly life.	78
13	The Path of victory.	78
И	The unholy union	79
15	The divinity of self.	79
16	Futility of worldly quest.	79
17	The struggle of life.	79
18,	Appeal to self	80
19	Master's role in spiritual culture.	80
20	In reality self is his own guide.	80
21	The essential requisites of a devotee.	80
22	Life features of a yogi	80
23.	Yogi enjoys a free life.	80
24	Self culture is the best culture	81
25	Summum bonum of life	81
26	Brief story of truth.	, 81
27	Rieseinas	81

INTRODUCTION

ISHTOPADESHA (स्टोपटेश) (Happy Sermons) is didactice poem of 51 Stanzas in Sanskrit by Swami Fujyapāda, a great saint of India, born in the Karnatak region in the 5th century A.D.* He was the preceptor of Durvinit, the then ruling King of the great Ganga dynasty of the Deccan. His real name was Devanandi but being held in high esteem by all, he was renowned as Pujyapada i e. one whose feet are worth worshipping. For his lofty thinking, pure living and high order of asceticism as described in many inscriptions and Shastras of Kainataka, he was known as one who was untouched by varth, and whose ablution water of feet could change iron into gold

Besides being a saints of high repute, he was a great scholar and thinker of his times. For his lucid style, precise expression and masterly exposition of the subject he has held a revered place amongst all Indian writers. His works on medicine, grammer, prosody and Jain philosophy, have always been regarded as works of standard value by all the subsequent scholars of India

Amongst these works his Sarvarth Siddhi (মর্নার্থনির), a commentary on Tatvarth Sutra (বালার্থনের),—a compendium of Jain Metaphysics and cosmology written by Uma Swami of the first century A D. in aphorisms—is work of rare value, being a key to this vast treasure of knowledge. Jainendra Vvākarna (জীন-ব্যাক্ষণ) is an equally important work on grammer written by him

Samadhi Shatak (समाधिशतक) ("Equanimity") in 100 stanzas is an-other didactic poem composed by him. It is a wrok of about double the size of Ishtopdesha and is an outcome of his deep thinking and realisation of truth. This work undoubtedly possesses a rate spiritual charm. It provides a consolation to an afflicted mind, and an inspiring vision of the divine life to seeker after truth.

To advance, the cultural relationship between the East and the West—a dire need of our times, I have for the present selected Ishtopadesha—"Happy Seimons," as the first offering for being presented to the western peoples in western garb

In order that readers who take liking to these sermons, may remember them by heart, the translation has done in a versified form, stanza for stanza, but where the literal and formal translation of a stanza was unintelligible to convey the full substance of the pithy sayings and abstruse ideas condensed in it, a free and liberal style has been applied to expand it into several stanzas. Though taking this freedom with the style, the matter has been arranged in the same order as has been adopted by the original author. Every stanza of the original poem, whether rendered singly or in an expanded form has been numbered in its serial order on the left hand side, while the verses of this expanded composition have been numbered on the right hand side of the margin. Headings have been newly inserted to show the themes of the succeeding verses.

As to how far I have been able to fill up these verses with spirit which the saint wishes to convey through these sermons, is to be judged by the fancy, bestowed by western readers on this composition. In case it bears good fruits I shall try to offer Samadhi Shatak also in its versified form as a next contribution to the noble cause of strengthening the cultural relations between the East and the West

The original text of the poem in Sanskrit has also been printed in this publication so the lovers of oriental studies have a facility of consulting it, and enjoying the original work of the master poet.

Panipat
Mahavir Jayanti 1954

Jai Bhagwan Jain Advocate

^{*} B. Lewis Rice-Journal of Royal Asiatic Society-1800, p 215 ff

परिशिष्ट नं० ४ HAPPY SERMONS.

Mr. JAI BHAGWAN JAIN, B.A LL B.

obeisance.

1.	I bow to the all knowing Lord, By total extinction of all flaws,			
	Who shone forth into purest glow, And paved for all, salvation path.	i		
	God and Self.			
2	God is self and self is God, Both are one like ore and gold,			
	The difference lies in their modes, The pure is one, the other impute. As ore transforms into gold, When released from foreign things,	2		
	So self does evolve into God, When released from matter's strings. Self is gripped by foreign matter, When tinged with egotistic trends,	3		
	And gets relieved from its meshes, When filled with vision of cosmic rhythir			
	To fill the self with cosmic rhythm, It needs a change of inner heart,			
	Such as to shine coal in jewel, It needs a change in atomic form	5		
	With broader outlook of the life, Greater and greater grows the soul,			
	When all is compassed by the self, It one and one becomes with God.	6		
	Path of Peace and Piety.			
3	It becomes a traveller in the summer, When treading towards the sweet	t home		
	To follow a safe straightened path, Covered by cool shade of groves	7		
	Similar in the walks of life, Moving towards the goal of truth,			
	It behoves a man to firmly stick, To path of peace and good conduct.	8		
	The path of peace is double good, It comforts here and onwards,			
	Through lovely vistas of heavens, Leads to the good of eternal bliss	9		
	While the unruly ways of life, Denying equal rights to all,			
	Are ever a menace to this life, And onwards lead to hellish broil.	10		
4	It does not matter for a man, To carry weight to half a mile,			
	Who's fit, strong and ever used, To carry weight to many miles	11		
	So far a path of peace and good, Which leads to goal of eternal bliss,			
	It is not hard to reach a heaven, A half way house on the trip	12		
5	Heaven, place of songful plays, Free from worldly foes and fears,			
	Is not the abiding goal of life, But halting place in march of life.	13		
	Philosophy of Pain and Pleasure.			
6	Pleasures, pains of earthly beings, Are mere self's imagery things,			
	They exist no-where but in mind, Engendered by fantastic whims	14		
	No outer things are good or bad, They so become by likes dislikes,			
	A food for one is not for all, It is a well-known fact of life	15		
	So all the mates of worldly play, Which look delightful and so gay, Become how hideous, out of tune, When one is filled with grief and glo	om 16		

Ignorance, the Cause of all Ills.

7.	Being all engrossed in ignorance, Like drunkards under cover of drugs,	17
8	Worldly beings have lost their sense, Of looking things in true colours. It is all due to ignorance, That things all distinct and aloof,	
9	Like spouse, children, body, wealth, Are all viewed as parts of self If seen with clear crystal vision, Free whims of likes, dislikes,	18
	No more related to us they are, Than forest trees are to birds	19
	They flying come from distant lands, Settle on trees for the night, And take to wingsfor quarters new, When morning comes with feast of	
	light	20
10.	As digger lowers the spade from high, The digger too is lowered by spade	
	Who lowers others by aggression, Is surely lowered by the same.	21
	This Law of action and reaction, Though patent in the realm of life, But strange it is they fly in passion, When paid are in their own coin.	22
11	For false whims of likes, dislikes, Born of the egotistic trends,	44
••	Self is dipped from eternal time, In deep waters of buths and deaths	23
	Worldly Life is a Chain of Pains,	
12		
	Full of turns of ills and pains, With little test from cares and needs	24
	Wealth is no remedy for worldly ills.	
13	Wealth hard to earn, and retain, Unstable most, and most unsafe,	
14	One is never safe and sound with it, As fever patient with use of ghee. A rich man like the common folk, Infested though with diverse woes,	25
- 1	Yet being filled with self concert, He thinks himself immortal being.	26
	Like fools taking perch on the tree, In the midst of forest fire,	
1	He does not look to roaring flames, Engulfing him like other beings	27
13	With passage of the fleeting time, Near and near man draws to end, But how strong is the lust of pelf, He looks to wealth and not to end.	28
16	· · · · · · · · · · · · · · · · · · ·	40
	Is like a fool who puts on mud, To wash it off with holy bath	29
17	Principle of the westing	
18	They while departing leave behind, Grief and sorrow for the mind Nor body is the end of life, It is too frail and short in time,	30
10	One need not for its sustenance, Use vile means to heap up wealth	31
	Made of bones and loathsome flesh, Offensive filth and nasty germs,	J.
10	It is too hideous and impure, To turn sacred with wealthy hoard	32
TA	 What doth add to vigour of flesh, Doth verily sap the vigour of soul And what doth add to weath of soul, Doth verily end the needs of flesh 	77
	As wealth increases greeds of flesh, It verily saps the life of self,	33
	Of what use is the gain of wealth, Which makes you lose divine self.	34

96	इष्टापदश	[35-50				
	Concentrated Thought is the only remedy					
20.	Every thing can be had in life, By force of concentrated thought, Both the precious and the worthless, Philosopher's gem, or piece of still is to be settled by the wise, Which of the two is worth attempt, The devine self of eternal bliss, Or mortal life of filth and ills.	one. 35 36				
	Self is the only Thing Worth Realization					
21.	The self enframed by body though, Is embodiment of the perfect ligh Shining all, beyond and near, Visible, pure. and crystal, clear Excellent bliss, the sublime peace, Free from time, unbound by space,	37				
	Infinite, nearest, beyond the beyond, Undying, eternal, ever living The final truth, the perfect whole, The end of ends, the goal of goals,	38				
	The aim, the light and the way, It is the thing to get realised	39				
	Path of Self Realization					
22	To know, realise the boundless soul, Let outward senses be controlled Give urges their an inner trend, To seek with in the joyful ends Achieve all this with firm resolve, Of mind kept in a balanced poise,	40				
23	Then drawing your self with in the self, Meditate on self in steady pos. The senses and their objects are, Made of dull, rash, callous matter, Whoever follows their foot prints, Is sure to fall in painful pits.	se 41 42				
	But if the voice of enlightened self, Is heard, grasped and put to work, One makes a gain of spiritual power, And enjoys the fruits of peace and Whatever is inherent in a seed, Is sure to grow up in the field, So Ignorance gropes in darker zones, And light leads to cherished home	d joy 43				
Superiority of a Devotee,						
	A devotee of enlightened self, Conquers all the pains of flesh, He lets not in the vicious trends, And uproots what are seated deep. When subject object are distinct, Separation surely severs their link,	45				
25	It does not touch devotee's lot, He is both the seeker and the sought. While one who clings to earthly things, And claims the same as his ow He mourns and groans with sorrow's pangs, Deserted when he is left al	46 n,				
	The Unreality of Worldly Life,	one 17				
	, ,					
26.	Self is self and matter is matter, The twain can never meet in one, Their union rests on ego's whims, Baseless, flinsy and unreal When one is free from ego's whims, Free he is from matter too,	48				
	So one should make his best efforts, To free himself from ego's rule	49				
	The Path of Victory.					
27.	In all hours of day and night, Sitting, walking or sleeping, To conquer the evil of egotism, Think, meditate and ever feel	50				

	"Bereft of all the physical ties, I am one, alone, and free,	
	Untinged by passions and emotions, Peace and purity reign in me."	51
	"A seer, a master seer of things, I stand above, aloof from seen,	
	Unbound by egotistic whims, I compass all of them in peace"	52
	"All the things of the outer world, Inherited and acquired by us,	
	Are wholly separate and others, There is no love lost between us."	53
	The Unholy Union,	
28.	Union of self with physical things, Is perennial source of pains and ills,	
	with all thy source of thought, word, deed, Give up thy greed for outer	
	things '	54
	The Divinity of Self.	
29.	To arise above the earthly woes, Should never lose the sight of soul,	
	O I feel and feel the warm delight, In divine dignity of the soul.	55
	I am not the death, nor disease, Neither young, adult, nor old,	
	All these things belong to flesh, Nothing is there to fear and mourn.	56
	I am, I was; shall ever be, This is the basic truth of life,	
	In all the quests of the charmful bliss, am the architect of plights.	57
	"Powerful with my aspirations, Resourceful with imaginations,	
	Blissful with glorious hopes, I tread my way through thick and thin."	58
	Futility of Worldly Quest,	
30	"Enchanted by the charms of dust, Again and again I turned to it,	
	Filled, refilled in all its forms, Put all its poses and its tints "	59
	"Moved up and down in varied ways, In various climes, in various place,	
	Lived in heaven, hellish zones, But none gave the cherished goal."	60
	"Ages have past and eras rolled, Still no rest from outer quests,	
	Now let me turn to inner self, For tried to old things, no use of quest	61
	The Strugle of life	
31.	The great struggle of worldly life, Against pain, wants and ignorance,	
	03 0	62
	Self and matter both are real, But differ in roles of cosmic plan,	
		63
	The self is whole of space and time, Of charms, of beauty, joy and light,	_
		64
	Though highest charming truth is self, But self through his ignorance,	·-
	Entangled in the outer meshes, Confuses matter with his self Thus there sets a servant's rule, Matter assumes the master's role,	65
		66
	As both belong to distinct realms, They ever differ in their trends,	Οij
		67
	Life is thus an eternal struggle, To evolve freedom from the bands,	1,7 9
	Life from death, the light from dail, Purge from vice, peace from wees.	65

	Appeal to Self.	
32	O Self I awake, how long will thou, Serve dictates of alien rule, And feel proud with names and forms, Like a fool who works as tool. Delay not throw the foreign yoke, And busy thyself with own welfare, Rule thyself with thy own self, For self rule is the best for self	69 70
	Master's role in Spiritual Culture,	
33	The eternal bliss reveals on him, Who discerns self from motley heap, To equip thee with discerning sense, Practise to sit at master's feet Master is great beacon light, Showing the various paths of life, But helping only those ship-wrecked, Who themselves feel inclined to r	71 right 72
	Self is his Own Guide.	
34 35	Self alone has urge for truth, Animated with his lovely visions, And makes quests in diverse fields, Propelled by his own missions As ether in the realm of matter, Helps only those prone to move,	73
./3	So all the teachers and scriptures, Only help right-minded souls They neither bestow any wisdom, On perverse, niggards, and fools,	74
	Nor they extract any knowledge, From the high enlightened souls Self alone is foe and friend, He has all the keys of betterment, So one should look to one's own self, For all his failures and success	75 76
	The Essential Requisites of a devotec.	
36,	Who has a calm and content mind, Who loves to live a lonely life, Is eager most for lasting truth, Is devotee best of life divine	77
	Life Features of a Yogi,	
38	The more he reveals the truth of life, The higher he soars from lastful world, The higher he soars from lastful world, The more he reveals the truth of	orld, Iıfe.78
39	He ever yearns for glorious self, And feels annoyed with earthly things	79
40	He loves to live in lonely place, Away from mart, away from fame, Speaks some times for personal need, Yet soon forgets of what he speaks	80
	He is fast fixed within his self, Talking though, he does not talk, Looking though, he does not look, Walking though he does not walk	81
42	In ecstasy, self centered he, The world of senses does not heed, Self alone in cosmic rhythm, Shines to him as holy film	82
	Yogi Enjoys a free Life.	
43	And where one gets his heart's content, He makes that place as permaner	nt 83
44	So devotee is often lost in self, Charmed with inner bliss and glow, He shuns the false, and loves the truth, He lives within, discards the sho	
	He is ever filled with self content, His mind does not roam abroad,	05

His senses too get drawn within, He is not aware of outer things

85

86	-100]	Happy Sermons	ሪዩ	1
	Mind filled with charms divin	hin, Desires cease to drag abroad, e, He gets fiee from woidly bonds	86	
	Self Culti	are is the best Culture.		
45,	Sages are ever on their gaurd,	Is ever a source of joy and gam. Not to yield to alien matter,	87	
46.	Are ever, dragged as prisoners	o get relief of physical needs, at, In claiming matter as their self, war, Through endless gates of births and	88	
	deaths.		89	
	And anchoring them in peacef	nd, Take their boats off noisy coast, ul self, Are filled with an immortal joy. nin, In forms of varied trends, instincts,	90	
		imes, Drive the self to sins and crimes	91	
	But ascetics of the serene min-	d, Are not touched by the instincts piled.	92	
		shes, By flash of concentrated light.	92	
		um Bonum of Life,		
49		bonds, With perfect beauty, peace and joy	,	
		Forms the essence of divine soul	93	
	•	d asked, This is the thing to be ever year		
		sublime, This the highest truth of life,	4	
	Brie	of Story of Truth,		
50	Their visible union is unreal,	i, The twain can never meet in one, A work of foolish whims of self Which tobs divinity of the self,	95	
	Confines its vast glorious heigh	ots, Into dark nasty physical cells fe should be made to ever grow,	96	
	This is in brief the story of tit	o light, From self conceit to love of all ith, Conveyed to us by sages of yoie,	97	
	So let us take this truth to hea	rt, And make our lives free and vast.	98	
		Blessings.		
51.	And with the help of knowled Mindless of honour and disgra	Who pays his heed to these sermons, ge gained, Under all events keeps the same. ce, Follows the path of love and grace,	99	
	Is sure one day to attain the go	al, Of perfect and beauteous soul,	.00	

परिशिष्ट नं ० ५

इप्टोपदेशके मूल क्लोकोकी वर्णानुक्रमणिका

	अ	का. नं. पृष्टाक	1	q	
अगच्छस्तद्विशेषाणाम्		8880	पर परस्ततो दुखम्		४५४८
अज्ञानोपास्तिरज्ञानं		२३२६	परीपहाद्यविज्ञानादा		२४२७
अभवन्वित्तविक्षेपः		३६४१	परोपकृतिमुत्सृज्य		३२३७
अविद्याभिदुरं ज्योति		४९—५०		ब	
अविद्वान् पुद्गलद्रव्यं		४ ६—- <mark>४</mark> ८	वध्यते मुच्यते जीवः		₹३१
	आ		बुवन्नपि हिन ब्रुते		४१—४५
आत्मानुष्टाननिष्टस्य ः		४७४९	, "	भ	
आनन्दो निर्दहत्युद्घ		४८४९	भवन्ति प्राप्य यत्सङ्ग		१८२१
आ युर्वृद्धिक्षयोत्कर्पहेतु		१५—१७	भुक्तोज्ञिता मृहुर्मोहान्		३०३५
आरम्भे तापकान्त्राप्ताव		१७—-१९		स	
	इ		मोहेन सवृतं ज्ञानं		৩—८
इच्छत्येकान्तसंवासं		۷۰ ۲۲		य	
इतश्चिन्तामणिदिन्य		२०२२	यज्जीवस्योपकाराय		१९—२१
इष्टोपदेशमिति सम्यगघी	त्य	५ १—५१	यत्र भावः शिवं दत्ते		Х Х
•	Ų		यथा यथा न रोचन्ते		३८४२
एकोऽहं निर्मम. शुद्धो	•	२७३२	यथा यथा समायाति		३७४२
,	क		यस्य स्वयं स्वभावाप्ति		१ १
कटस्य कत्तीहमिति	•	२५२९	योग्योपादानयोगेन		₹₹
कर्म कर्महितावन्धि		३१३६	यो यत्र निवसन्नास्ते		४३४६
किमिदं कीदृशं कस्य		४२४६		₹	
	ग		रागद्वेपदृयीदीर्घ		११—१२
गुरूपदेशादम्यासात्		₹३₹७		व	
Actions and	জ	., ,	वपुर्गृहं धनं दारा		660
जीवोऽन्यः पुद्गलश्चान्य	-	40-40	वर व्रतै पद दैव		33
41404 (44044)	ਜ਼	` .	वासनामाश्रमेवैतत्		Ę— — в
त्यागाय श्रेयसे वित्तम्	``	१६—१७	विपत्तिमात्मनी मूढ		१४१६
ì	द		विपद्भवपदावर्ते		१२१४
दिग्देशेम्य लगा एत्य		९१०	विराधक कथं हन्त्रे		१०११
दु खसंदोहभागित्व		२८३३		स	
दुरज्येनासुरक्ष्येण		१३१५	संयम्य करणग्राम		२२ २५
	न		स्यसवेदनसुव्यक्त		२१—-२३
न में मृत्यु कुतो भीति		₹538	स्वस्मिन् सदभिलापि		३४३८
नाज्ञो विज्ञत्वमायाति		३५३९	•	ह	· 4
निशामयति निश्शेष		₹ ९ -४३	हृपीकजमनातन्द्व		41

परिशिष्ट नं. ६

इष्टोपदेशकी टीकामें उद्धृत क्लोकों, गाथाओं और दोहोंकी वर्णानुक्रमणिका ।

अ पृष्टाक	गुरूप्रदेशमासाद्य ४४
अर्किचनोऽहमित्यास्व-गुणभद्राचार्यः आत्मानुशासनम्३१	.ग्रहण त्यागसे जून्य जो-दोहाव्र० सीतल प्र० ४९
अपराधीजन क्यो करें–दोहा–व्र. सीतलप्रसद १२) জ
अपि संकल्पिताः कामा — १९	जब तक एक विषद टले-दोहा प्र० सीतल प्र० १५
अर्थस्योपार्जने दु खम् १५	जयन्ति जगतीवन्द्या-आशाधर ५२
अज्ञभक्ति अज्ञानको-दोहा-य्र. सोतलप्रसाद २७	जस जस आतम तत्त्वमे-दोहाप्र० सीतल प्र० ४२
आ	जस जस विषय सुलभ्य भी—दोहा ,, ४३
आग्रह छोड स्वग्राममे–दोहा–य० सीतलप्रसाद ५२	जायदि जीवस्सेवं कुन्दकुन्दाचार्यं पंचास्तिकाये- १३
आतम-हित जो करत है-दोहा ,, २२	जीवकृतं परिणाम-अमृतचन्द्राचार्य पुरुपार्थ-
आत्मदेहान्तरज्ञान-पूज्यपादस्वामि-समाधिशतकम् २८	सिद्धभुपाय ३६
आत्मभाव यदि मोक्षप्रद- दोहा व्र सीतलप्रसाद ५	चीत जहा परमळ जहा-होसा-स० मीतळप्रमाह ७१
थात्मज्ञानात्परं कार्यं-पूज्यपादस्वामि समाधिशतकम् ४	जो खलु संसारत्यो-कुन्दकुन्दाचार्य पचास्तिकाये-१३
आपिंह निज हित चाहता-दोहा प्र•सीतलप्रसाद ३९	जो जामे वसता रहे-दोहाव० सीतलप्रसाद ४७
आयु क्षय धनवृद्धिको-दोहा— ,, ,, १७	झाणस्स ण दुल्लहं किपीति— २२
इत चिन्तामणि है महत्-दोहा	त
इदं फलमिय क्रिया करण—गुभचन्द्राचार्य	तथा ह्यचरमाङ्गस्य-नागसेनाचार्य -तत्त्वानुशासनम् २७
ज्ञानार्णव आशाधर सागारधर्मामृते १९	तदाच परमैकास्या-नागसेनाचार्य -तत्त्वानुशासनम् ४६
इन्द्रजाल सम देख जग,-दोहाव॰ सीतल प॰ ४४	तदात्वे सुलसंज्ञेपु १९
इन्द्रियजन्य निरोगमय, दोहा ,, ,, ६	तदेवानुभवंश्वाय-नागसेनाचार्यः-तत्त्वानुशासनम् ३८
इष्टरूप उपदेशको-दोहा ,, ,, ५२	् इ
उ उपराम इव मूर्त –आशाधरः— ५२	दहनस्तृणनाष्ठसंचयैरपि १९
	दिशा देशसे आयकर-दोहाव्र० सीतलप्रसाद ११
জ 	देखत भी नहि देखते-दोहा ,, ४६
कटका में कर्तार हूँ—दोहा—	घ
कठिन प्राप्त संरक्ष्य ये-दोहा ,, १६ कत्यिव विश्वयो जीवो ३६	ध्यायते येन तद्धवानं-नागसेनाचार्यः तत्त्वानुशासनम् २९
PCM1 Annual Control	ध्यायोतोर्हत्सिद्धरूपेण-। १९७ ।-नागसेनाचार्यः
कर्म कर्मीहतकार है-दोहाव्र० सीतलप्रसाद ३६ किमपीट विषयम्यं-आज्ञाधर अनुग्रारधर्मामृते- १९	तत्त्वातुशासनम् ५
	न च
क्या कैसा किसका किसमे-दोहाव० सीतल प्र० ४६ ग	न कर्म बहुलं जगन्नचलनात्मक-अमृतचन्द्राचार्यः
गदिमधिगदस्सदेहो-कुन्दकुन्दाचार्यः पचास्तिकाये १३	नाटकसमयसारकलशा ३१
गहियं तं सु अणाणा-अनगारधर्मामृते २५	निज अनुभवसे प्रगट है-दोहा-न्त्र० सीतलप्रसाद २५
गुरूपदेश मासाद्य । १९६।—नागसेनाचार्यः	निवृत्ति भावयेशाव-गुणभद्राचार्य आस्मानुशासनम् - ३१
तत्त्वानुशासनम् ५	निर्जनता आदर-दोहा २० सीतलप्रसाद ४५
गरु ज्यवेश-होहा-द० सीतल प्रसाद ३८	निजानंद नित-दोहाव्र० सीतलप्रसाद ५०

प		यस्य पुग्यं च पापं चगुणभद्राचार्य आत्मानुशासन २७
परको विपदा–दोहा—-व्र० सीत्तलप्रसाद	१६	यत्र राग पद धत्ते-।२५। शुभवन्द्राचार्य न्हानार्णवे १६
पर पर ताते दु ख हो-दोहाव़० सीतल प्र०	የሪ	यदायिक फल किचित्-नागसेनाचार्यः तत्त्वानुशासन २२
परमात्मानम्य-आगाधर	8	₹
परिणममानस्य चित -अमृतचन्द्राचार्य		रम्यं हर्म्य चन्दनं— - ७
पुरुपार्थसिद्धचुपाय	३६	रागी वध्नाति कर्माणि-शुभचन्द्राचार्य ज्ञानार्णवे३१
परिपहादि अनुभव विना-दोहाव्र० मीतल प्र	० २९	च
प्रगट अन्य देहादिका-दोहा ,,	३७	वज्रे पतत्यपि भयद्रुत विश्वलोके, पद्यनिन्द,
प्राणी जा संयोगते-दोहा ,,	33	पद्यनदिवंचविशतिका ४०
प्रच्याच्य विषयेभ्योऽह-पूच्यपादस्गामि		वस्तु विशेष विकल्पको दोहा ग्र॰ सीतलप्रसाद ४८
—समाधिशतकम ् —	રૃષ	विनयेन्द्रमुनिर्वावया-आशावर ५२
पुद्गलको निज जानकर-दोहा-प्र० सीतल प्र०	४९	विरम किमपरेणा-अमृतचन्द्राचार्य -नाटकसमयसार-
पुण्य हेतु दानादिको-दोहा ,,	१८	कलगाः ४३
पुत्र मित्र घर तन तिया-दोहा ,,	१०	विषयी सुख दु ख मानते-दो॰ इ॰ सीतलप्रसाद ८
पूज्य अविद्या दूर यह-दोहा "	цo	वेद्यत्वं वेद्यकत्व च-नागसेनाचार्यः-तत्त्वानुशासनम्-२४
भ		য
भैया जगवासी तू (टिप्पणी)-त्रनारसीदास		शमसुखगीलितमनसा ४२
—नाटकसमयसार	83	गुचि पदार्थ भी सगते-दो० प्र० सीतलप्रसाद २१
भोगार्जन दुःखद महा—दोहा—-म्न० सीतलप्रसाद	२०	शुद्धं धनैविवधन्ते-गुणभद्राचार्य -आत्मानुशासनम्-१८
म		, - स
मत्त कायादयो भिन्नास् । १५८ ।-नागसेनाचार्य		सब पुद्गलको मोहसे-दो० प्र० सीतलप्रसाद ३५
तत्त्वानुशासनम्—	38	सीलेसि सपत्ती-नेमिचन्द्राचार्य -गोम्मटसार
मयत दूब डोरीनितें-दोहाव्र० सीतलप्रमाद	18	जीवकाण्डम्— २८
मनको कर एकाग्र-दोहा ,,	२६	स्वर्ण पापाण सु हेतुसे-दो०-त्र० सीतलप्रसाद ३
मरण रोग मोमे नही-दोहा "	₹४	स्वपरज्ञिस्हात्वात्-नागसेनाचार्य तत्त्वानुशासनम्-२५
मलविद्धमणेर्व्यक्ति —लघीयस्त्रय	8	स्त्रबुद्धचा तत्तुगृह्णीयात्-पूज्यपादस्वामि
मित्र राह देखत खडे-दोहाव्न॰ सीतलप्रसाद	8	समाधिशतकम् ३३
मुखाङ्ग ग्लपयस्यल—	ا ق	स्वाभाविक हि निष्पत्ती- ३९
	88	स्वय कर्म सब नाशकरि, दोहा-अ० सीतलप्रसाद२
9 6 7	33	सुख वा यदि दु ख— ११
•	१०	क्ष
मोही वाँधत कर्मको-दोहा- "	३२	
य		क्षोभ रहित एकान्तमे-दो०—व्न० सीतलप्रसाद ४१
यदा मोहास्त्रजायते-पूज्यपादस्वामी-समाधिशतकम्-		হা
यद्वयानरीद्रमार्त्तं वा–नागसेनाचार्य -तत्त्वानुशासनम्	१३	ज्ञानमेव फल ज्ञाने—गुणभद्राचार्यः आत्मानुशासनम्—२६

श्रीमद् राजचन्द्र आश्रम, अगास द्वारा संचालित परमश्रुतप्रभावक-मण्डल (श्रीमद् राजचन्द्र जैन शास्त्रमाला) के

प्रकाशित ग्रन्थोंकी सूची

- (१) गोम्मटसार—जीवकाण्ड—धोनेमिनः द्रसिद्धान्तचक्रविकृत मूल गायाये, श्रीब्रह्मचारी प० लूबचन्द्रजी सिद्धान्तवास्त्रीकृत नयो हिन्दीटोका युक्त । अवकी वार पंडितजीने धवल, जयधवल, सहाधवल और वड़ी संस्कृतटीकाके आधारसे विस्तृतटीका लिखी है । चतुर्षानृत्ति । मूल्य-मौ स्पर्य ।
- (२) स्वामिकास्तिकेयानुप्रेक्षा—स्वामिकास्तिकेयकृत मूळ गायाये, श्रीशुभचन्द्रकृत वही संस्कृत-दीका, स्याद्वाद महाविद्यालय वाराणसीके प्रधानाध्यापक, पं० कैळाशचन्द्रजी बास्त्रीकृत हिन्दीटीका । अंग्रेजी प्रस्तावनायुक्त । सन्यादक-डा० आ० ने० उपाध्ये, कोत्हापुर । मृत्य-चौदह रुपये ।
- (३) परमात्मप्रकाश और योगसार—श्रीयोगीःदुदेवकृत मूल अपभ्रंग-दोहे, श्रोन्नह्मदेवकृत संस्कृत-टीका व प० दौलतरामजीकृत हिन्दी-टीका । बिस्तृत अंग्रेजी प्रस्तावना और उसके हिन्दीसार सहित । महान अध्यातम-प्रन्य । डा० आ० ने० उपाध्येका अमूल्य सम्पादन । नत्रीन संस्करण । मूल्य-बारह रुपये ।
- (४) ज्ञानार्णव—श्रोबुभवन्द्राचार्यकृत महान योगशास्त्र । सुजानगढिनवासी प० पन्नालास्त्रजी बाकस्त्रीवासकृत हिन्दी अनुवाद सिंहन । चतुर्घ सुन्दर आवृत्ति । मूल्य—वारह स्पर्य ।
- (५) प्रवचनसार —श्रीमत्कृत्वकृन्दाचार्यविरचित ग्रन्थरत्नपर श्रीमदमृतचन्द्राचार्यकृत तत्त्वप्रदीविका एवं श्रीमज्बससेनाचार्यकृत तात्पर्यवृत्ति नामक संस्कृत टीकाये तथा पाडे हेमराजजो रचित वालाववोधिनी भाषाटीका। डा० आ० ने० उपाध्यकृत अध्ययनपूर्ण अंग्रेजी अनुवाद और विशद प्रस्तावना आदि सहित आकर्षक सम्पादन। तृतीयावृत्ति। मूल्य-पन्द्रह रुपये।
- (६) बृहद्द्रस्थसंग्रह् आचार्य नेमिचन्द्रसिद्धातिदेविरचित मूळ नाथा, श्रोब्रह्मदेविविर्मित संस्कृतवृत्ति और प० जवाहरळाळजास्त्रिप्रणीत हिन्दी-भाषानुबाद सहित । पड्द्रव्यसप्ततत्त्वस्वरूपवर्णनात्मक उत्तम प्रत्य । तृतीयावृत्ति । मृत्य-पाच रुपये पचाम पैसे ।
- (७) पुरुषार्थसिद्धयुपाय-धीअमृतचन्द्रसूरिकृत मूल क्लोक। पं० टोडरमल्लजी तथा पं० दौलतरामजीकी टोकाके बाबारपर स्व० पं० ताथूरामजी प्रेमी द्वारा लिखित नवीन हिन्दीटीका सहित। श्रावक-मृतिवर्मका चित्तस्पर्वी अद्भृत वर्णन। पचमावृत्ति। मूल्य-तीन रुपये पच्चीस पैसे।
- (८) अध्यातम राजचन्द्र—थीमद् राजचन्द्रके अव्गृत जीवन तथा साहित्यका जोध एव अनुभव-पूर्ण विवेचन डाँ० भगवानदास मनसुखभाई महेनाने गुर्जरभापामें किया है। मूल्य—सात रुपये
- (९) पंचास्तिकाय—श्रोमद्भगवस्कृन्दकुन्दाचार्यविरचित अनुपम ग्रन्थराज। आ० अमृतचन्द्रसृरिकृत 'तमयव्यास्या' एवं आचार्य जयसेनकृत 'तात्यर्यवृत्ति'—नामक संस्कृत टीकाओसे अलकृत और पाडे
 हेमराजजी-रचित बालाववोधिनी भाषा-टीकाके आधारपर पं० पन्नालालजी वाकलीवालकृत प्रचलित हिन्दीअनुसादसहित । तृतोयावृत्ति ।

 गृत्य-सात रुपये।
- (११) भावनाबोध—मोक्षमाला—श्रीमद्राजचन्द्रकृत । वैराग्यभावना सहित जैनधर्यका यथार्थ-स्वरूप दिक्षाने वाले १०८ सुरदर पाठ ई । मू०-एक ल्पया पचास पैसे ।

- (१२) स्याद्वाद मंजरी-धीमिल्लिपेणमूरिकृत मूल और श्रीजगदीशचन्द्रजी शास्त्री एम० ए०, पी-एच० डी० कृत हिन्दो अनुवाद सहित । न्यायका अपूर्व ग्रन्थ है। वडी खोजसे लिखे गये १३ परिनिष्ट है। गूरय-दस रुपये।
- (१३) गोम्मटसार—कर्मकाण्ड—श्रीतेमिचन्द्रसिद्धान्तचक्रविकृत मूल गाणाये, स्व० प० मनोहरुलालकी शास्त्रीकृत संस्कृतछायाऔर हिन्दीटीका ।जैनसिद्धान्त-प्रन्य है । तृतीयावृत्ति सूरय-सात रुपये ।
- (१४) इष्टोपदेश-- श्रीपृष्यपाव-देवनिष्यआचार्यकृत मूळ रळोक, पिडतप्रवर आशावरकृत संस्कृत-टोका, प० धन्यकुमारकी जैनदर्शनाचार्य एम० ए० कृत हिन्दोटीका, स्व० वैरिस्टर चम्पतरायकी कृत अग्रेजी-टोका तथा विभिन्न विद्वानो द्वारा रचित हिन्दी, मराठो, गुजराती एव अग्रेजी पद्मानुवादो सहित भाववाही आध्यारिमक रचना । द्वितीय नयो आवृत्ति । मूल्य-दो स्पया पत्नास पैसे
- (१५) समयसार—आचार्य श्रीकुन्दकुन्दस्वामी-विरचित महान अध्यातमग्रन्य, तीन टीकाओ महित । नयी आवृत्ति (प्रेसमे)
- (१६) लि**ष्टिसार (क्षपणासारगीभत**)—श्रीमग्नेमिचन्द्रसिद्धान्तचक्रवर्ती-रिचत करणानुयोग ग्रथ । पं॰ प्रवर टोडरमलजी कृत बडी टीका सहित पुन छप न्हा है।
 - (१७) द्रव्यानुयोगतर्कणा-श्रीभोजसागरकृत, अप्राप्य है। पुन सुन्दर सम्पादन सिह्त छपेगा।
- (१८) न्यायावतार—महान् तार्किक थी सिद्धसेनदिवाकरकृत मूल स्लोक, व श्रीसिद्धपिनिषकी संस्कृतदीकाका हिन्दी-भाषानुवाद जैनदर्शनाचार्य पं० विजयमूर्ति एम० ए० ने किया है। न्यायका सुप्रसिद्ध ग्रन्थ है। मृत्य-पाच स्पर्य।
- (१९) प्रशासरितप्रकरण—थाचार्य श्रीमदुमास्वातिविरचित मूल बलोक, श्रीहरिभद्रसूरिकृत सस्कृतटीका और प० राजकुमारजी साहित्याचार्य हारा सम्पादित सरल अर्थ सहित । वैरायका बहुत सुन्वर प्रस्य है। मूल्य-छह रूपय ।
- (२०) सभाष्यतस्वार्थाविगममूत्र (मोक्षज्ञास्त्र) —श्रीमत् उमास्यातिकृत मूल मृत्र और स्वोपञ्चभाष्य तथा प० खूवचन्दजी सिद्धान्तज्ञास्त्रीकृत विस्तृत भाषाटीका । तत्त्वोका हृदयग्राह्य गम्भीर विरुष्टेषण । मूल्य –छह स्वयं ।
- (२१) सप्तभंगीतर्गणो—श्रीविमल्दासकृत मूल और स्व॰ पहित ठाकुरप्रसादजी शर्मा व्या-करणाचार्यकृत सापाटीका । नव्यस्थायका महस्वपूर्ण सन्य । वशाप्य । (पुनः नवीन छपेगा)
 - (२२) इष्टोपदेश-मात्र अग्रेजी टीका व पद्यानुवाद। मू०-पचहत्तर पैसे।
 - (२३) परमारमप्रकाश-मात्र अग्रेजी प्रस्तावना व मूल गायाये । मू०-दो रुपये ।
 - (२४) योगसार—मूल गायाये और हिन्दीसार। मू०-पत्रहत्तर वैसे।
 - (२५) कार्तिकेयानुप्रेक्श--मात्रमूल, पाठान्तर और अंग्रेजी प्रस्तावना ।
 - मू०-दो रुपये पचास पैसे ।
 - (२६) प्रवचनसार—अंग्रेजी प्रस्तावना, प्राकृत मूल, अंग्रेजी अनुवाद तथा पाठान्तर सहित । मूल्य-पांच रुपये ।
 - (२७) उपदेशस्त्राया आत्मसिद्धि—श्रीमद् राजचन्द्रप्रणीत । व्यप्राध्य ।
- (२८) श्रीमद्राजचन्द्र—श्रीमद्के पत्रो व रचनाओं का अपूर्व सग्रह । तत्त्वज्ञानपूर्ण महान् ग्रन्थ है। म० गाँधीचोंको महस्वपूर्ण प्रस्तावना । (नवीन परिवाहित संस्करण पुन छप रहा है)
 - गांधालाका महत्त्वपूर्ण प्रत्याचना । (भनार गारास्वयामा) अधिक मृत्यके ग्रम्थ मगाने वालोको कमीशन दिया जायेगा । इसके लिए वे हमसे पत्रव्यवहार करे ।

श्रीमद् राजचन्द्र आश्रमकी ओरसे

प्रकाशित युजराती ग्रन्थ

(१) श्रीमद् राजचन्द्र (२) अध्यारम राजचन्द्र (३) श्रोसमयसार (सिक्ष्ट्र) (४) समाधि सोपान (रस्तकरण्ड श्रावकाचारके विधिष्ट स्थलोका अनुवाद) (५) सावादोध-मोशमाला (६) पर-मास्त्रकाज (७) तरबज्ञान तरिषणी (८) धर्मामृत (९) स्वाध्याय सुवा (१०) सहजमुलताधन (११) तरवज्ञान (१२) श्रीसद्गुरुप्रसाद (१३) श्रीमद् राजचन्द्र जीवनकला (१४) सुवोध संग्रह (१५) तिरस्तियमादि पाठ (१६) पूजा सचय (१७) आठवृष्टिनी सञ्ज्ञाय (१८) आठोचादिपद संग्रह (१९) पत्रवज्ञवन (२०) चैत्यवन चौवीती (२१) तिरस्तकम (२२) श्रीमद् राजचन्द्र जमन्ताताव्यीमहोस्तव-सरणाजिल (२३) श्रीमद् राजचन्द्र जमन्ताताव्यीमहोस्तव-सरणाजिल (२६) श्रीमद्र रूपाणिक स्वाधिक (२५) समाधिनायना (२०) ज्ञानमावरी २१) अनिरस्रवंचाजत् तथा हृदय प्रदीप।

आश्रमके गुबराती-प्रकाशनोक्ता पृथक सूचीपत्र मेंगाइस्रे । तभी प्रन्योपर डाकखर्च अलग रहेगा । 'यास्थान .

> (१) श्रीमद् राजचन्द्र आश्रम, स्टेशन-अनास पो॰ बोरियाः वाया-आणंद (गुनरात) (२) परमश्रुतप्रभातक~मण्डल (श्रीमद् राजचन्द्र जैन शास्त्रमाला) बौनती बेस्बर, बाराकुँबा, नौहरी बाजार, वम्बई-२

'स्वर्गमें निवास करनेवाले प्राणियोंका (देवोंको) सुख स्वर्गवासी देवोंके समान ही हुआ करता है।' इस प्रकारसे कहने या वर्णन करनेका प्रयोजन यही है कि वह सुख अनन्योपम है। अर्थात् उसकी उपमा किसी इसरेको नहीं दी जा सकती है। लोकमें भी जब किसी चीजकी अति हो जाती है, तो उसके घोतन करनेके लिए ऐसा ही कथन किया जाता है, जैसे "भैया! राम रावणका युद्ध तो राम रावणके युद्ध समान ही था। रामरावणयोर्युद्ध रामरावणयोरिव।"

अर्थात्, इस पंक्तिमें युद्ध सम्बन्धी भयंकरताकी पराकाष्टाको जैसा द्योतित किया गया है । ऐपा ही सुखके विषयमें समझना चाहिये ॥ ५ ॥

दोहा—इन्द्रियजन्य निरोगमय, दीर्धकाल तक भोग्य। स्वर्गवासि देवानिको, सुख उनहीं के योग्य॥ ५॥

द्यांका—इस समावानको सुन शिष्यको पुनः शंका हुई और वह कहने लगा—" भगवन ! न केवल मोक्षमें, किन्तु यदि स्वर्गमें भी, मनुष्यादिकोंसे बढ़कर उत्कृष्ट सुख पाया जाता है, तो फिर "सुक्षे मोक्षकी प्राप्ति हो जावे" इस प्रकारकी प्रार्थना करनेसे क्या लाम ?"

संसार सम्बन्धी सुखमें ही सुखका आग्रह करनेवाले शिष्यको 'संसार सम्बन्धी सुख और दुःख भ्रान्त हैं।'यह बात बतलानेके लिये आचार्य आगे लिखा हुआ ब्लोक कहते हैं—

वासनामात्रमेवैतत् सुखं दुःखं च देहिनाम्। तथा ह्युद्देजयन्त्येते, भोगा रोगा इवापदि ॥ ६॥

अन्वय—देहिनां सुखं दुःखं च वासनामात्रम् एव । तथाहि, एते भोगा आपिट् रो इव उद्देजयन्ति ।

द्यीका -- एठत् प्रतीयमानमैन्द्रियकं सुखं दुःखं चास्ति । कीदृद्यं वासनामान्नमेव जीवस्योपकारकत्वापकारकत्व भावेन परमार्थतो देवादाख्रेपद्यंणीय तरवानववोधादिदं ममेष्टस्पकारकत्वादिदं चानिष्टमपकारकत्वादिति विभ्रमाजा संस्कारी वासना इष्टानिष्टार्थातुमवानन्तरसुद्यूतः स्वसंवेद्य आमिमानिकः परिणामः । वासनेव न स्वामाविकमात्मस्वरूप-मित्यस्ययोगस्यवच्छेदार्थो मात्र इति स्वयोगस्यवस्थापकक्षेवच्यदः । वेषामेतदेवंभूतमस्तीत्याद् । देहिनां देह एवात्म-त्वेन राह्यमाणोस्तीति देहिनो वहिरात्मानत्वेवाम् । एतदेव समर्थयितुमाह---तथाहीत्यादि । उक्तार्थवमर्थनार्थक्तयाद्यीति इत्यदः । उद्देजनयन्ति उद्देगं कुर्वन्ति, न सुख्यन्ति ते, एते सुख्यनकत्वेन लोके प्रतीवा सोगा रमणीयरमणीप्रमुखा इन्द्रियार्थाः । के इव, रोगा इव ववसदित्याययो यथा । कस्या स्त्याम् १ आपदि दुनिवारवेरिप्रमृतिसवादितदीमेनस्य-लक्षणायां विवदि । तथा चोक्तम्--" मुखाद्यं ग्वयस्यलं क्षित्र कुरतोप्यक्षांश्च विद्यास्यते, दूरे घेहि न हृष्य एव किमभूरस्या न वेरिस्य खणम् । स्थयं चेद्धि निर्माद्य गामिति त्योद्योगे द्विपः स्त्री क्षिपत्साक्ष्यक्षमुवागरागललिता-लावैविधित्त् रतिम् ॥ " अपि च " रायं हार्य चन्दनं चन्द्रपादा, वेणुवीणा योवनस्या युवत्यः । नैते रम्या क्षुत्विपासा-हिंतानां सर्वीरम्मास्तन्दुलागर्थमुलाः ॥ " तथा । आतपे धृतिमता सह वध्या यामिनीनियहिणा विद्द्येन । सेहिरे न किरणा हिमस्मेर्दुःखिते मनिति सर्वमसस्पादि । अतो हायते ऐन्द्रियकं सुखं वासनामान्रमेव, नातमनः स्वामानिकमाकुरुत्वस्वभावम् । कथमन्यथा छोके सुखननकरवेन प्रतीतानामि भावाना दुःखरेतुत्वम् । एवं दुःखमि । अन्नाह पुनः शिष्यः—एते सुखदुःखं खडु नासनामाने, कथं न लक्ष्येते हति । खिल्तित वाक्यालंकारे निश्चये वा । कथं केन प्रकारण न लक्ष्येते न संवेधेते, छोकारिति शेषः । शेषं स्पष्टम् ॥ ६ ॥

अत्राचार्यः प्रबोधयति--

अर्थ—देहधारियोंको जो सुख और दुःख होता हैं, वह केवल कल्पना (वासना या संस्कार) जन्य ही है। देखो ! जिन्हें लोकमें सुख पैदा करनेवाला समझा जाता है, ऐसे कमनीन कामिनी आदिक मोग भी आपत्ति (दुर्निवार, शत्रु आहिके द्वारा की गई वेचेनी) के समयमें रोगों (ज्वरादिक व्याधियों) की तरह प्राणियोंको आकुलता पैदा करनेवाले होते हैं। यही वात सांसारिक प्राणियोंके सुख-दुःखके सम्बन्धमें है।

विश्रदार्थ — ये प्रतीत (माल्म) होनेवाले जितने इंद्रियजन्य सुख व दुःख हैं, वे सव वासनामात्र ही हैं। देहादिक पदार्थ न जीवके उपकारक ही हैं और न अपकारक ही। अतः परमार्थसे वे (पदार्थ) उपेक्षणीय ही हैं। किंतु तत्त्वज्ञान न होनेके कारण— 'यह मेरे लिये इष्ट है — उपकारक होनेसे।' ऐसे विभ्रमसे उत्पन्न हुए संस्कार जिन्हें वासना भी कहते हैं — इस जीवके हुआ करते हैं। अतः ये सुख दुःख विभ्रमसे उत्पन्न हुए संस्कारमात्र ही हैं, स्वाभाविक नहीं। ये सुख दुःख उन्हीको होते हैं जो देहको ही आत्मा माने रहते हैं। ऐसा ही कथन अन्यत्र भी पाया जाता है — " मुंचांगं"

अर्ध—इस श्लोकमें दम्पतियुगलक वार्तालापका उल्लेख कर यह वतलाया गया है कि 'वे विषय जो पहिले अच्छे मालूम होते थे, वे ही मनके दुःखी होनेपर छुरे मालूम होते हैं।' घटना इस प्रकार है—पति-पत्नी दोनों परस्परमें सुख मान, लेटे हुए थे कि पित किसी कारणसे चिंतित हो गया। पत्नी पितसे आर्लिंगन करनेकी इच्छासे अंगोंको चलाने और रागयुक्त वचनालाप करने लगी। किन्तु पित जो कि चिंतित था, कहने लगा "मेरे अंगोंको छोड़, व मुझे संताप पैदा करनेवाली है। हट जा। तेरी इन कियाओंसे मेरी छातीमें पीड़ा होती है। दूर हो जा। मुझे तेरी चेष्टाओंसे विलकुल ही आनन्द या हर्ष नहीं हो रहा है।" "रम्यं हर्म्य"

रमणीक महल, चन्दन, चन्द्रमाकी किरणें (चाँदनी), वेणु, वीणा तथा योवनवती युवितयाँ (क्षियाँ) आदि योग्य पदार्थ भूख-प्याससे सताये हुए व्यक्तियोंको अच्छे नही लगते । ठीक भी है, अरे ! सारे ठाटवाट सेरभर चाँवलोंके रहनेपर ही हो सकते हैं । अर्यात् पेटभर खानेके लिए यदि अन्न माँजूद है, तव तो सभी कुछ अच्छा ही अच्छा लगता है । अन्यया (यदि भरपेट खानेको न हुआ तो) सुन्दर एवं मनोहर गिने जानेवाले पदार्थ भी खुरे लगते हैं । इसी तरह और भी कहा है:—

"एक पक्षी (चिरवा) जो कि अपनी प्यारी चिरैयाके साथ रह रहा था, उसे धूपमें रहते हुए भी संतोष और सुख माछ्म देता था। रातके समय जब वह अपनी चिरैयासे विकुड़ गया, तब शीतल किरणवाले चन्द्रमाकी किरणोंको भी सहन (बरदाश्त) न कर सका। उसे चिरैयाके वियोगमें चन्द्रमाकी ठंडी किरणें सन्ताप व दुःख देनेवाली ही प्रतीत होने लगीं। ठीक ही है, मनके दुःखी होनेपर सभी कुछ असहा हो जाता है, कुछ भी भला या अच्छा नहीं माछ्म होता।"

इन सबसे माळूम पड़ता है कि इन्द्रियोंसे पैदा होनेवाला सुख वासनामात्र ही है। आलाका स्वाभाविक एवं अनाकुलतारूप सुख वासनामात्र नहीं है, वह तो वास्तविक है। यदि इन्द्रियजन्य सुख वासनामात्र-विग्रमजन्य न होता तो संसारमें जो पदार्थ सुखके पैदा करनेवाले माने गये हैं वे ही दु:खके कारण कैसे हो जाते ? अतः निष्कर्भ निकला कि देहधारियोंका सुख केवल,काल्पनिक ही है और इसी प्रकार उनका दु:ख भी काल्पनिक है।। ह।।

दोहा—विषयी सुख दुःख मानते, हैं अङ्गान प्रसाद । भोग रोगवत् कप्टमें, तन मन करत विषाद ॥ ६ ॥

रांका—ऐसा सुन शिष्य पुन कहने लगा कि "यदि ये सुख और दुःख वासनामात्र ही हैं तो वे लोगोंको उसी रूपमें क्यों नहीं मालूम पड़ते हैं ? आचार्य समझाते हुए बोले—

> मोहेन संवृतं ज्ञानं, स्वभावं स्वभते न हि । मक्तः पुमान् पदार्थानां यथा मदनकोद्रवैः ॥ ७ ॥

अन्वय—हि मोहेन संवृतं ज्ञानं तथैव स्वभावं न लभते यथा मदनकोद्रवैः मत्तः पुमान् पदार्थानां स्वभावं न लभते ।

टीका—न हि नैव लमते परिच्छिनत्व धात्नामनेकार्थरवाछमेशीनीप वृत्तिस्तया च लोको विक्त यथास्य चित्तं लब्धिति । कि तत् कर्तुं, ज्ञानं धर्मधिणोः कथंचित्तादास्म्यादर्थम्रहणव्यापारपरिणत आस्मा । कं, स्वभावं स्वोऽ-छाधारणो अन्योऽन्यव्यतिकरे सत्यपि व्यवेत्यन्तरेम्यो विवक्षितार्थस्य व्यावृत्तप्रस्यवदेतुमीनो धर्मः स्वभावस्तम् । केवाम्, पदार्थानां सुखदुःखगरीरादीनाम् । किंविज्ञिष्टं एत् ज्ञानं, संवृत्तं प्रच्छादितं वस्तुयाथासम्यप्रकाशने अभिभूततामर्थ्यम् । केन, मोहेन मोहनीयकमेणो वियाकेन । तथा चोत्तम्—" सलविद्यमणेर्व्यक्तिर्यथा नैकप्रकारतः । कर्म्मविद्यात्मविव्यति-स्तथा नैकप्रकारतः ॥

नत्वमूर्तस्यात्मनः कथं मूर्तेन कर्मणाभिभवो युक्त इस्यत्राह्—मत्त इस्यादि । यथा नैव क्यते । कोऽधी, पुसान् व्यवहारी पुरुषः । कं, पदार्थानां घटपटादीनां स्वभावम् । किविशिष्टः सन्, मत्तः जनितमदः । कैर्मदनकोद्रवैः । पुनराचार्य एव प्राह्, विराधक इस्यादि । यावत् स्वभावमनासादयन् विसदद्यान्यवगच्छतीति । शरीशदीनां स्वरूपमलभानाः पुरुषः शरीरादीनि अन्यथाभृतानि प्रतिपद्यत इस्यर्थः । असुभेवार्थं स्फुटयवि;—ं

अर्थ — मोहसे ढका हुआ ज्ञान, वास्तिविक स्वरूपको वैसे ही नहीं जान पाता है, जैसे कि मद पैदा करनेवाले कोद्रव (कोदों) के खानेसे नशैल-वे-खबर हुआ आदमी पदार्थोंको ठीक-ठीक रूपसे नहीं जान पाता है।

१ विजातीयेभ्योऽन्यपदार्थेभ्यः।

विश्वदार्थ — मोहनीयकर्मके उदयसे दका हुवा ज्ञान वस्तुओं के यथार्थ (ठीक ठीक) स्वरूपका प्रकाशन करनेमें द्वी हुई सामर्थ्यवाला ज्ञान, सुख, दुःख, शरीर आदिक पदार्थों के स्वभावको नहीं जान पाता है। परस्परमें मेल रहनेपर भी किसी विविक्षत (खास) पदार्थको अन्य पदार्थों से जुदा जतलानेके लिये कारणीभूत धर्मको (भावको) स्व असाधारण भाव कहते हैं। अर्थात दो अथवा दोसे अधिक अनेक पदार्थों के बीच मिले रहनेपर भी जिस असाधारण भाव (धर्म) के द्वारा किसी खास पदार्थको अन्य पदार्थों जुदा जान सके, उसी धर्मको उस पदार्थका का स्वभाव कहते हैं।

ऐसा ही अन्यत्र भी कहा है---" मलविद्ध० "

" मल सिहत मणिका प्रकाश (तेज) जैसे एक प्रकारसे न होकर अनेक प्रकारसे होता है, वैसे ही कर्मसम्बद्ध आत्माका प्रतिभास भी एक स्वासे न होकर अनेक रूपसे होता है।"

यहाँपर किसीका प्रश्न है कि-

अमूर्त आत्माका मूर्तिमान् कर्मोंके द्वारा अभिभव (पैदा) कैसे हो सकता है ? उत्तरखब्दा आचार्य केंद्रते हैं कि:—

" नरोको पैदा करनेवाले कोद्रव-कोदों धान्यको खाकर जिसे नरा। पैदा हो गया है, ऐसा पुरुष घट पट आदि पदार्थोंके स्वभावको नहीं जान सकता, उसी प्रकार कर्मबद्ध आत्मा पदार्थोंके स्वभावको नहीं जान पाता है। अर्थात् आत्मा व उसका ज्ञान गुण यद्यपि अपूर्त है फिर भी मूर्तिमान कोद्रवादि धान्योंसे मिलकर वह विगड़ जाता है। उसी प्रकार अपूर्त आत्मा मूर्तिमान कमेंके द्वारा अभिमृत हो जाता है और उसके गुण भी दवे जा सकते हैं।। ७॥

शरीर आदिकोंके स्वरूपको न समझता हुआ आत्मा शरीरादिकोंको किसी दूसरे रूपमें ही मान बैठता है।

दोहा—मोहकर्मके उदयसे, वस्तुस्वभाव न पात ।

मदकारी कोदों भखे, उत्तरा जगत छखात ॥ ७॥
इसी अर्थको आगेके छोकमें स्पष्टीत्या विवेचित करते हैं—

वपुर्शृहं धनं दाराः, पुत्रा मित्राणि शत्रवः।

सर्वथान्यस्वभावानि, मृढः स्वानि प्रपद्यते॥ ८॥

अन्वय—वृषुः गृहं धनं दाराः पुत्राः मित्राणि शत्रवः सर्वथा अन्यस्वभावानि किन्तु ^{मूहः} तानि स्वानि प्रपद्यते ।

टीका-प्रविद्यो । कोसी, मूढ: स्वपरिविवेकज्ञानहीन: पुमान् । कानि, वपुर्वहादीनि वस्तृति । किविशिष्टानि, स्वानि स्वश्चारमा स्वानि चास्मीयानि स्वानि । एकशेषाश्रवणादेकस्य स्वशन्दस्य लोगः । अयमर्थो, द्वतममोहाविधे प्रवचत इत्याह । खर्वधान्यस्वभावाति सर्वेण द्रव्यक्षेत्रकाळभावल्डाणेन प्रकारेण त्वस्वभावाद्न्यो भिन्नः स्वभावो येषां तानि । किं किमित्याह । वषुः शरीरं तावदचेतनत्वादिस्वभावं प्रषिद्धभित्ति । एवं ग्रहं धनं दाराः भावाः पुत्राः आत्मजाः मित्राणि सुद्धदः शत्रवोऽभिन्नाः । अत्र हितवर्गसुद्दिश्य दृष्टान्तः । अत्रेतेषु वषुगदिषु पष्पे हितानासुपकारकाणां दारादीनां वर्गो गणस्तसुद्दिश्य विषयीकृत्य दृष्टान्त उदाहर्षणं प्रदर्शते । अस्माभिरिति शेषः । तदाया,—

विश्वादार्थ—स्य और परके विवेकज्ञानसे रहित पुरुष शरीर आदिक पर पदार्थोंको आत्मा व आत्माके स्वस्त्य ही समग्रता रहता है। अर्थात् इट्रतम मोहसे वश प्राणी देहादिकको (जो कि इच्य, क्षेत्र, काल, भाव लक्षणस्य हरेक प्रकारसे आत्म स्वभावसे भिन्न स्वभाववाले हैं) ही आत्मा मानता है और इट्रतर मोहवाला प्राणी, उन्हीं व वैसे ही शरीरादिकको आत्मा नहीं, अपि तु आत्माके समान मानता रहता है।। ८।।

> दोहा-पुत्र मित्र घर तन तिया, धन रिपु आदि पदार्थ। बिल्कुल निजसे भित्र हैं, मानत मृह निजार्थ॥ ८॥

उत्थानिका—ग्रारीर आदिक पदार्थ जो कि मोहवान प्राणिके द्वारा उपकारक एवं हितृ समझे जाते हैं, वे सब कैसे हैं, इसको आगे छोकमें उछिखित दष्टांत द्वारा दिखाते हैं:—

> दिग्देशेभ्यः खगा एत्य, संवसन्ति नगे नगे। स्वस्वकार्यवशाद्यान्ति, देशे दिशु प्रगे प्रगे॥ ९॥ -

अन्यय-स्त्रगाः दिग्देशेम्यः एत्यज नगे नगे संवसन्ति, प्रगे प्रगे स्वस्वकार्यवशात् देशे दिक्षु यान्ति ।

टीका — संवर्गनि मिलिता रार्ति यावित्रवासं कुर्वन्ति । के ते, लगाः पिक्षणः । क क्र. नगे नगे वृक्षे वृक्षे । क्रिं कृतवा, एरा लगात्म । केम्यो, दिग्देशेभ्यः दिशः पूर्वादयो दश देशतालगेकदेशो लक्ष्यद्वादयस्तेम्योऽविधकृतेम्यः । तथा यान्ति गच्छित् । के ते, लगाः । कामु, दिश्च दिग्देशोष्विन प्राप्तिविषयं पति नगमनित्रपानिवृद्ध्ययं तिन यो तस्यागेव दिश्च गच्छित वश्च यस्याहेशादायावः स तस्तित्रवे देशे गच्छति नगरित निवमः । कि तर्हि, यत्र क्रापि वृद्धेच्छं गच्छानीत्ययं । पत्सात्, स्वस्वकायवद्यात् निजनित्रकरणीयपारतन्त्रयात् । क्रा क्राप्तः प्रापे प्रापे प्राप्तः प्राप्तः । एवं संवर्षारेणो जीवा अपि नरकादियातिस्यानेम्य लागत्य कुछे स्वायुःकार्त्र यावत् संभूव तिष्टन्ति तथा तिजनित्रपारतस्यात् देवगायादिस्यानेध्यनियमेन स्वायुःकारले गच्छतीति प्रवीहि । क्र्यं भद्र तव वाशिद्यु तिवृद्धया एर्ट नेषु क्ष्यंग्यस्त्रभावेषु आस्मासीयभावः । यदि स्वस्वेतरातमका स्युः तदा त्विय तद्वर्यं एप क्रयम्यस्थान्तर मञ्चयुः । यदि च एते तावकाः स्युनाहि क्रयं क्रयं प्राप्तः प्रयान्तर्यति दार्धनित द्वीनयम् । अहितवर्येऽपि द्वावर्यः प्रवर्तते अन्तामिरिति योज्यम् ;—

अर्थ—देखो, भित्त भित्र दिजाओं व देशोंसे उड़ उड़कर आते हुए पक्षिमण दृशीपर आकर रेनवसरा करते हैं और संवेश होनेपर अपने अपने कार्यक वशने हुदा हुदा दिशाओं व हेशों में उड़ नाते हैं। विश्वादार्थ—जैसे पूर्व आदिक दिशाओं एवं अंग, वंग आदि विभिन्न देशोंसं उड़कर, पिक्षमण वृक्षोंपर आ बैठते हैं, रात रहनेतक वहीं वसेरा करते हैं और संवरा होनेपर अनियत दिशा व देशकी ओर उड़ जाते हैं—उनका यह नियम नहीं रहता कि जिस देशसे आये हों उसी ओर जावें। वे तो कहींसे आते हैं और कहींको चले जाते हैं—वैसे ही संसारिजीव भी नरकगत्यादिस्प स्थानोंसे आकर कुलमें अपनी आयुकाल पर्यन्त रहते हुए मिल-जुलकर रहते हैं, और फिर अपने अपने क्सोंके अनुसार, आयुके अंतमें देवगत्यादि स्थानोंमें चले जाते हैं। हे मद्र! जब यह वात है तब हितत्यस समझे हुए, सर्वथा अन्य स्वभाववाले स्त्री आदिकोंमें तेरी आत्मा व आत्मीय युद्धि कैसी ? और पदि ये शरीरादिक पदार्थ तुम्हारे स्वस्प होते तो तुम्हारे तदवस्य रहते हुए, अवस्थान्तरोंको कैसे प्राप्त हो जाते ? यदि ये तुम्हारे स्वस्प नहीं अपि तु तुम्हारे होते तो प्रयोगके विना ही ये जहाँ चोहे कैसे चले जाते ? अतः भोहनीय पिशाचके आवेशको दूर हटा ठीक ठीक देखनेकी चेष्टा कर ॥ ९ ॥

दोहा-दिशा देशसे आयकर, पक्षी बृक्ष वसन्त । प्रात होत निज कार्यवश, इच्छित देश उड़न्त ॥९॥

उत्थानिका—आचार्य आगेके क्लोकमं शृत्रुओंके प्रति होनेवाले भावोंको 'ये हमारे शृत्रु हैं ' 'अहितकर्ता हैं ' आदि अज्ञानपूर्ण वतलाते हुए उसे दृष्टान्तद्वारा समझाते हैं, साय ही ऐसे भावोंको दूर करनेके लिये प्रेरणा भी करते हैं:—

> विराधकः कथं हन्त्रे, जनाय परिकृष्यति । त्र्यंङ्गुरुं पातयन् पद्भ्यां स्वयं दण्डेन पात्यते ॥ १० ॥

अन्वय—विराधकः क्यं हन्त्रे जनाय परिकुप्यति, त्र्यङ्गुलं पद्भ्यां पातयन् दण्डेन स्वयं पात्यते ।

टीका—कथिमत्यरूची, न श्रद्द्ये कथं परिकुत्यित समन्तात् कुत्यित । कोऽसी, विगवकः अपकारकर्ता जनः। करमै, हन्त्रे जनाय प्रत्यपकारकाय लोकाय । " सुलं वा यदि वा दुःखं, येन यश्वकृतं सुवि । अवाग्रीति स तत्तरमादेष मार्गः सुनिश्चितः ॥"

इत्यमिधानादन्याँग्यमेतिदिति भावः। अत्र दृष्टान्तमाचष्टे। अङ्गुलमिखादि। पात्यते भूगी क्षिप्यते। कोऽषी, यः कश्चिद्धमीक्ष्यैकारी जनः। केन, दण्डेन हस्तधार्यकाष्ठेन। कयं, रवयं पात्यप्रेरणमन्तरेणैव। किं कुर्वेन, पात्यन् भूमिं प्रति नामयन्। किं तत्, त्र्यह्मुलं अङ्गुलित्रयाकारं कचाव्याकर्षणावयवम्। काश्यां, पद्भव्याँ पादाश्यां ततोऽहिते ग्रीतिरहिते चाप्रीतिः स्वहितेषिणा प्रक्षावता न करणीया।

अत्र विनेयः प्रन्छिति । हिताहितयो रागद्वेषी कुर्वन् किं कुरते इति दारादिषु रागं शत्रुषु च हेर्ष कुर्वाणः पुरुषः किमारमनेहितं कार्यं करोति चेन तावत् कार्येतयोपदिवयते इत्यर्थः । अत्राचार्यः समाधत्ते,—

अर्ध-जिसने पहिले दूसरेको सताया या तकलीफ पहुँचाई है ऐसा पुरुष उस सताये गये और वर्तमानमें अपनेको मारनेवालेके प्रति क्यों गुस्सा करता है ? यह कुछ जँचता नहीं। और ! जो त्र्यङ्गुलको पैरांसे गिरायगा वह दंडेके द्वारा स्वयं गिरा दिया जायगा।

१ अयुक्तं । २ अनिचार्यकार्यकर्ता । ३ पण्डितेन ।

विञ्ञादार्थ—दूसरेका अपकार करनेवाला मनुष्य, बदलेमँ अपकार करनेवालेके प्रति क्यों हर तरहसे क्रिपत होता है ? कुछ समझमें नहीं आता ।

भाई ! सुनिश्चित रीति या पद्धित यही है कि संसारमें जो किसीको सुख या दुःख पहुँचाता है, वह उसके द्वारा सुख और दुःखको प्राप्त किया करता है। जब तुमने किसी दूसरेको दुःख पहुँचाया है तो वदलेमें तुम्हें भी उसके द्वारा दुःख मिलना ही चाहिये। इसमें गुस्सा करनेकी क्या बात है? अर्थात् गुस्सा करने अन्या बात है? अर्थात् गुस्सा करना अन्याय है, अगुक्त है। इसमें दृष्टांत देते हैं कि जो बिना विचार काम करनेवाला पुरुष है वह तीन अंगुलिक आकार वाले कूड़ा कचरा आदिके समेटनेके काममें आनेवाले 'अंगुल' नामक यंत्रको पैरोंसे जमीनपर गिराता है तो वह बिना किसी अन्यकी प्रेरणाके स्वयं ही द्वायमें पकड़े हुए इंडेसे गिरा दिया जाता है। इसल्यें अहित करनेवाले व्यक्तिक प्रित, अपना हित चाहनेवाले वृद्धिमानोंको, अप्रीति, अप्रेम या द्वेष नहीं करना चाहिये ॥ १०॥

दोहा—अपराधी जन क्यों करे, इन्ता जनपर क्रोध। दो पग अंगुल महि नमे, आपहि गिरत अवोध ॥ १०॥

यहाँपर शिष्य प्रश्न करता है कि स्त्री आदिकोंमें राग और शत्रुओंमें द्वेष करनेवाला पुरुष, अपना क्या अहित—विगाड़ करता है? जिससे उनको (राग-द्वेषोंको) अकरणीय—न करने लायक बतलाया जाता है? आचार्य समाधान करते हैं:——

रागद्वेषद्वयीदीर्ध-नेत्राकर्षणकर्मणा । अज्ञानात्मुचिरं जीवः, संसाराज्यो भ्रमत्यसौ ॥ ११ ॥

अन्वय-असी जीवः अज्ञानात् रागद्देषद्वयीदीर्घनेत्राक्र्मणकर्मणा संसाराच्यी सुचिरं अमृति । दीका-अमित संसराच्यी सुचिरं अमृति । दीका-अमित संसराच्यी संचरः द्रव्यपरिवर्तनादिरूपो मचोऽव्यि समुद्र इव दुःखदेत्तवाद् दुस्तरस्वाच तिसन् । कस्मात्, अज्ञानात् देहादिष्वास्मविभ्रमात् । कियरकालं, सुच्चिर अतिः दीर्घकालम् । केन, रागेत्यादि । राग इष्टे वस्तुनि प्रीतिः द्वेपकालम् । केन, रागेत्यादि । राग इष्टे वस्तुनि प्रीतिः द्वेपकालम् । तथा चोक्तम्---

" यत्र रागः पदं घत्ते, द्वेषस्तत्रेति निश्चयः । उभावेतौ समालम्ब्य, विक्रमत्यधिकं मनः ॥ "

अपि च । आत्मिन सित परसंज्ञा स्वपरिवभागात् परिग्रहहेषौ । अनयोः संप्रतिवद्धाः सर्वे दोषाश्च जायन्ते । सा दीर्घनेत्रायतमन्थाकष्णपादा इव अमणहेसुत्वात्तस्यापकषणकर्मजीवस्य रागादिरूपतया परिणमनं नेत्रस्यापवर्ष- णावाभिमुखानयनं तेन अत्रोपमानभूतो मन्यदण्ड आक्षेप्यस्तेन यथा नेत्राक्ष्मणव्यापरे मन्याच्छः समुद्रे सुचितं आन्तो छोके प्रसिद्धस्तया स्वपरिवचेकानववोधात् यदुद्भृतेन रागादिपरिणामेन कारणकार्योपचारात्तजनितकमेवन्वेन संशारस्यो जीवो अनादिकाछं संशरे आन्तो अमित अमिष्यति । अनतीस्यविष्ठस्ते पर्वेता इत्यादिवत् नित्यप्रवृत्ते छटौ विधानात् । उत्ते च ।

" जो खब्द संसारयो, जीवो तत्तो दु होदि परिणामो । परिणामादो कर्म, कम्मादो हवदि गदि सु गदी ॥ १२८ ॥ गदिमधिनादस्स देहो, देहादो इंदियाणि जायंते । तेहिं दु विसयमहण, तत्तो रागो व दोसो वा ॥ १२९ ॥ जायदि जीवस्तेवं, मावो संसारचक्कवालंमि । इदि जिणवरेहिं भणिदो, अणादिणिधणो संणिषणो वा " ॥ १३० ॥ पंचास्तिकाय । २ ।

१ वर्तमानात् ।

अग्र प्रतिपाद्यः पर्यर्तेयुङ्क्ते । तस्मिलपि गरि सुन्धां स्यात् को दोष इति भगवन् संवारेषि, न केवलं मोक्ष इत्यपि-शब्दार्थः । चेजीवः सुखयुक्तो भवेत् तर्हि को न कश्चित् दोषो हुएत्वं संवारस्य वर्षेषां मुखरपेव आहुमिएत्वात् वेन संवारच्छेदाय सन्तो यतेरजित्यत्राह । वत्स !

अर्थ---यह जीव अज्ञानसे राग्द्रेपरूपी दो लम्बी डोरियोंकी खींचतानीसे संसारस्वी समुद्रमें बहुत कालतक घृमता रहता है-परिवर्तन करता रहता है।

विशदार्थ — द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव, भावस्त पंचपरावर्तनस्त्य संसार जिसे दुः सका कारण और दुस्तर होनेसे समुद्रके समान कहा गया है, उसमें अज्ञानसे-श्ररीरादिकों में आत्मश्रांतिसे-अतिदीर्घ कालतक धूमता (चक्कर काटता) रहता है। इप्र वस्तुमें श्रीति होनेको राग और अनिष्ट वस्तुमें अप्रीति होनेको द्रेप कहते हैं। उनकी शक्ति और व्यक्तिस्त्यसे हमेशा प्रवृत्ति होती रहती है, इसिलये आचार्योंने इन दोनोंकी जोड़ी वतलाई है। वाकीके द्रोप इस जोड़ीमें ही श्रामिल हैं, जैसा कि कहा गया है:—" यत्र रागः पदं धत्ते "

" जहाँ राग अपना पाँच जमाता है, वहाँ द्वेप अवश्य होता है या हो जाता है, यह निश्चय है। इन दोनों (राग-द्वेप) के आलम्बनसे मन अधिक चंचल हो उठता है। और जितने दोप हैं, वे सब राग-द्वेपसे संबद्ध हैं, " जैसा कि कहा गया है—" आत्मिन सित परसंज्ञा० "

" निजल्ब होनेपर परका ख्याठ हो जाता और जहाँ निज-परका विभाग (भेद) हुंआ वहाँ निजमें रागस्त्य और परमें द्वेपरूप भाव हो ही जाते हैं। वस इन दोनोंके होनेसे अन्य समस्त दोष भी पैदा होने ठम जाते हैं। कारण कि वे सब इन दोनोंके ही आश्रित हैं।"

वह राग-द्रेषकी जोड़ी तो हुई मंथानीके डंडेको धुमानेवाली रस्सीके फाँसाके समान और उसका घुमान कहलाया जीवका रागादिस्त्य परिणमन। सो जैसे लोकमें यह वात प्रसिद्ध है कि नेतरीके खींचा-तानीसे जैसे मंथराचल पर्वतको समुद्रमें वहुत कालतक भ्रमण करना पड़ा। उसी तरह स्वपर विवेकज्ञान न होनेसे रागादि परिणामोंके द्वारा जीवाल्मा अथवा कारणमें कार्यका उपचार करनेसे, रागादि परिणामजनित कर्मवंधके द्वारा वँधा हुआ संसारीजीव, अनादिकालसे संसारमें घूम रहा है, घूमा था और घूमता रहेगा। मतलव यह है कि 'रागादि परिणामच्य भावकर्मीसे द्रव्यकर्मोंका बन्ध होता 'ऐसा हमेज्ञासे चला आ रहा है और हमेज्ञा तक चलता रहेगा। सम्भव है कि किसी जीवके यह रक भी जाय। जैसा कि कहा गया है:—"जो खलु संसारखो०"

" जो संसारमें रहनेवाला जीव है, उसका परिणाम (रागद्वेप आदिस्प परिणमन) होता है, उस परिणामसे कर्म वॅथते हैं। वॅथे हुए कर्मोंके उदय होनेसे मनुष्यादि गतियोंमें गमन होता है, मनुष्यादि गतियोंमें गमन होता है, मनुष्यादि गतिमें प्राप्त होनेवालेको (औदारिक आदि) शरीरका जन्म होता है, शरीर होनेसे

इंद्रियोंकी रचना होती है, इन इंद्रियोंसे विषयों (रूप स्सादि) का ग्रहण होता है, उससे फिर राग और हेप होने लग जाते हैं। इस प्रकार जीवका संसारल्पी चक्रवालमें भवपरिणमन होता रहता है, ऐसा जिनेन्द्रदेवने कहा है। जो अनादिकाल्से होते हुए अनन्तकालतक होता रहेगा, हाँ, किन्हीं भव्यजीयोंके उसका अन्त भी हो जाता है।"॥ ११॥

दोहा -- मथत दूध डोरीनिर्ते, दंड फिरत बहु बार राग द्वेप अज्ञानसे, जीव भ्रमत संसार ॥ ११ ॥

उत्थानिका—यहाँपर शिष्य प्रवता है कि स्वामिन् ! माना कि मोक्षमें जीव सुखी रहता है। किन्तु संसारमें भी यदि जीव सुखी रहे तो क्या हानि है?—काएण कि संसारके सभी प्राणी सुखको ही प्राप्त करना चाहते हैं। जब जीव संसारमें ही सुखी हो बाँय तो फिर संसारमें ऐसी क्या खराची है? जिससे कि सेत पुरुष उसके नाग्न करनेके लिये प्रयन्त किया करते हैं? इस विषयमें आचार्य कहते हैं—है वस्स—

विपद्भवपदावर्ते, पदिकेवातिबाह्यते । यावत्तावद्भवन्त्यन्याः, प्रचुरा विपदः पुरः ॥ १२ ॥

अन्वय---यावत् भवपदावर्ते पदिका इव विषत् अतिवाद्यते तावत् अन्याः प्रचुताः विषदः पुरः भवन्ति ।

द्रीका—पावदविवाहते अविकायते । प्रेयेते । कासी, विश्तत् सहज्वारोसमानसामन्द्रकामामापदां मध्ये या काप्येका विवक्षिता आपत् । जीवेनित लेका । क्र, भवपदावर्ते भवः संसारः पदावर्तं इत् पाइचारयप्रयीयन्त्रम्य मृत्योसूरः परिवर्तमानस्वात् । केत्, परिवर्तमानस्वात् । केत्, परिवर्तमानस्वात् । केत्, परिवर्तमानस्वात् । केत्, परिवर्तमानस्वात् । क्रा, कर्मा अपूर्वाः प्रद्याः वास्त्रवात् । क्रा, अन्य अपूर्वाः प्रद्याः विवदः आपदः प्रते अप्रे जीवस्य यदि । क्रा इ.व. क्रालिकस्थिति सामर्थितुर्व्या । अर्त्तो जामीहि दुःखैकनिवस्यनविविविक्तिस्य स्वतः आपतः अवस्थितः अवस्थितः अवस्थितः ।

पुनः शिष्य एवार । न सर्वे विषदनाः सर्वपदोष्टि दृश्यन्त इति ममवन् समस्ता अपि वंसारिणो न विपक्तिस्ताः दिन्त समीकाणामपि नेम्नांत्रितृ दृश्यमानसादित्यवाहः----

अर्थ—जनतरु संसारस्पी पैस्ते चलाये जानेवाले घटीयत्रमें एक पटली सरीखी एक विपत्ति सुगतकर तय की जाती है कि उसी समय इसरी इसरी बहुतसी विपत्तियाँ सामने था उपस्थित हो जाती हैं।

विश्वतार्थ — पैरते चटाये जानेवाटे घटीयंत्रको पदावर्त कहते हैं, वयों कि उसमें वार वार परिवर्तन होता रहता है। सो जैसे उसमें पैरते दवाई गई ठकड़ी या पटठीके व्यतीत हो जानेके बाद इसरी पटठियाँ आ उपस्थित होती हैं, उसी तरह संसारत्यी पदावर्तमें एक विश्वचिके बाद इसरी बहुतसी विपक्षिण जीवके सामने आ खड़ी होती हैं।

१ आफरिमकागत । २ एक यंत्रविशेष जो पानी उलीचनेके काम आता है ।

इसिटिये समझो कि एकमात्र दुःखोंकी कारणीमृत विपात्तियोंका कभी भी अन्तर न पड़नेके का यह संसार अवस्य ही विनाझ करने योग्य है। अर्थात् इसका अवस्य नाझ करना चाहिए॥१२

दोहा--जबतक एक विपद टले, अन्य विपद बहु आय । पदिका जिमि घटियंत्र में, बार बार भरमाय ॥ १२ ॥

फिर शिष्यका कहना है कि, भगवन् ! सभी संसारी तो विपत्तिवाठे नहीं हैं, बहुत सम्पत्तिवाठे भी दीखनेमें आते हैं। इसके विपयमें आचार्य कहते हैं:—

दुरुचेंनासुरक्ष्येण, नश्वरेण धनादिना । स्वस्थंमन्यो जनः कोऽपि, ज्वरवानिव सर्पिपा ॥ १३ ॥

अन्वयः--ज्वरवान् सर्पिम इव कोऽपि जनः दुरज्येन असुरक्ष्येण धनादिना स्वस्थंमन्यः (मनति)।

टीका — भवति । कोसी, जनो लोकः । किविशिष्टः, कोपि निर्विवेको न सर्वः । किविशिष्टे भवति, स्वरंपमन्यः स्वरंपमात्मानं मन्यमानो अहं सुखीति मन्यत हत्ययः । केन कृत्वा, धनादिना द्रव्यकामिन्यादीष्टवस्तुजातेन । किविशिष्टेन, दुर्ज्येन अपाययमुहज्वात् हुष्यांनावेशाच्च हुःखेन महता कष्टेवार्जित इति हुर्ज्येन तथा असुरवेण दुक्षाणेन यत्ततो रक्ष्यमाणस्यापयायस्यावस्यमानित्वात् । तथा नश्वरेण रक्ष्यमाणस्यापि विनाशकंपमवद्याश्वतेन । अत्र व्यवस्याद । ववरेरायदि । इव शक्दो यथाये वथा कोऽपि सुन्यो व्यवस्य जित्राचेन मतिविनाधात् सामक्यतार्थे स्वरंप पृत्रे प्रत्ये प्रतिश्चेन स्वरंपम्यो भवति । निरामयमात्मानं मन्यते ततो झुद्धयस्य हुरुराज्येद्रस्वणमह्युरद्धयादिना दुःखमेव स्थात् । उक्तं च—

'' अर्थस्योपार्वने दुःखमिनतस्य च रक्षणे । आये दुःखं व्यये दुःखं, विगर्थे दुःखमाजनम् ॥ "

'' सूयोपि विनेया पृच्छति ।'' एवंविचां संवदां कथं न त्यजतीति । अनेन दुर्जाशादिपकारेण लोकद्वयेऽपि दुःखदा धनादिसंवत्तिं कथं मुख्यति न जना । कथिमति विस्तयगर्में प्रश्ने । अत्र गुरुस्तरमाहः—

अर्थ—जैसे कोई ज्वरवाला प्राणी घीको खाकर या चिपड़ कर अपनेको स्वस्य मानने लग जाय उसी प्रकार कोई एक मतुष्य मुश्किल्लेस पैदा किये गये तथा जिसकी रक्षा करना काठन है और फिर भी नष्ट हो जानेवाले हैं, ऐसे धन आदिकोंसे अपनेको सुखी मानने लग जाता है।

विश्वदार्थ — जैसे कोई एक मोला प्राणी जो सामज्वर (ठंड देकर आनेवाले खुखार) से पीड़ित होता है, वह बुद्धिक ठिकाने न रहनेसे — बुद्धिक विगड़ जानेसे घी को खाकर या उसकी मालिश कर लेनेसे अपने आपको स्वस्थ-नीरोग मानने लगता है, उसी तरह कोई कोई (सभी नहीं) धन, दौलत, खी आदिक जिनका कि उपाजित करना कठिन तथा जो रक्षा करते भी नष्ट हो जानेवाले हैं — ऐसे इष्ट वस्तुओंमें अपने आपको ' में सुखी हूँ ' ऐसा मानने लग जोते हैं, इसलिए समझो कि जो गुविकलोंसे पैदा किये जाते तथा जिनकी रक्षा वड़ी कठिनाईसे होती है, अथा जो नष्ट हो जाते, स्थिर नहीं रहते ऐसे धनादिकोंसे दुःख ही होता है, जैसा कि कहा है — ' अर्थस्योपार्जने दुःखं० "

' वनके कमानेमें हु:ख, उसकी रक्षा करनेमें हु:ख, उसके जानेमें हु:ख, इस तहर हर हाठतमें हु:खके कारणाल्प वनको विकार हो '।

> दोहा—कठिन प्राप्त संरक्ष्य ये, नश्वर धन पुत्रादि। इनसे सत्वकी कल्पना, जिमि धृतसे ज्वर व्याधि ॥ १३ ॥

द्रांका—फिर भी शिष्य पृष्ठता है कि चड़े आवर्षकी चात है कि जब ' मुक्किलेंसे कमायी जाती ' आदि हेतुओंसे पनादिक सम्पत्ति दोनों लोकोंमें हुःख देनेवाली है, तब ऐसी सम्पत्तिको लोग छोड़ क्यों नहीं देते ? आचार्य उत्तर देते हैं—

> विपत्तिमात्मनो मूटः, परेषामिव नेक्षते । दह्यमानस्रगाकीर्णवनान्तरतरुस्थवत् ॥ १४ ॥

अन्वय-दह्यमानमृगाकीर्णवनान्तरतस्त्यवत् गृहः परेषामिय आत्मनो निपत्तिं नेक्षते ।

रीका — नेवतं न परयति । कोऽदी, नृते घनावास्त्रया इतिविको कोकः । कां, विपत्ति चौरादिना कियमाणां धनापहाराचापदां । कस्य, आस्त्रनः स्वस्य । कैयामित्र, परेशानित्र । यथा इते विषदा लाक्त्यन्ति तयाहम्याक्रतस्य इति त विवेचयतीस्त्रयः । क इत्, प्रदक्षमानैः दावानञ्जालादिगिर्मासीक्रियसार्गिर्मृगैरिरिणादिगिराकीर्णस्य संकुलस्य वनस्यानदे सम्ये वर्तमानं । च तदं वृक्षमारुदो बनो यथा आस्त्रनो मृताणानित विपत्ति न परदति ।

पुनसह शिष्यः कुत एतदिति, मगवन् कस्मादेतीरिदं सिनिहिताया अपि विषदो अदर्शनं बनस्य । सुक्तहः । क्षोभादिति, वस्स धनादितार्थारिदुंसैवर्निनीमपापदं धनिनो न पश्यन्ति ॥ १४ ॥ वतः—

अर्थ—जिसमें अनेकों हिरण दावानककी ज्वालांसे जल रहे हैं, ऐसे बंगक्के मध्यमें बृक्षपुर बैठे हुए मनुष्पकी तरह यह संसारी प्राणी इसरोंकी तरह अपने उत्तर आनेवाली विपत्तियोंका स्याल नहीं करता है।

चिरादार्थ—धनादिकमें आसिक होनेके कारण जिसका विवेक नाष्ट हो गया है, ऐसा यह मूढ़ प्राणी चौरादिक्के द्वारा की जानेवाली, धनादिक जुराये जाने आदिल्स अपनी आपिक्को नहीं देखता है, क्यांत वह यह नहीं ख्याल करता कि जैसे इसरे लोग विपत्तियोंके शिकार होते हैं, उसी तरह में भी विपत्तियोंका शिकार कान सकता हूँ। इस वनमें लगी हुई यह आग इस वृक्षको और मुझे भी जला देगी। जैसे ज्वालानलकी ज्वालाओंसे जहाँ अनेक सगरण झुल्स रहे हैं,—जल रहे हैं, उसी वनके मच्यम मोजूद वृक्षके उसर चढ़ा हुआ आदमी यह जानता है कि ये तमाम मृगगण ही घवरा रहे हैं—जल्पटा रहे हैं, एवं मरते जा रहे हैं, इन विपत्तियोंका मुझसे कोई संबंध नहीं है, में तो सुरक्षित हूँ। विपत्तियोंका सम्बंध इसरोंकी सम्पत्तियोंसे हैं, मेरी सम्पत्तियोंसे नहीं है।। १४॥

दोहा-परकी विपदा देखता, अपनी देखे नाहि। जसते पशु जा वन विषे, जड़ तरुपर ठहराहि॥ १४॥ इसल्यि समझो कि एकमात्र दुःखोंकी कारणीश्वत विपत्तियोंका कभी भी अन्तर न पड़नेके कारण यह संसार अवस्य ही विनाश करने योग्य है। अर्थात् इसका अवस्य नाश करना चाहिए ॥ १२ ॥

> दोहा--जबतक एक विषद टले, अन्य विषद वहु आय । पदिका जिसि घटियंत्र में, वार वार भरमाय ॥ १२ ॥

फिर शिष्यका कहना है कि, भगवन् ! सभी संसारी तो विपात्तवाले नहीं हैं, बहुतसे सम्पत्तिवाले थी दीखनेमें आते हैं। इसके विषयमें आचार्य कहते हैं:—

> दुरुचेंनासुरक्ष्येण, नश्चरेण धनादिना । स्वस्थंमन्यो जनः कोऽपि, ज्वरवानिव सर्पिपा ॥ १३ ॥

अन्वयः---ज्वरवान् सर्पिषा इव कोऽपि जनः दुरुचेंन असुरक्ष्येण धनादिना रवस्थंमन्यः (भवति)।

टीका—मवित । कोसी, जनो लोकः । किंविशिष्टः, कोपि निर्विवेको न सर्वः । किंविशिष्टो मवित, स्वस्थमन्यः स्वस्थमात्मानं मन्यमानो अहं सुखीति मन्यत इत्यभैः । केन कृत्वा, धनादिना द्रव्यक्रामिन्यादीष्ट्वरस्तुजातेन । किंविशिष्टेन, दुर्ज्येन अपायबहुलत्वात् दुर्ध्यानविशाच्च दुःखेन महता कष्टेनाजित इति दुर्ज्येने तथा असुरस्येण दुस्त्राणेन यत्ततो रक्ष्यमाणस्याप्यत्यायस्यावस्यमावित्वात् । तथा नस्वरेण रक्ष्यमाणस्यापि विनाशस्यमयस्याश्वतेन । अत्र हृष्टान्तमाह । अवरेत्यादि । इव शन्दो यथाये चथा कोऽपि सुःषो व्वरवान् अतिशयेन मतेविनाशात् सामच्वरातैः सर्पिषा पृतेन पानाद्यप्युक्तेन स्वर्धमन्यो भविति । निरामयमात्मानं मन्यते ततो बुद्धयस्य दुरुपार्च्यदुरक्षणम्हगुरद्वयादिना दुःखमेव स्यात् । उक्तं च—

'' अर्थस्योपार्जने दुःखमर्जितस्य च रक्षणे । आये दुःखं व्यये दुःखं, धिगर्ये दुःखभाजनम् ॥ "

'' भूयोपि विनेयः पृच्छति । " एवंविचा सैपदां कर्य न त्यनतीति । अनेन दुर्श्तवादिप्रकारेण छोकद्वयेऽपि दुःखदा धनादिसंपत्ति कर्य मुखति न जनः । कथमिति विस्मयगर्भे प्रश्ने । अत्र गुरुरुत्तरमादः;—

अर्थ—जैसे कोई ज्वरवाला प्राणी घीको खाकर या चिपड़ कर अपनेको स्वस्य मानने लग जाय उसी प्रकार कोई एक मनुष्य मुख्किलसे पैदा किये गये तथा जिसकी रक्षा करना कठिन है और फिर भी नष्ट हो जानेवाले हैं, ऐसे धन आदिकोंसे अपनेको सुखी मानने लग जाता है।

विश्वदार्थ — जैसे कोई एक भोला प्राणी जो सामज्वर (ठंड देकर आनेवाले चुखार) से पीड़ित होता है, वह चुद्धिके ठिकाने न रहनेसे — चुद्धिके विगड़ जानेसे घी को खाकर या उसकी मालिश कर टेनेसे अपने आपको स्वस्थ-नीरोग मानने लगता है, उसी तरह कोई कोई (सभी नहीं) घन, दौलत, खी आदिक जिनका कि उपार्जित करना कठिन तथा जो रक्षा करते भी नष्ट हो जानेवाले हैं — ऐसे इप्ट वस्तुओं में अपने आपको 'में सुखी हूँ ' ऐसा मानने लग जाते हैं, इसलिए समझो कि जो मुक्किलों से पैदा किये जाते तथा जिनकी रक्षा चड़ी कठिनाईसे होती है, तथा जो नष्ट हो जाते, स्थिर नहीं रहते ऐसे धनादिकों से दुःख ही होता है, जैसा कि कहा है — "अर्थस्थोपार्जने दुःखं०"

अन्वय—यः अवित्तः श्रेयसे त्यागाय वित्तं संचिनोति स " स्नास्यामि " इति स्वयरीरं पङ्केन विकिम्पति ।

टीका — योऽविक्तो निर्धनः सन् संचिनोति सेवाकुरुयादिकर्मणोणार्जयति । किं तिहक्तं धनं । करमें, त्यागाय पात्रदानदेवपूजाद्यर्थं, त्यागायेत्यस्य देवपूजाद्युपलक्षणार्थस्वात् । करमें त्यागः, श्रेयसे अपूर्वपुण्याय पूर्वोपात्तपापक्षयाय । यस्य द्व चक्रवत्यदिरिवायत्नेन धनं रिध्यति स तेन श्रेयोऽये पात्रदानादिकमपि करोत्विति भाषः । स किं करोतीत्याह—विक्रिम्पति विलेपनं करोति । कोऽसी, सः । किं तत्स्वदारीरं । केन, पङ्केन व्हर्दमेन । कयं झृत्वेत्याह् । स्नास्यामीति । अयमर्थो, यथा कश्चिक्तमेलाङ्गं स्नानं करिष्यामीति पञ्चेन विलिम्पन्नसंगीति स्वाप्ते स्वप्यप्यामीति धनार्जने प्रवर्तमानोऽपि । न च शुद्धकृत्या कस्यपि धनार्जनं संभवति । तथा चोक्तम् —

" शुद्धैर्घनैविधर्यन्ते, सतामिष न संपदः । न हि स्वच्छास्तुभिः पूर्णोः कदाचिदिवि सिन्धवः" । । ४५॥ - आत्मानुशासनं । पुनराह शिष्यः भोगोपभोगायेति । भगवन् यद्येवं धनार्जनस्य पापप्रायतया दुःखहेतुर्वा धनं निद्यं तिर्धं धनं विना सुखहेतोभारेंगोपभोगस्यासम्बाद्यर्थे धनं स्यादिति प्रशस्य भविष्यति । भोगो भोजनताम्बूलादिः । उपभोगो वस्तुकाभिन्यादिः । भोगाश्चोपभोगाश्च भोगोपभोगं तस्म । अन्नाह गुष्ठः । तदिषि नेति न केवलं पुण्यहेतुत्या धनं प्रशस्यमिति यत्त्वयोक्तं तदुक्तरीत्या न स्यात् । किं तिर्धं भोगोपभोगार्यं तत्वाधनं प्रशस्यमिति । यत्त्वया संप्रत्युच्यते तदिष न स्यात् । कुत इति चेत्, यतः ॥ १६ ॥

अर्थ--जो निर्धन, पुण्यप्राप्ति होगी इसिल्ये दान करनेके लिये धन कमाता या जोड़ता है, वह 'स्नान कर कुँगा' ऐसे ख्यालसे अपने ग्ररीरको कीचड़से लपेटता है।

अर्थ—जो निर्धन ऐसा स्याल करे कि 'पात्रदान, देवपूजा आदि करनेसे नवीन पुण्यकी प्राप्ति और पूर्वोपार्जित पापकी हानि होगी, इसिल्ये पात्रदानादि करनेके िल्ये धन कमाना चाहिये', नौकरी खेती आदि करके धन कमाता है, समझना चाहिये कि वह 'स्नान कर डालूँगा' ऐसा विचार कर अपने शरीरको कीचड़से लिस करता है। खुलासा यह है कि जैसे कोई आदमी अपने निर्मल अंगको 'स्नान कर लूँगा' का स्थाल कर कीचड़से लिस कर डाले, तो वह वेवक्र्फ ही गिना जायगा। उसी तरह पापके द्वारा पहिले धन कमा लिया जाय, पीछे पात्रदानादिके पुण्यसे उसे नष्ट कर डालूँगा, ऐसे स्थालसे धनके कमानेमें लगा हुवा व्यक्ति भी समझना चाहिये। संस्कृतटीकामें यह भी लिखा हुआ है कि चक्तवर्ती आदिकोंकी तरह जिसको विना यल किये हुए धनकी प्राप्ति हो जाय तो वह उस धनसे कल्याणके लिये पात्रदानादिक करे तो करे।

फिर किसीको भी धनका उपार्जन, शुद्ध वृत्तिसे हो भी नहीं सकता जैसा कि श्रीगुणभद्रा-र्ष् आत्सानुशासनमें कहा है—"शुद्धेर्धनैविवर्धन्ते०"

ें। अर्थ—" सलुरुपोंकी सम्पत्तियाँ, गुद्ध ही गुद्ध धनसे बढ़ती हैं, यह बात नहीं है। देखो, जलसेही परिपूर्ण नहीं हुआ करती हैं। वर्षामें गँदले पानीसे भी भरी रहती हैं"॥१६॥

> दोहा—पुण्य हेतु दानादिको, निर्धन धन संचेय । स्नान हेतु निज तन कुधी, कीचड़से क्रिम्पेय ॥ १६ ॥

फिर भी शिष्यका कहना है कि हे भगवन्! क्या कारण है कि लोगोंको निकट आई हुई भी विपत्तियाँ दिखाई नहीं देती ? आचार्य जवाब देते हैं—'' लोभात् '' लोभके कारण, हे वत्स! धनादिककी गृद्धता-आसक्तिसे धनी लोग सामने आई हुई भी विपत्तिको नहीं देखते हैं, कारण कि—

आयुर्वृद्धिक्षयोत्कर्षहेतुं, कारुस्य निर्गमम् । वाञ्छतां धनिनामिष्टं, जीवितात्सुतरां धनम् ॥ १५॥

अन्वय---आयुर्वृद्धिक्षयोत्कर्षहेतुं कारुस्य निर्गमं वाञ्छतां धनिनां जीविताद् धनं सुतरां इष्टम्।

टीका- चर्तते । किं तद्धनं । किंविशिष्टं, इष्टमिमनं । कथं, सुतरां अतिशयेन करमान्जीविताधाणेभ्यः । केषां, धनिनां । किं कुर्वतां, बाञ्छतां । कं, निर्गमं अतिशयेन गमनं । कस्य, काळस्य । किविशिष्टं, आयुरित्यादि । आयुरिस्यादि । आयुरिस्यादि । आयुरिस्यादि । अयुरिस्यादे । स्वयम्यया जीवितक्ष्यकारणमपि धनष्टदिहेतुं काळनिर्गमं बाञ्छन्ति । अतौ धिग्धनम् एवंविधव्यामोहहेतुत्वात् ॥ १५ ॥

अज्ञाह शिष्यः । कयं घनं निन्धं येन पुण्यसुपार्ध्यते इति पात्रदानदेवार्चनादिकियायाः पुण्यहेतीर्धनं विना असमवात् पुण्यसाधनं घनं कयं निन्धं, कि तर्हि प्रशस्यमेवातौ ययाकयंचिद्धनमुपार्ध्यं पात्रादौ च नियुष्य मुखाय पुण्यमुगार्जनीयमित्यत्राह—

अर्थ—कालका व्यतीत होना, आयुके क्षयका कारण है और कालान्तरके माफिक व्याजके बढ़नेका कारण है, ऐसे कालके व्यतीत होनेको जो चाहते हैं, उन्हें समझना चाहिये कि अपने जीवनसे धन ज्यादा इष्ट है।

विश्राद्धि—मतलव यह है कि धनियोंको अपना जीवन उतना इष्ट नहीं, जितना कि धन। धनी चाहता है कि जितना काल बीत जायगा, उतनी ही व्याजकी आमदनी वढ़ जायगी। वह यह ख्याल नहीं करता कि जितना काल बीत जायगा उतनी ही मेरी आयु (जीवन) घट जायगी। वह धनवृद्धिके ख्यालमें जीवन (आयु) विनाशकी ओर तिनक भी लक्ष्य नहीं देता। इसलिये मालूम होता है कि धनियोंको जीवन (प्राणों) की अपेक्षा धन ज्यादा अच्छा लगता है। इस प्रकारके व्यामोहका कारण होनेसे धनको धिकार है। १५॥

दोहा—आयु क्षय धनवृद्धि को, कारण काल प्रमान । चाहत हैं धनवान धन, प्राणनिते अधिकान ॥ १५ ॥

यहाँपर शिप्यका कहना है कि धन जिससे पुण्यका उपार्जन किया जाता है, वह निंध-निंदाके योग्य क्यों है ? पात्रोंको दान देना, देवकी पूजा करना, आदि कियायें पुण्यकी कारण हैं, वे सव धनके विना हो नहीं सकती । इसिटिये पुण्यका साधनरूप धन निंध क्यों ? वह तो अशंसनीय ही है। इसिटिये जैसे बने वैसे धनको कमाकर पात्रादिकोंमें देकर सुखके टिये पुण्य संचय करना चाहिये। इस विषयमें आचार्य कहते हैं—

त्यागाय श्रेयसे विक्तमवित्तः संचिनोति यः । स्वशरीरं स पङ्केन, स्नास्यामीति विढिम्पति ॥ १६॥ अन्वय—यः अवितः श्रेयसे त्यागाय वित्तं संचिनोति स " स्नास्यामि " इति स्वरारीरं पङ्केन विकित्पति ।

दीका — योऽविक्तो निर्धनः सन् संचिनोति सेवाकृष्यादिकर्मणोपार्जयति । कि तिष्ट्रत्तं धनं । करमे, त्यागाय पात्रदानदेवपूबाद्यर्थे, त्यागायेत्यस्य देवपूबाद्युपलक्षणार्थस्वात् । करमे त्यागः, श्रेयसे अपूर्वपुण्याय पूर्वोपात्तपापक्षयाय । यस्य द्व चक्रवस्योदेरिवायस्नेन धनं सिध्यति स तेन श्रेयोऽयं पात्रदानादिकमपि करोत्विति भावः । स किं करोतीत्याह—विक्रिमिति विलेपन करोति । कोऽसी, सः । किं तत्स्वज्ञारीरं । केन, पङ्केन कर्दमेन । कयं कुत्वेत्याह् । स्नास्यामीति । अयमर्थो, यथा कश्चित्वमेलक्ष्यं पात्रदानादिपुण्येन क्षविष्यामीति ध्वत्रतेन विलम्पत्रसंमीक्षकारी तथा पापेन धनमुणर्क्य पात्रदानादिपुण्येन क्षविष्यामीति ध्वत्रतेन व्रवर्तमानोऽपि । न च शुद्धज्ञस्या कस्यापि धनार्षनं संमवति । तथा चोक्तम्—

" शुद्धैर्घनैविध्यंन्ते, सतामिष न संपदः । न हि स्वच्छाम्बुभिः पूर्णाः,कदाचिद्वि सिन्धवः"। ॥४५॥-आत्मानुशासनं । पुनराह शिष्यः भोगोपभोगायेति । भगवन् यद्येवं धनार्जनस्य पापप्रायतया दुःखहेतुर्वा धनं निद्यं तर्हि धनं विना सुखहेतोभोगोपभोगत्यार्धभवात्तदर्थे धनं स्यादिति प्रशस्यं भविष्यति । भोगो मोजनताम्बूलादिः । उपभोगो वस्तुक्ताभिन्यादिः । भोगाश्चोपभोगाश्च भोगोपभोगं तस्मै । अत्राह गुदः । तद्यि नेति न कैवर्छ पुण्यहेतुत्या धनं प्रशस्यमिति यत्त्वयोक्तं तदुक्तरीत्या न स्यात् । किं तर्हि भोगोपभोगार्थं तत्वाधनं प्रशस्यमिति । यत्त्वया संप्रशुक्यते तद्यि न स्यात् । कुत इति चेत्, यतः ॥ १६ ॥

अर्थ—जो निर्धन, पुण्यप्राप्ति होगी इसिल्ये दान करनेके लिये घन कमाता या जोड़ता है, वह 'स्नान कर दूँगा' ऐसे ख्याल्से अपने ग्रारीरको की चड़से लपेटता है।

अर्थ—जो निर्धन ऐसा ख्याल करे कि 'पात्रदान, देवपूजा आदि करनेसे नवीन पुण्यकी प्राप्ति और पूर्वोपार्जित पापकी हानि होगी, इसिल्ये पात्रदानादि करनेके लिये धन कमाना चाहिये', नौकरी खेती आदि करके धन कमाता है, समझना चाहिये कि वह 'स्नान कर डालूँगा' ऐसा विचार कर अपने शरीरको कीचड़से लिस करता है। खुलासा यह है कि जैसे कोई आदमी अपने निर्मल अंगको 'स्नान कर लूँगा' का ख्याल कर कीचड़से लिस कर डालें, तो वह वेवकुफ ही गिना जायगा। उसी तरह पापके द्वारा पिहले धन कमा लिया जाय, पीछे पात्रदानादिके पुण्यसे उसे नष्ट कर डालूँगा, ऐसे ख्यालसे धनके कमानेमें लगा हुवा व्यक्ति भी समझना चाहिये। संस्कृतिश्रामों यह भी लिखा हुआ है कि चक्रवर्ती आदिकोंकी तरह जिसको विना यल किये हुए धनकी प्राप्ति हो जाय तो वह उस धनसे कल्याणके लिये पात्रदानादिक करे तो करे।

' फिर किसीको भी धनका उपार्जन, शुद्ध वृत्तिसे हो भी नहीं सकता जैसा कि श्रीगुणभद्रा-चार्यने आत्मानुशासनमें कहा है—''शुद्धैधैनैविवर्धन्ते०''

अर्थ----" सत्पुरुषोंकी सम्पत्तियाँ, ग्रुद्ध ही ग्रुद्ध धनसे बढ़ती हैं, यह बात नहीं है। देखो, नदियाँ स्वच्छ जलसेही परिपूर्ण नहीं हुआ करती हैं। वर्षामें गँदले पानीसे भी भरी रहती हैं"॥१६॥

> दोहा—पुण्य हेतु दानादिको, निर्धन धन संचेय । स्नान हेतु निज्ञ तन कुधी, कीचड़से छिम्पेय ॥ १६ ॥

उत्थानिका—फिर शिष्य कहता है कि भगवन् ! धनके कमानेमें यदि ज्यादातर पा होता है, और दुःखका कारण होनेसे धन निंच है, तो धनके विना भोग और उपभोग भी नहं हो सकते, इसिटिये उनके टिये धन होना ही चाहिये, और इस तरह धन प्रशंसनीय माना जान चाहिये। इस विषयमें आचार्य कहते हैं कि 'यह बात भी नहीं है' अर्थात् 'पुण्यका कार होनेसे धन प्रशंसनीय है, 'यह जो तुमने कहा था, सो वैसा ख्याट कर धन कमाना उचित नहीं यह पहिले ही बताया जा चुका है। 'मोग और उपभोगके टिये धन साधन है, 'यह जो तुम कह रहे हो, सो भी बात नहीं है, यदि कहो क्यों ? तो उसके टिये कहते हैं:—

आरम्भे तापकान्त्राप्तावऽतृप्तिप्रतिपादकान् । अन्ते सुद्रस्यज्ञान्, कामान् कामं कः सेवते सुधीः ॥ १७ ॥

अन्वय----आरम्भे तापकान् प्राप्तौ अनृष्तिप्रतिपादकान् अन्ते सुदुस्त्यजान् कः सुधीः कामं सेवते ।

दीका-को, न कश्चित् सुपीविद्वान् सेवते इन्द्रियप्रणालिकयानुमविति । कान् , भोगोपभोगान् । उक्तं च---

" तदास्वे सुखसंत्रेषु, भावेष्वज्ञोऽनुरूपते । हितभेवानुरूपन्ते, प्रपरीक्ष्य परीक्षकाः ॥ "

क्यं भूतान् , तापकान् देहेन्द्रियमनःक्छेशहेत्न् । कः, आरम्भे उत्पन्त्युक्तमे । अन्नादिभोग्यद्रस्य-संपादनस्य कृष्यादिक्छेशबहुळताया सर्वजनसुप्रसिद्धत्वात्। तिहे सुन्यमानाः कामाः सुखहेतवः संभृतिसेध्यास्ते इत्याह्, प्राप्तावित्यादि । प्राप्तौ इन्द्रियेण संबन्धे सति अनुप्तेः सुनुष्णायाः प्रतिपादकान् दायकान् । उक्तं च—

'' अपि संकिर्वताः कामाः, संभवन्ति यथा यथा । तथा तथा मनुष्याणां, तृष्णा विश्वं विसपैति ॥"

तिह यथेष्टं भुक्तवा तृप्तेषु तेषु तृष्णा संतापः साम्यतीति सेन्यास्ते इस्याह । अन्ते सुदुस्यनान् भुक्तिप्रान्ते स्यवतुम-शक्यकान् । सुभुक्तेप्यपि तेषु मनोव्यतिषङ्गस्य दुनिवारवात् । उक्तं च—

" दहनस्तृणकाष्टसं चयैरिष, तृत्येदुदिधर्नदीशतैः । न तु कामसुखैः पुमानहो, वरुवता खल्छ कापि कर्मणः ॥ अपि च—किमपीद विषयमयं, विषमितिविषमं पुमानयं येन । प्रसममनुभ्य मनोभवे भवे नैव चेतयते ॥ "॥४४॥ —अनगारधर्मामृते षष्ठोऽभ्यायः ।

ननु तत्त्विदोपि भोगानभुक्तवन्तो न श्रूयन्त इति कामान् कः सेवते सुधीरित्युपदेशः कथं श्रद्धीयत इत्याह । काममिति । अत्यर्थे । इदमत्र तात्पर्थे चारित्रमोहोदयात् भोगान् त्यक्तुमक्षनुवन्नणि तत्त्वज्ञो हेयरूपतया कामान्यस्यन्नेव सेवते । मन्दीभवन्मोहोदयस्त् ज्ञानवैराग्यभावनया करणग्रामं सयग्य सङ्घा स्वकार्यायोत्सहंत एव । तथा चोक्तम् ।

इदं पल्लियं क्रिया करणमेतदेष क्रमो व्ययोयमनुषङ्गं फलिमदं दशेयं मम । अयं सुहृदयं द्विषन् प्रयतिदेश-कालाविमाविति प्रतिवित्तर्कयन् प्रयतते बुघो नेतरः।—ज्ञानार्णवे ए० ७६, —सागारधर्मामृते ए० १०।

किंच यद्थैमेतदेवंविषमिति । मद्र यत्कायस्थां वस्तुसंतापाशुपेतं कर्तुं प्राध्यंते तद्रस्यमाणस्थामित्यर्थः । स एवंविष इति पाठः तद्यया—

अर्थ—आरम्भमें सन्तापके कारण और प्राप्त होनेपर अनुप्तिके करनेवाले तथा अन्तमें जो बड़ी मुश्किलोंसे भी छोड़े नहीं जा सकते, ऐसे भोगोपभोगोंको कौन विद्वान—समझदार-ज्यादती व आसक्तिके साथ सेवन करेगा ?

विश्वादार्थ—मोगोपभोग कमाये जानेके समय, शरीर इंद्रिय और मनको हेश पहुँचानेका कारण होते हैं। यह सभी जन जानते हैं कि गेहूँ, चना, जौ आदि अन्नादिक मोग्य द्रव्योंके पैदा करनेके ित्ये खेती करनेमें एड़ीसे चोटीतक पसीना बहाना आदि दुःसह हेश हुआ करते हैं। कदाचित यह कहो कि भोगे जा रहे भोगोपभोग तो सुखके कारण होते हैं। इसके ित्ये यह कहना है कि इन्द्रियोंके द्वारा सम्बन्ध होनेपर ये अतृप्ति यानी बढ़ी हुई तृष्णाके कारण होते हैं, जैसा कि कहा गया है:—"अपि संकल्पिताः कामाः "

" ज्यों ज्यों संकल्पित किये हुए भोगोपभोग, प्राप्त होते जाते हैं, त्यों त्यों मनुष्योंकी तृष्णा वहती हुई सारे ठोकमें फैळती जाती है। मनुष्य चाहता है, कि अमुक मिछे। उसके मिछ जानेपर आगे बहता है, कि अमुक और मिछ जाय। उसके भी मिछ जानेपर मनुष्यकी तृष्णा विश्वके समस्त ही पदार्थोंको चाहने छग जाजी है कि वे सब ही मुझे मिछ जायँ। परंतु यदि यथेष्ट भोगोपभोगोंको भोगकर तृष्ठ हो जाय तब तो तृष्णारूपी सन्ताप ठण्डा पह जायगा! इसिछिये वे सेवन करने योग्य हैं। आचार्य कहते हैं कि वे भोग छेनेपर अन्तमें छोड़े नहीं जा सकते, अर्थात् उनके खूब भोग छेनेपर भी मनकी आसक्ति नहीं हटती," जैसा कि कहा भी है—

"यद्यपि अग्नि, घास, ठकड़ी आदिके ढेरसे तृप्त हो जाय। समुद्र, सैकड़ों नदियोंसे तृप्त हो जाय, परंतु वह पुरुष इच्छित सुखोंसे कभी भी तृप्त नहीं होता। अहो! कर्मींकी कोई ऐसी ही सामर्थ्य या जबर्दस्ती है।" और भी कहा है:—" किमपीदं विषयमयं०"

" अहो ! यह विषयमयी विष कैसा गजबका विष है कि जिसे जबर्दस्ती खाकर यह मनुष्य, भव भवमें नहीं चेत पाता है।"

इस तरह आरम्भ, मध्य और अन्तमें क्लेश-तृष्णा एवं आसक्तिके कारणश्रत इन मोगोपमोगोंको कौन बुद्धिमान् इंद्रियस्पी नलियोंसे अनुभवन करेगा ? कोई भी नहीं।

यहाँपर शिष्य शंका करता है कि तत्त्वज्ञानियोंने भोगोंको न भोगा हो यह वात सुननेमें नहीं आती है। अर्थात बड़े वड़े तत्त्वज्ञानियोंने भी भोगोंको मोगा है, यही प्रसिद्ध है। तब 'भोगोंको कौन बुद्धिमान्-तत्त्वज्ञानी सेवन करेगा ?' यह उपदेश कैसे मान्य किया जाय ? इस वातपर कैसे श्रद्धान किया जाय ? आचार्य जवाब देते हैं—िक हमने उपर्युक्त कथनके साथ "कामं अत्यर्थि०" आसक्तिके साथ फ्विपूर्वक यह भी विशेषण लगाया है। तात्पर्य यह है कि चारित्रमोहके उदयसे भोगोंको छोड़नेके लिये असमर्थ होते हुए भी तत्त्वज्ञानी पुरुष भोगोंको ल्याज्य-छोड़ने योग्य समझते हुए ही सेवन करते हैं। और जिसका मोहोदय मंद पड़ गया है, वह ज्ञान-वैराग्यकी भावनासे

[&]quot; दहनस्तृणकाष्ठसंचयैरपि० "

इन्द्रियोंको रोककर इन्द्रियोंको वंशेमें कर शीघ्र ही अपने (आत्म) कार्य करनेके लिये किटवद्ध-तयार हो जाता है—जैसा कि कहा गया है—" इदं फलमियं किया ?"

" यह फल है, यह किया है, यह करण है, यह कम-सिलसिला है, यह खर्च है, यह आनुषंगिक (ऊपरी) फल है, यह मेरी अवस्था है, यह मित्र है, यह शत्रु है, यह देश है, यह काल है, इन सब बातोंपर ज़्याल देते हुए बुद्धिमान पुरुष प्रयत्न किया करता है। मूर्छ ऐसा नहीं करता। " ॥ १७॥

दोहा—भोगार्जन दुःश्वद महा, भोगत तृष्णा वाढ़ । अंत त्यजत गुरु कप्ट हो, को दुध भोगत गाढ़ ॥ १७॥

उत्थानिका—आचार्य फिर और भी कहते हैं कि जिस (काय) के लिये सन कुछ (मोगोपमोगादि) किया जाता है वह (काय) तो महा अपवित्र है, जैसा कि आगे वताया जाता है—

भवन्ति प्राप्य यत्सङ्गमशुचीनि शुचीन्यपि। स कायः संततापायस्तदर्थं प्रार्थना वृथा ॥ १८॥

अन्वय---यत्सङ्गं प्राप्य शुवीन्यपि अशुचीनि भवन्ति स कायः संततापायः तद्र्यं प्रार्थना वृथा।

टीका—वर्तते । कोऽघौ, सः कायः शरीरं । किं विशिष्टः, संततापायः नित्यक्षुषाञ्चपतापः । स क इत्याह । यत्स येन कायेन सह संवन्धं प्राप्य लब्धा शुनीन्यपि पवित्राण्यपि भोजनवस्त्रादिवस्त्न्यशुनीनि भवन्ति यत्रश्चैवं तंतस्तद्र्ये तं संततापायं कायं शुनिवस्तुभिक्षकर्त्ते प्रार्थना आकाङ्क्षा वृथा व्यर्था केनचिदुपायेन निवारितेऽपि एकरिमञ्जपाये क्षणे क्षणे प्रापरापायोपनिवातसम्भवात ।

पुनरप्याह शिष्यः—तर्हि धनादिनाप्यात्मोपकारो भविष्यतीति । भगवन् संततापायतया कायस्य धनादिना यद्यपकारो न स्यात्ति बनादिनापि न केवलमनज्ञनादितपश्चरणेनेत्यपि शब्दार्थः । आत्मनो जीवनस्योपकारोऽनुग्रही भविष्यतीत्यर्थः । गुस्राह तन्नेति । यस्यया धनादिना आत्मोपकारभवनं संभाव्यंते तन्नास्ति ॥ १८॥ यसः—

अर्थ--जिसके सम्बंधको पाकर-जिसके साथ भिड़कर पवित्र भी पदार्थ अपवित्र हो जाते हैं, वह शरीर हमेशा अपायों, उपद्रवों, इंझटों, विघों, एवं विनाशों कर सिहत है, अतः उसको भोगोपभोगोंको चाहना व्यर्थ है!

विशादार्थ — जिस शरीरके साथ संबन्ध करके पवित्र एवं रमणीक मोजन वस्न आदिक पदार्थ अपवित्र घिनावने हो जाते हैं, ऐसा वह शरीर हमेशा भूख प्यास आदि संतापोंकर सिहत है। जब वह ऐसा है तब उसको पवित्र अच्छे अच्छे पदार्थोंसे मला बनानेके लिये आकांक्षा करना व्यर्थ है, कारण कि किसी उपायसे यदि उसका एकाध अपाय दूर भी किया जाय तो क्षण क्षणमें इसरे इसरे अपाय आ खड़े हो सकते हैं॥ १८॥

दोहा—ग्रुचि परार्थ भी संग ते, महा अग्रुचि हो जॉय । विघा करण नित काय हित, भोगेच्छा विफलाय ॥ १८॥ उत्थानिका—फिर भी शिष्यका कहना है कि भगवन कायके हमेशा अपायवाले होनेसे यदि धनादिकके द्वारा कायका उपकार नहीं हो सकता, तो आत्माका उपकार तो केवल उपवास आदि तपश्चर्यासे ही नहीं बल्कि धनादि पदार्थोंसे भी हो जायगा।

आचार्य उत्तर देते हुए बोले, ऐसी बात नहीं है । कारण कि— यज्ञीवस्योपकाराय, तद्देहस्यापकारकम्। यद्देहस्योपकाराय, तज्जीवस्यापकारकम्॥ १९॥

अन्वय---यत् जीवस्य उपकाराय तद् देहस्य अपकारकं भवति, तथा यद् देहस्य उपकाराय तत् जीवस्य अपकारकं भवति ।

द्योका—यदनशनादि त्योऽनुष्ठानं जीवस्य पूर्वार्व्वपायक्षपणिनवारणाभ्यासुवकाराय स्थाजहेहस्यापकारकं खान्यादिनिमित्तत्वात् । यत्पुनर्धनादिकं देहस्य भोजनाद्युपयोगेन क्षुष्ठाद्युपतापक्षयत्वाद्युवकाराय स्याज्ञक्वीवस्यो-पार्जनादौ पापजनकत्वेन दुर्गतिः दुःखिनिमित्तत्वाद्यकारकं स्यादत्तो जानीहि जीवस्य धनादिना नोपकारगन्योप्यस्ति धर्मस्येव तद्युपकारत्वात् ।

अत्राह शिष्यः । तर्हि कायस्योपकारश्चिन्त्यते इति भगवन् यद्येवं तर्हि " शरीरमाद्यं खल्ज धर्मिषाधनम् " इत्यभिधानात्तस्यापीयनिराषाय यस्तः क्रियते । न च कायस्यापायनिराष्ठो दुष्कर् इति वाच्यम् । ध्यानेन तस्यापि सुकारत्यात् ॥ १९ ॥ तथा चोक्तम्—

"यदात्रिकं फलं किंचित्फलमामुत्रिकं च यत्। एतस्य द्वितस्यापि, ध्यानमेवाश्रकारणम् ॥" २१७॥-तत्त्वानुशासनं झाणस्य ण दुछ्डं किंपीति च–अत्र गुरुः प्रतिषेषमाह तञ्जेति । ध्यानेन कायस्योपकारो न चिन्त्य इस्यर्थः ।

अर्थ—जो जीन (आत्मा) का उपकार करनेवाले होते हैं, वे शरीरका अपकार (बुरा) करनेवाले होते हैं। जो चीजें शरीरका हित या उपकार करनेवाली होती हैं, वही चीजें आत्माका अहित करनेवाली होती हैं।

विश्रादार्थ—देखो जो अनशनादि तपका अनुष्ठान करना, जीवके पुराने व नवीन पापोंको नाश करनेवाला होनेके कारण, जीवके लिये उपकारक है, उसकी मलाई करनेवाला है, वही आचरण या अनुष्ठान शरीरमें ग्लानि शियिलतादि भावोंको कर देता है, अतः उसके लिये अपकारक है, उसे कष्ट व हानि पहुँचानेवाला है। और जो धनादिक हैं, वे भोजनादिकके उपयोग द्वारा क्षुधादिक पीड़ाओंको दूर करनेमें सहायक होते हैं। अतः वे शरीरके उपकारक हैं। किन्तु उसी धनका अर्जनादिक पापपूर्वक होता है। व पापपूर्वक होनेसे दुर्गतिके दुःखोंकी प्राप्तिके लिये कारणीभृत है। अतः वह जीवका अहित या द्युरा करनेवाला है। इसलिये यह समझ स्वस्त्रों कि धनादिकके द्वारा जीवका लेशमात्र भी उपकार नहीं हो सकता। उसका उपकारक तो वर्म ही है। उसीका अनुष्ठान करना चाहिये।

१ रोगाद्यविनाशे ।

ď

दोहा--आतम हित जो करत है, सो तनको उपकार। जो तनका हित करत है, सो जियको अपकार॥ १९॥

अथवा कायका हित सोचा जाता है, अर्थात् कायके द्वारा होनेवाले उपकारका विचार किया जाता है। देखिये कहा जाता है कि "शरीरमाधं खलु धर्मसाधनम्" शरीर धर्म-सेवनका पुख्य साधन-सहारा है। इतना ही नहीं, उसमें यदि रोगादिक हो जाते हैं, तो उनके दूर करनेके लिये प्रयत्न भी किये जाते हैं। कायके रोगादिक अपायोंका दूर किया जाना मुश्किल भी नहीं है, कारण कि ध्यानके द्वारा वह (रोगादिकका दूर किया जाना) आसानीसे कर दिया जाता है, जैसा कि तत्त्वानुशासनेमें कहा है—" यत्रादिकं फलं किंचित् ?। १९॥

जो इस ठोक सम्बन्धी फल हैं, या जो कुछ परलोक सम्बन्धी फल हैं, उन दोनों ही फलोंका प्रधान कारण ध्यान ही है। मतलव यह है कि "झाणस्स ण दुलहं किं पीति च" ध्यानके लिये कोई मी व कुछ भी दुर्लम नहीं है, ध्यानसे सब कुछ मिल सकता है। इस विषयमें आचार्य निषेध करते हैं, कि ध्यानके द्वारा कायका उपकार नहीं चिंतवन करना चाहिये—

इतश्चिन्तामणिर्दिंग्य, इतः पिण्याकखण्डकम् । ध्यानेन चेदुभे स्रभ्ये, क्वाद्रियन्तां विवेकिनः ॥ २० ॥

अन्वय—इतो दिव्यश्चिन्तामणिः इतश्च पिण्याकाखण्डकम् चेत् ध्यानेन उमे रुग्ये, विवेकिनः वव आद्रियन्ताम् ।

टीका — अस्ति । कोऽसी, चिन्तामणिः चिनिततार्थप्रदो स्त्विशेषः । किविशिष्टो, दिव्यो देवेनाथिष्ठितः । क, इत अस्मिन्नेकस्मिन् पक्षे । इतश्चान्यस्मिन् पक्षे विष्याकखण्डकं कुत्तितमस्यं वा खलखण्डकमस्ति । एते च उमे द्वे अपि यद्द ध्यानेन लभ्येते । अवस्यं लभ्येते तिहें कथय क द्वयोमेध्ये कतरस्मिन्नेकस्मिन् विवेकिनो लोभन्छेदविचारचतुरा आद्रियन्ताम् आदरं कुर्येन्तु । तदेहिकफलामिलाषं त्यक्तवा आमुधिकफलसिद्धपर्यमेवासमा ध्यातव्यः । उक्तं च —

'' यद्धवानं रीद्रमार्त्ते वा, यदेहिकक्तलार्यिनाम्। तस्मादेतस्परित्यव्य, घर्म्ये क्रुक्कृपुपास्यताम्''॥२२०॥-वत्यानुशावनं अर्थेवमुद्धोवितश्रद्धानो विनेयः पुच्छति, स आत्मा कीदृश इति यो गुष्मामिध्यतिव्यतयोपदिष्टः पुमान् स किं---स्वरूप इत्यर्थः। गुरुराह----॥ २०॥

अर्थ—इसी ध्यानसे दिव्य चिंतामणि मिल सकता है, इसीसे खलीके हुकड़े भी मिल सकते हैं। जब कि ध्यानके द्वारा दोनों मिल सकते हैं, तब विवेकी लोग किस ओर आदरख़द्धि करेंगे ?

विश्वादार्थ—एक तरफ तो देवाधिष्ठित चिन्तित अर्थको देनेवाठा चिन्तामणि और दूसरी ओर चुरा व छोटासा खठीका दुकड़ा, ये दोनों भी यदि ध्यानके द्वारा अवश्य मिल जाते हैं, तो कहो, दोनोंभंसे किसकी ओर विवेकी छोमके नाश करनेके विचार करनेमें चतुर—पुरुष आदर करेंगे? इसिलेये इसिलेक सम्बन्धी फल कायकी नीरोगता आदिकी अभिलायाको छोड़कर परलोक सम्बन्धी फलकी सिद्धि-प्राप्तिके लिये ही आत्माका ध्यान करना चाहिये। कहा भी है कि, "यद ध्यान रीद्रमार्त वा०"॥ २०॥

" वह सब रौद्रध्यान या आर्त्तध्यान है, जो इसलोक सम्बन्धी फलके चाहनेवालेको होता है। इसलिये रौद्र व आर्त्तध्यानको छोड़कर धर्म्यध्यान व ग्रुक्लध्यानकी उपासना करनी चाहिये।"

> दोहा—इत चिंतामणि है महत, उत खल ट्रक असार। ध्यान उभय यदि देत बुध, किसको मानत सार॥ २०॥

अब वह शिष्य जिसे समझाये जानेसे श्रद्धान उत्पन्न हो रहा है, पूछता है कि जिसे आपने ध्यान करने योग्य रूपसे बतलाया है वह कैसा है? उस आत्माका क्या स्वरूप है? आचार्य कहते हैं—

स्वसंवेदनसुःथक्तरततुमात्रो निरत्ययः । अत्यन्तसौख्यवानात्मा, छोकास्रोकविस्रोकनः ॥ २१ ॥

अन्वय—आत्मा, छोकालोकविलोकनः अत्यन्तसौक्यवान् तनुमात्रः निरत्ययः स्वसंवेदन-सुव्यक्तः (अस्ति)।

टीका—अस्ति । कोऽपौ, आत्मा । कीडगः, लेकालोकविलोकनः लोको जीवाद्याकीर्णमाकाशं ततोऽन्यदलोका तौ विशेषेण अशेषविशेषनिष्ठतैया लोकते प्रयति जानाति । एतेन "शानश्रस्यं चैतन्यमात्रमात्माः" इति सांख्यमतं बुद्धचादिगुणीज्ञ्ञतः पुमानिति यौगमतं च प्रत्युक्तम् । प्रति-वस्तश्च नैस्तर्यवादो बौद्धानाम् । पुनः कीटशः, अत्यन्त-सीख्यवान् अनन्तमुखस्वभावः। एतेन साख्यगैगतन्त्रं प्रत्याहतम्। पुनरि कीटशःतुमात्रः स्वोपाच्चरीरविमाणः। एतेन स्थापकं सटकणिकामात्रं चात्मानं सदस्तौ प्रत्याख्यातौ। पुनरि कीटशः, नित्ययः इत्यस्त्रतया नित्यः। एतेन समीदि-मरणपर्यम्तं जीवं प्रतिजानौनश्चावीको निराकृतः। नतु प्रमाणिकदे वस्तुन्येवं गुणवादः श्रेयान्न चात्मनस्त्यथा प्रमाण-रिग्रंक्तमस्तीत्यारेकायाभाह—स्वयंवेदनसुक्ष्यक्त इति ।

अत्राह शिष्यः यथेवमात्मास्ति तस्योपास्तिः कथमिति स्पष्टम् आत्मसेवोपायप्रक्षोऽयम् । गुरुराह्— ॥ २१ ॥

अर्थ—आत्मा लोक और अलोकको देखने जाननेवाला, अत्यन्त अनन्त सुख स्वभाववाला, शरीरप्रमाण, नित्य, स्वसंवेदनसे तथा कहे हुए गुणोंसे योगिजनों द्वारा अच्छी तरह अनुभवेंसे आया हुआ है।

विश्वादार्थ — जीवादिक द्रव्योंसे थिरे हुए आकाशको लोक और उससे अन्य सिर्फ आकाशको अलोक कहते हैं। उन दोनोंको विशेषस्पसे उनके समस्त विशेषोंमें रहते हुए जो जाने देखनेवाला है, वह आत्मा है। ऐसा कहनेसे "ज्ञानश्रन्यचैतन्यमात्रमात्मा" ज्ञानसे श्रन्य सिर्फ चैतन्यमात्र ही आत्मा है, ऐसा सांख्यदर्शन तथा "बुद्धचादिगुणोज्झितः पुमान् " बुद्धि सुख दुःखादि गुणोंसे रहित पुरुष है, ऐसा योगदर्शन खंडित हुआ समझना चाहिये। और वौद्धोंका

१ परिपूर्णतया । २ अभावात्मको मोक्षः । ३ वृबन् । ४ प्रमाणेन । ५ मुख्येन ।

'नैसहस्यबाद' भी खंडित हो गया। फिर चतलाया गया है कि 'वह आत्मा सौख्यवान् अनंत सुखस्वमाववाला है'। ऐसा कहनेसे सांख्य और योगदर्शन खंडित हो गया। फिर कहा गया कि वह "तनुमात्रः" 'अपने द्वारा ग्रहण किये गये शरीर—परिमाणवाला है'। ऐसा कहनेसे जो लोग कहते हैं कि 'आत्मा व्यापक है 'अथवा 'आत्मा वृटकणिका मात्र है ' उनका खंडन हो गया। फिर वह आत्मा "निरत्ययः" 'द्रव्यरूपसे नित्य है' ऐसा कहनेसे, जो चार्वाक यह कहता या कि "गर्भसे लगाकर मरणपर्यन्त ही जीव रहता है," उसका खण्डन हो गया।

यहाँपर किसीकी यह शंका है कि प्रमाणसिद्ध वस्तुका ही गुण-गान करना उचित है। परन्तु आत्मामें प्रमाणसिद्धता ही नहीं है—वह किसी प्रमाणसे सिद्ध नहीं है। तब उत्तर कहे हुए विशेषणोंसे किसका और केसा गुणवाद ? ऐसी शंका होनेपर आचार्य कहते हैं कि वह आत्मा 'स्वसंवेदन—सुन्यक्त है, 'स्वसंवेदन नामक प्रमाणके द्वारा अच्छी तरह प्रगट है। ''वेदलं वेदकलं च० "

" जो योगीको खुदका वेदाल व खुदके द्वारा वेदकल होता है, वस, वही स्वसंवेदन कहलाता है। अर्थात् उसीको आत्माका अनुमव व दर्शन कहते हैं। अर्थात् जहाँ आत्मा ही ज्ञेय और आत्मा ही ज्ञायक होता है, चैतन्यकी उस परिणितको स्वसंवेदन प्रमाण कहते हैं। उसीको आत्मानुभव व आत्मदर्शन भी कहते हैं। इस प्रकारके स्वस्वपवाले स्वसंवेदन—प्रत्यक्ष (जो कि सव प्रमाणोंमें सुख्य या अग्रणी प्रमाण है) से तथा कहे हुए गुणोंसे सम्पूर्णतया प्रकट वह आत्मा योगिजनोंको एक-देश विश्वदस्त्यसे अनुभवमें आता है।"॥ २१॥

दोहा—निज अनुभवसे प्रगट है, नित्य शरीर-प्रमान। लोकालोक निहारता, आतम अति सुखवान॥ २१॥

यहाँपर शिष्य कहता है, कि यदि इस तरहका आत्मा है तो उसकी उपासना कैसे की जानी चाहिये ? इसमें आत्मध्यान या आत्मभावना करनेके उपायोंको पृछा गया है।

आचार्य कहते हैं--

संयम्य करणग्राममेकाग्रत्वेन चेतसः । आत्मानमात्मवान् ध्यायेदात्मनैवात्मनि स्थितम् ॥ २२ ॥

अन्वय-करणग्रामं संयम्य चेतसः एकाग्रत्वेन आत्मवान् आत्मिनि स्थितं आत्मानं आत्मना एव ध्यायेत् ।

टीका--ध्यायेत् । भावयेत् । कोऽसी, आसमवान् गुतेन्द्रियमना अध्वस्तस्वायत्तर्शत्तर्वा । कं, आसमनं ययोक्तस्वभावं पुरुषम् । केन, आसमनेव स्वयंवेदनरूपेण स्वेनेव तष्कृती करणान्तराभावास् । उक्तं च---

''स्वपरञ्चतिरूपत्वात्,न तस्य कारणान्तरम्। ततश्चिन्तां परित्यच्य,स्वर्धविन्त्यैव वेद्यताम्।।१६२॥''-वत्वातृशायनम् क तिष्ठन्तमित्याह्, आत्मनि स्थितं वस्तुतः सर्वभावानां त्वरूपमात्राधारत्वात् । किं कृत्वा ! संयस्य रूपादिन्यो व्याष्ट्रस्य । किं, करणत्रामं चक्षुरादीन्द्रियगणम् । केनोपायेन, एकाग्रत्वेन एकं विवक्षितमात्मानं तद द्रव्यं पर्यायोवा अर्ग प्राधानयेनालम्बनं विषयो यस्य अथवा एकं पूर्वापरपर्यायाऽतुरसूतं अग्रमात्मग्राह्यं यस्य तदेकात्रं तद्भावेन । कस्य, चेतसो मनतः । अयमर्यो यत्र क्कचिदात्मन्येव वा श्रुतवानावष्टम्मात् आलम्बितेन मनता इन्द्रियाणि निरुद्धय स्वात्मानं च भाविषद्धा तत्रैकाग्रतामाताव चिन्तां त्यक्तवा स्वयंवेदनेनेवात्मानमनुभवेत् । उक्तं च—

'' गहियं तं सुअणाणा, पञ्छा संवेयणेण माविजा। जो ण हु सुयमवलंबर, सो सुरुसर अप्पसन्मावो॥" —अनगरधर्मामृते तृतीयोऽभ्यायः ए० १७० ॥

तथाच " प्राच्यान्य विषयेभ्योऽहं, मां मयैव मिय स्थितम् । वोधात्मानं प्रथन्नोऽस्मि परमानन्दिनर्द्वेतम् "॥३२॥ ---समाधिशतकम्

अथाह शिष्यः आस्मोपासनया किमिति भगवत्रास्मसेवनया किं प्रयोजनं स्यात् फळप्रतिर्पेत्तिपूर्वकत्वास्प्रेक्षावस्प्र-वृत्तेरिति षृष्टः सन्नाचष्टे—॥ २२ ॥

अर्थ—मनकी एकाग्रतासे इन्द्रियोंको वशमें कर ध्वस्त-नष्ट कर दी है स्वच्छन्द वृत्ति जिसने ऐसा पुरुष अपनेमें ही स्थित आत्साको अपने ही द्वारा ध्यावे ।

विज्ञादार्थ — जिसने इन्द्रिय और मनको रोक िया है अथवा जिसने इन्द्रिय और मनकी उच्छृंखल एवं स्वैराचारलप प्रवृत्तिको ध्वस्त कर दिया है, ऐसा आत्मा, जिसका स्वरूप पहिले (नं० २१ के स्ठोकमें) बता आये हैं, आत्माको आत्मासे ही यानी स्वसंवेदनरूप प्रत्यक्ष ज्ञानसे ही ध्याचे, कारण कि स्वयं आत्मामें ही उसकी ज्ञिति (ज्ञान) होती है। उस ज्ञितिमें और कोई करणान्तर नहीं होते। जैसा कि तत्त्वानुशासनमें कहा है—"स्वपरज्ञिसरूपत्वात्०"

"वह आत्मा स्वपर-प्रतिमासस्वरूप है। वह स्वयं ही स्वयंको जानता है, और परको भी जानता है। उसमें उससे भिन्न अन्य करणोंकी आवश्यकता नहीं है। इसिक्ये चिन्ताको छोड़कर स्वसंवित्ति-स्वसं-वेदनके द्वारा ही उसे जानो, जो कि खुद में ही स्थित है। कारण कि परमार्थसे सभी पदार्थ स्वरूपमें ही रहा करते हैं। इसके क्यि उचित है कि मनको एकाग्र कर चक्कु आदिक इंद्रियोंकी अपने अपने विषयों (रूप आदिकों) से व्यावृत्ति करे।" यहाँपर संस्कृतटीकाकार पंडित आशाधरजीने 'एकाग्र ' शब्दके दो अर्थ प्रदर्शित किये हैं। एक कहिये विवक्षित कोई एक आत्मा, अथवा कोई एक द्रव्य, अथवा पर्याय, वही है अग्र कहिये प्रधानतासे आलम्बनभृत विषय जिसका ऐसे मनको कहेंगे 'एकाग्र '। अथवा एक कहिये प्रवीपर पर्यायोंमें अविच्छिन्न रूपसे प्रवर्तमान द्रव्य-आत्मा वही है, अग्र-आत्मग्रह्म जिसका ऐसे मनको एकाग्र कहेंगे।

सारांश यह है कि जहाँ कहीं अथवा आत्मामें ही श्रुतज्ञानके सहारेसे भावनायुक्त हुए मनके हारा इंद्रियोंको रोक कर स्वात्माकी भावना कर उसीमें एकाग्रताको प्राप्त कर चिन्ताको छोड़ कर स्वसंवेदनके ही द्वारा आत्माका अनुभव करे। जैसा कि कहा भी है—" गहियं तं सुअणाणा०"

अर्थ--- " उस (आत्मा) को श्रुतज्ञानके द्वारा जानकर पीछे संवेदन (स्वसंवेदन) में अनुभव करे । जो श्रुतज्ञानका आठम्बन नहीं ठेता वह आत्मस्वभावके विषयमें गड़बड़ा जाता है ।

१ अविच्छिन्नं प्रवर्तमानं । २ फल ऋन ।

इसी तरह यह भी भावना करे कि जैसा कि पूज्यपादस्वामीक समाधिशतकों कहा है—'' प्राच्याव्य विषयेभ्योऽहं० "

"मैं इंद्रियोंके विषयोंसे अपनेको हटाकर अपनेमें स्थित ज्ञानस्वरूप एवं परमानन्दमयी आपको अपने ही द्वारा प्राप्त हुवा हूँ।"॥ २२॥

दोहा — मनको कर एकाम्र, सब इंद्रियविषय मिटाय। आतमजानी आत्ममें, निजको निजसे ध्याय॥ २२॥

यहाँपर शिष्यका कहना है कि भगवन् ! आत्मासे अथवा आत्माकी उपासना करनेसे क्या मतलब सधेगा—क्या फल मिलेगा ? क्योंकि विचारवानोंकी प्रवृत्ति तो फलज्ञानपूर्वक हुआ करती है, इस प्रकार पृक्ते जानेपर आचार्य जवाब देते हैं—

> अज्ञानोपास्तिरज्ञानं, ज्ञानं ज्ञानिसमाश्रयः। ददाति यज्ञ यस्यास्ति, सुप्रसिद्धमिदं वचः॥ २३॥

अन्वय-अज्ञानोपास्तिरज्ञानं, ज्ञानिसमाश्रयः ज्ञानं ददाति "यतु तस्य अस्ति तदेव ददाति " इदं सुप्रासिद्धं वचः ।

टीका—ददावि । कासी, अज्ञानस्य देहादेर्मूदभ्रान्तः संदिष्मगुर्वदिवी उपस्तिः सेवा । कि ? अज्ञानं, मोहभ्रमसेदेहरूराणं । तथा ददावि । कासी, ज्ञानिनः स्वभावस्यात्मनो ज्ञानसंपन्नगुर्वदिवी समाश्रयः । अनन्यपर्या सेवनं । कि ? ज्ञानं स्वार्थादवोषम् । उक्तं च,—

" ज्ञानमेव फलं ज्ञाने, नतु स्थाध्यमनश्वरम्। अही मोहस्य माहात्म्य, मन्यदध्यत्र मृग्यते"॥१७५॥—आत्मानुज्ञासनम् को अत्र दृष्टान्त इत्याह् यदित्यादि। ददातीत्यत्रापि योज्यं 'तुरवधारणे। तेनायमधंः संपद्यते। वद्येव यस्य स्वाधीनं विद्यते स सेटयमानं तदेव ददातीत्येतद्वास्यं लोके सुप्रतीतमतो मद्र ज्ञानिनपुणस्य समुक्लंभितस्ववरिववेक-च्योतिरज्ञस्यातमानमात्मनि -तेन्यश्च। अत्राप्याह् शिष्य:—ज्ञानिनोध्यात्मस्वस्थस्य किं मनतीति निध्वत्रयोग्यपेश्वया स्वातमध्यानफलप्रश्लोषम्। गुरुराह—॥ २३॥

अर्थ--अज्ञान कहिये ज्ञानसे रहित शरीरादिककी सेवा अज्ञानको देती है, और ज्ञानी पुरुषोंकी सेवा ज्ञानको देती है। यह बात प्रसिद्ध है, कि जिसके पास जो कुछ होता है, वह उसी को देता है, इसरी चीज जो उसके पास है नहीं, वह इसरेको कहाँसे देगा ?

विशादार्थ—अज्ञान शब्दके दो अर्थ हैं, एक तो ज्ञान रहित शरीरादिक और इसरे मिथ्याज्ञान (मोह-भ्रांति-संदेह) बाठे मृह-भ्रांत तथा संदिग्ध गुरु आदिक। सो इनकी उपासना या सेवा अज्ञान तथा मोह-भ्रमव संदेह रुक्षणात्मक मिथ्याज्ञानको देती है। और ज्ञानी कहिये, ज्ञानस्वभाव आत्मा तथा आत्मज्ञानसम्पन्न गुरुओंकी तत्परताके साथ सेवा, स्वार्थावयोधस्त्य ज्ञानको देती है। जैसा कि श्रीगुणभद्राचार्यने आत्मानुशासनमें कहा है—" ज्ञानमेव फलं ज्ञाने०"

"ज्ञान होनेका फल, प्रशंसनीय एवं अविनाशी ज्ञानका होना ही है, यह निश्चयसे जानो । अहो ! यह मोहका ही माहात्म्य है, जो इसमें ज्ञानको छोड़ कुछ और ही फल हूँहा जाता है। ज्ञानात्मासे ज्ञानकी ही प्राप्ति होना न्याय है। इसलिये हे भद्र ! ज्ञानीकी उपासना करके प्रगट हुई है स्वपर विवेकरूपी ज्योति जिसको ऐसा आत्मा, आत्माके द्वारा आत्मामें ही सेवनीय है, अनन्यशरण होकर भावना करनेके योग्य है। "॥ २३॥

दोहा—अञ्चयक्ति अञ्चानको, ज्ञानभक्ति दे ज्ञान। लोकोक्ती जो जो धरे, करे सो ताको दान॥ २३॥

यहाँ फिर मी शिष्य कहता है कि अध्यात्मठीन ज्ञानीको क्या फल मिलता है ? इसमें स्वात्मनिष्ठ योगीकी अपेक्षासे स्वात्मध्यानका फल पूछा गया है । आचार्य कहते हैं—

> परीपहाद्यविज्ञानादास्त्रवस्य निरोधिनी । जायतेऽध्यात्मयोगेन, कर्मणामाञ्च निर्जरा ॥ २४ ॥

अन्चय---अध्यात्मयोगेन परीपहाद्यविज्ञानात् आस्रवस्य निरोधिनी कर्मणां निर्जरा आज्ञ जायते ।

टीका—जायते भवति । कामी, निर्करा एकदेशेन छंक्षयो विस्ठेष इत्यर्थः । केषां, कर्मणां सिद्धयोग्य-पेक्षयाऽञ्चभानां च शुभानां साध्ययोग्यपेक्षया त्वसद्वेद्यादीनाम् । कथमाशु सद्यः । केन, अध्यात्मयोगेन अध्यात्म-न्यात्मनः प्रणिधानेन, किं केवला, नेत्याद्द-निरोधिनी प्रतिषेधगुक्ता । कत्यास्वत्यगमनत्य कर्मणामित्यत्रापि योज्यम् । कृत इत्याद्द, परीषद्दाणां सुधादिदुःस्वभेदानामादिशान्दादेवादिकृतोपसर्गवाधानां चाविज्ञानादस्वेदनात् । तथा चोक्तम्—

''यस्य पुण्यं च पापं च, निष्फलं गलति स्वथम् । स योगी तस्य निर्वाणं, न तस्य पुनरास्ववः''।।२४६॥-आत्मानुगासनम्

" तथा ह्यचरमाङ्गस्य, ध्यानमभ्यस्यतः सदा । निर्जेश संवरश्चास्य सकलाञ्चमकर्मणाम् " ॥२२५॥-तत्वानुशासनम्

" आत्मदेहान्तरज्ञानजनिताल्हादनिर्वृतः। तपसा दुःग्कृतं घोरं भुज्ञानोऽपि न ग्वियते " ॥३४॥—समाधिशतकम्

एत्स व्यवहारमयादुच्यते । कुत इत्याशङ्कायां पुनराचार्यं एवाह—सा खल्ज कर्मणो भवति तस्य संवन्यस्तदा कथिति । वस्य आकर्णय खल्ज यसमारक्षा एकदेशेन विन्छगल्खणा निर्कार कर्मणः चित्रक्षामान्यानुविधायिपुहल-परिणामरूपस्य द्रव्यकर्मणः संवन्धिनी संभवति द्रव्ययोरेव संयोगपूर्वविभागसंभवात् । तस्य च द्रव्यकर्मणस्तदा योगिनः स्वरूपमात्रावस्थानकाले संवन्धः प्रत्यासचिरात्मना सह । कथं केन सयोगादिप्रकारेण संभविति १ स्ट्रमिक्षकया समीक्षस्य न कथमपि संभवतीत्यर्थः । यदा खल्बात्मेव ध्यानं ध्येयं च स्याचदा सर्वात्मनाप्यात्मनः पगद्रव्याद् व्यावृत्य स्वरूपमात्रावस्थितत्वात्कारं द्रव्यान्तरेण संवन्धः स्थाचस्य द्विष्ठत्वात् । न चेत्रसंवारिणो न संभवतीति वाच्यं । संस्थानसात्रावस्थानकालय्यानस्थानस्य व्यापाने सुक्तरस्य स्थाणोत्कृष्टगुक्तलेश्यासंस्कारावेशवशाचावनमात्रकर्मणात्वन्यव्यवहरणात् । तथा चोक्तं परमागमे—

" सीलेविं संपत्तो, णिरुद्धणिरसेवआसवो जीवो । वम्मस्यविष्यमुको, गरकोगो केवली होदि " ॥ ६५ ॥ —-गोम्मटसारः जीवकांड । श्रूयतां चास्यैवार्थस्य संग्रहरुक्रोकः ॥ २४ ॥

अर्थ---आत्मामें आत्माके चिंतवनस्य ध्यानसे परीपहादिकका अनुभव न होनेसे कर्मोके आगमनको रोकनेवाठी कर्म-निर्जरा शीघ्र होती हैं। विश्वादार्थ — अध्यात्मयोगसे आत्मामं आत्माका ही ध्यान करनेसे कमोंकी निर्जरा (एकदेशसे कमोंका क्षय हो जाना, कमोंका सम्वंध छूट जाना) हो जाती है। उसमें भी जो सिद्धयोगी हैं, उनके तो अशुभ तथा शुभ दोनों ही प्रकारोंके कमोंकी निर्जरा होजाती है। और जो साध्ययोगी हैं, उनके असातावेदनीय आदि अशुभ कमोंकी निर्जरा होती है। कोरी निर्जरा होती हो सो वात नहीं है। अपि तु भृख-प्यास आदि हु:खके भेदों (परीषहों) की तथा देवादिकोंके द्वारा किये गये उपसर्गोंकी वाधाको अनुभवमें न ठानेसे कमोंके आगमन (आसव) को रोक देनेवाठी निर्जरा भी होती है। जैसा कि कहा भी है:—" यस्य गुण्यं च पापं च०"

" जिसके पुण्य और पापकर्म, विना फल दिये स्वयमेव (अपने आप) गल जाते हैं—खिर जाते हैं, वही योगी है। उसको निर्वाण हो जाता है। उसके फिर नवीन कर्मोंका आगमन नहीं होता। इस क्लोक द्वारा पुण्य-पापलप दोनों ही प्रकारके कर्मोंकी निर्जरा होना वतलाया है। और भी तत्त्वानुशासनमें कहा है—" तथा खचरमांगस्य०"

चरमशरिरिके ध्यानका फल कह देनेके वाद आचार्य अचरमशरिरिके ध्यानका फल बतलाते हुए कहते हैं—कि जो सदा ही ध्यानका अग्यास करनेवाला है, परन्तु जो अचरमशरिरी है, (तक्क्वमोक्षगामी नहीं है) ऐसे ध्याताको सम्पूर्ण अशुभ कर्मोंकी निर्जरा व संबर होता है। अर्थात वह प्राचीन एवं नवीन समस्त अशुभ कर्मोंका संवर तथा निर्जरा करता है। इस खलेक द्वारा पापरूप कर्मोंकी ही निर्जरा व उनका संवर होना बतलाया गया है। और भी प्रज्यपादरवामीने समाधिशतकों कहा है—"आसदेहान्तरज्ञान०"

" आत्मा व शरीरके विवेक (भेद) ज्ञानसे पैदा हुए आनन्दसे परिपूर्ण (युक्त) योगी, तपस्याके द्वारा भयंकर उपसर्गों व वोर परीपहोंको भोगते हुए भी खेद-खिन्न नहीं होते हैं।

यह सब व्यवहारनयसे कहा जाता है कि बन्धवाठे कर्मोंकी निर्जरा होती है, परमार्थसे नहीं । कदाचित तुम कहो कि ऐसा क्यों ? आचार्य कहते हैं कि वत्स ! सुनो, क्योंकि एकदेशसे सम्बन्ध छुटजाना, इसीको निर्जरा कहते हैं । वह निर्जरा कर्मकी (चित्सामान्यके साथ अन्वयव्यतिरेक रखनेवाठे पुद्रठोंके परिणामस्प द्रव्यकर्मकी) हो सकती है । क्योंकि संयोगपूर्वक विभाग दो द्रव्योंमें ही वन सकता है । अब जरा बारीक दृष्टिसे विचार करो कि उस समय जब कि योगी पुरुष स्वरूपमात्रमें अवस्थान कर रहा है, उस समय द्रव्यकर्मका आत्माके साथ संयोगादि सम्बन्धोंमेंसे कौनसा सम्बन्ध हो सकता है ? मतलब यह है कि किसी तरहका सम्बन्ध नहीं वन सकता । जिस समय आत्मा ही ध्यान और ध्येय हो जाता है, उस समय हर तरहसे आत्मा परद्रव्योंसे

1

व्यावृत होकर केवछस्वरूपमें ही स्थित हो जाता है। तव उसका दूसरे द्रव्यसे सम्बन्ध कैसा ? क्यों कि सम्बन्ध तो दोमें रहा करता है, एकमें नहीं होता है।

यह भी नहीं कहना कि इस तरहकी अवस्था संसारीजीवभें नहीं पाई जाती। कारण कि संसारस्वी समुद्र-तटके निकटवर्ती अयोगीजनोंका मुक्तात्माओंकी तरह पंच हस्व अक्षर (अ इ उ ऋ छ) के बोठनेमं जितना काठ ठगता है, उतने काठतक वैसा (निर्वन्ध-बन्ध रहित) रहना सम्भव है।

शीघ ही जिनके समस्त कर्मोंका नाश होनेवाला है, ऐसे जीवों (चौदहवें गुणस्थानवाले जीवों) में भी उत्कृष्ट शुक्कलेश्याके संस्कारके वशसे उतनी देर (पंच हस्व अक्षर बोलनेमें जितना समय लगता है, उतने समय) तक कर्मपरतन्त्रताका व्यवहार होता है जैसा कि परमागममें कहा गया है—" सीलेसिं संपत्तो॰"

" जो शीठोंके ईशल (स्वामिल) को प्राप्त हो गया है, जिसके समस्त आस्नव रूक गये हैं, तथा जो कर्मस्वी धूठीसे रहित हो गया है, वह गतयोग-अयोगकेवठी होता है "॥ २४॥

दोहा—परिषहादि अनुभव विना, आतम-ध्यान प्रताप। शीद्य ससंवर निर्जरा, होत कर्मकी आप॥ २४॥ उपरित्जिखित अर्थको बत्जानेवाला और भी श्लोक सुनो—

कटस्य कर्त्ताहमिति, संबन्धः स्याद् द्वयोईयोः । ध्यानं ध्येयं यदात्मैव, संबन्धः कीदशस्तदा ॥ २५ ॥

अन्वय-अहं कटस्य कर्ता इति द्वयोर्द्वयोः संबन्धः स्यात्, यदा आत्मैव ध्यानं ध्येयं तदा कीदशः संबन्धः ।

दीका—स्याद् मनेत् । कोसी, संबन्धः द्रव्याविना प्रत्यास्तिः । कथोईयोः कथंचिद् भिन्नयोः पदार्थयोः इति अनेन छोकप्रसिद्धेन प्रकारेण कथिमिति यथाहमस्मि । कीहराः, कर्त्ता निर्माता । कस्य, कटस्य वंशदलानां जलादि-प्रतिबन्धाद्यर्थस्य परिणामस्य । एवं संबन्धस्य द्विष्ठतां प्रदर्शं प्रकृतेव्यतिरेकमाह । ध्यानमित्यादि ध्यायते येन ध्यायति वा यस्तद्व्यानं ध्यातिक्रियां प्रति करणं कर्त्तां वा । उक्तं च—

" घ्यायते येन तद्धवानं, यो ध्यायति स एव वा । यत्र वा ध्यायते यद्दा, घ्यातिर्वा ध्यानमिष्यते १ " ॥६७॥ —तस्वानुत्रासनम्

ध्यायत इति ध्येयं वा ध्यातिक्रियया ध्याय्यं । यदा यस्मिन्नात्मनः परमात्मना सहैकीकरणकाले आत्मैव विन्मात्रमेव स्यात्तदा कीहर्शः संयोगादिप्रकारः संयत्यो द्रव्यकर्मणा सहात्मनः स्यात् येन जायतेध्यात्मयोगेन कर्मणामाञ्च निर्जरित परमार्थतः कथ्यते । अत्राह शिष्यः—तिर्धे कथं अप्रतिपक्षक्ष्य मोक्ष इति भगवन् यद्यात्मकर्मवत्वरते, द्रव्ययोग्ध्यात्मयोगेन विश्लेष्यः कियते । तिर्धे कंनोपायप्रकारेण त्योवेन्यः परस्परप्रदेशानुप्रवेशलक्षणः संस्लेपः स्यात् । तत्पूर्वकाबाद्विस्त्रपर्यवानन्त-सुखहेतुत्वेन योगिभिः प्रार्थनीयत्वात् । गुस्तह्—॥ २५ ॥

अर्थ:—" में चटाईका वनानेवाला हूँ " इस तरह जुदा जुदा दो पदार्थेमिं सम्बन्ध हुआ करता है। जहाँ आत्मा ही ध्यान, ध्याता (ध्यान करनेवाला)और ध्येय हो जाता है, वहा सम्बंध कैसा ?

चिश्रदार्थ—लोकप्रसिद्ध तरीका तो यही है, कि किसी तरह भिन्न (खुदा खुदा) दो पदार्थों में संवन्य हुआ करता है। वैसे वाँसकी खपचियों से जलादिक के संवंधसे चननेवाली चटाईका में कर्ती हूँ—वनानेवाला हूँ। यहाँ वनानेवाला 'में' खुदा हूँ और वननेवाली 'चटाई ' खुदी है। तभी उनमें 'कर्तृकर्म 'नामका सम्वंध हुआ करता है। इस प्रकार सम्वंध दिष्ठ (दो में रहनेवाला) हुआ करता है। इसको चतलाकर, प्रकृतमें वह चात (भिन्नता) चिलकुल भी नहीं है इसको दिखलाते हैं।

"ध्यायते येन, ध्यायति वा यस्तद् ध्यानं, ध्यातिकियां प्रति करणं कर्ता च "-जिसके द्वारा ध्यान किया जाय अर्थात् जो ध्यान करनेमें करण हो-साधन हो उसे ध्यान कहते हैं। तथा जो ध्याता है-ध्यानका कर्ता है, उसे भी ध्यान कहते हैं, जैसा कि कहा भी है-" ध्यायते थेन तद् ध्यानं०"

" जो ध्येत्र चिन्तायाम्" धातुका व्याप्य हो अर्थात् जो ध्याया जावे, उसे ध्येय कहते हैं। परंतु जब आत्माका परमात्माके साथ एकिकरण होनेके समय, आत्मा ही चिन्मात्र हो जाता है, तब संयोगादिक प्रकारोंभेंसे द्रव्यकर्मोंके साथ आत्माका कौनसे प्रकारका सम्बन्ध होगा ? जिससे कि "अध्यात्मयोगसे कर्मोंकी शीघ्र निर्जरा हो जाती है" यह बात परमार्थसे कही जावे। भावार्थ यह है कि आत्मासे कर्मोंका सम्बन्ध छूट जाना निर्जरा कहठाती है। परंतु जब उद्घष्ट अदैत ध्यानावस्थामें किसी भी प्रकार कर्मका सम्बन्ध नहीं, तब छूटना किसका ? इसिटिये सिद्धयोगी कहो या गतयोगी अथवा अयोगकेनठी कहो, उनमें कर्मोंकी निर्जरा होती है, यह कहना व्यवहारनयसे ही है, परमार्थसे नहीं।"॥२५॥

दोहा— ' कटका मैं कर्तार हूँ " यह है द्विष्ठ सम्बन्ध । आप हि ध्याता ध्येय जहूँ, कैसे भिन्न सम्बन्ध ॥ २५ ॥

यहाँपर शिष्यका कहना है कि भगवन ! यदि आत्मद्रन्य और कर्मद्रव्यका अध्यात्मयोगके चलसे बन्ध न होना बतलाया जाता है, तो फिर किस प्रकारसे उन दोनोंमें (आत्मा और कर्मस्प पुद्गल द्रन्योंमें) परस्पर एकके प्रदेशोंमें इसरेके प्रदेशोंका मिलजाना रूप चंघ होगा ? क्योंकि बन्धाभाव तो बंधपूर्वक ही होगा । और बंधका प्रतिपक्षी, संपूर्ण कर्मोंकी विभुक्तावस्या रूप मोक्ष भी जीवको कैसे वन सकेगा ? जो कि अविच्लित अविनाशी सुस्वका कारण होनेसे योगियोंके द्वारा प्रार्थनीय हुआ करता है ? आचार्य कहते हैं—

वध्यते मुच्यते जीवः, सममो निर्ममः क्रमात्। तस्मात्सर्वश्रयत्नेन, निर्ममत्वे विचिन्तयेत्॥ २६॥ अन्वय—सममः निर्ममः जीयः क्रमात् वध्यते सुच्यते तस्मात् सर्वप्रयत्नेन निर्ममत्वं विचिन्तयेत् ।

दीकाः :--- ममेत्यन्वयं ममेदिमित्यिभिनिवेशार्थमन्ययानामनेकार्थत्वात् तेन सममो ममेदिमित्यिभिनिवेशाविष्टो अहमस्येत्यभिनिवेशाविष्टश्लेष्वर्षात् जीवः कर्मभिर्वय्यते । तथा चोक्तम् ---

" न कर्मबहुळं जगलचलनातमकं कर्म्म वा न नैककरणानिवान चिदचिद्विषो बन्बङ्कत । यदैक्यमुपयोगसूः समुग्रयाति रागादिभिः, स एव किल केवलं भवति बन्बहेतुर्नृणाम् "॥२॥—नाटकसमयसारकल्शाः बन्धोऽधिकारः । —अनगारधर्मामृते षष्ठोऽप्यायः ५० २०५

यदेवयसुपयोगभूरसुपरी अतिरागादिभिः स एव किल केवलं भवति वन्बहेतुनृंगम्। तथा स एव जीवो निर्ममस्तदिपरीतस्तैर्भुन्यत इति यथासंख्येन योजनार्थे कमादिरसुपात्ताम्। उक्तं च—

" अकिचनोऽहमित्यास्व, त्रैलोक्याधिपतिर्भवेः । योगिगम्यं तव प्रोक्तं, रहस्यं परमासमनः " ॥ ११० ॥ —आत्मानुशासनम्

अथवा "रागी बधाति कर्माणि, वीतरागो विमुखति । जीवो जिनोपदेशोऽयं, संदेपाद्वत्यमोक्षयोः"।। ——ज्ञानार्णवः पृ० २४२

यसादेर्वं तसात्सर्वप्रयत्नेन व्रतायवधानेन मनोवाङ्गायप्रणिधानेन वा निर्ममत्वं विचिन्तयेत् ।

मत्तः कायादयो भिन्नास्तेभ्योऽहमपि तस्ततः । नाहमेषा किमप्यरिम ममाप्येते न किचन ॥ इत्यादि तज्ञानभावनया मुमुष्ठिविरोषेण भावयेत् । उक्तं च---

"निवृत्तिं भावयेद्याविज्ञर्थृतिं तदभावतः । न वृत्तिर्ने निवृत्तिक्ष, तदेव पदमव्ययं" ॥ २३६ ॥-आरमानुशासनम् अथाह् शिष्यः — कयं नु तदिति निर्ममस्वविचिन्तनोपायप्रश्रोऽयम् अथ गुरुस्तत्प्रक्षियां मम विश्वस्य का स्पृहेति यावदुपदिशति —॥ २६ ॥

अर्थ--" ममतावाला जीव वँधता है और ममता रहित जीव मुक्त होता है। इसलिये हर तरहसे प्ररी कोशिशके साथ निर्ममताका ही ख्याल रक्खे।"

चिश्रादार्थ — अन्ययोंके अनेक अर्थ होते हैं, इसिटिये, "मम" इस अन्ययका अर्थ 'अभिनिवेश 'है, इसिटिये 'समम ' किह्ये 'मेरा यह है ' इस प्रकारके अभिनिवेशवाटा जीव भी कमोंसे बँधता है। उपलक्षणसे यह भी अर्थ टगा टेना कि 'मैं इसका हूँ ' ऐसे अभिनिवेशवाटा जीव भी बँधता है, जैसा कि अमृतचन्द्राचार्यने समयसारकटशर्में कहा है—

" न कर्मबहुलं जगन्न० "

अर्थ—न तो कर्मस्कंथोंसे भरा हुआ यह जगत् बंधका कारण है, और न हठन-चठनादिस्प किया ही, न इन्द्रियाँ कारण हैं, और न चेतन अचेतन पदार्थोंका विनाश करना ही बन्धका कारण है। किन्तु जो उपयोगस्त्पी जमीन रागादिकोंके साथ एकताको प्राप्त होती है, सिर्फ वही अर्थात् जीवोंका रागादिक सहित उपयोग ही बन्धका कारण है। यदि वही जीव निर्मम-रागादि रहित-उपयोगवाठा हो जाय, तो कर्मोंसे छूट जाता है। कहा भी है कि—"अर्किचनोऽह०" मैं अकिंचन हूँ, मेरा कुछ भी नहीं, बस ऐसे होकर बैठे रहो और तीन छोकके स्वामी हो जाओ । यह तुन्हें बड़े योगियोंके द्वारा जाने जा सकने छायक परमात्माका रहस्य बतछा दिया है।

और भी कहा है—"रागी चध्नाति कर्माणि०" रागी जीव कर्मोंको बाँधता है। रागादिसे रहित हुआ जीव मुक्त हो जाता है। वस यही संक्षेपमें वंध मोक्ष विषयक जिनेन्द्रका उपदेश है। जब कि ऐसा है, तब हरएक प्रयत्नसे ब्रतादिकोंमें चित्त टगाकर अथवा मन, वचन, कायकी सावधानतासे निर्ममताका ही ख्याट रखना चाहिये "मत्तः कायादयो मिन्नास्०"

" शरीरादिक, मुझसे भिन्न हैं, मैं भी परमार्थसे इनसे भिन्न हूँ, न मैं इनका कुछ हूँ, न मेरे ही ये कुछ हैं।" इत्यादिक श्रुतज्ञानकी भावनासे मुमुक्षुको भावना करनी चाहिये। आत्मानुशासनमें गुणभद्रस्वामीने कहा है।—" निवृत्तिं भावयेत्०"

जबतक मुक्ति नहीं हुई तबतक परद्रव्योंसे हटनेकी भावना करे। जब उसका अभाव हो जायगा, तब प्रवृत्ति ही न रहेगी। वस वही अविनाशी पद जानो।। २६॥

> दोहा—मोही वॉधत कर्मको, निर्मोही छुट जाय। यातें गाढ़ प्रयत्नसे, निर्ममता उपजाय॥२६॥

यहाँपर शिष्य कहता है कि इसमें निर्ममता कैसे होने ? इसमें निर्ममताके चिंतवन करनेके उपायोंका सवाल किया गया है। अब आचार्य उसकी प्रक्तियाको "एकोऽहं निर्ममः•" से प्रारंभ कर "मम विज्ञस्य का स्पृहा•" तकके रलोकों द्वारा बतलाते हैं।

एकोऽहं निर्मेमः शुद्धो, ज्ञानी योगीन्द्रगोचरः । बाह्याः संयोगजा भावा, मत्तः सर्वेऽपि सर्वथा ॥ २७ ॥

अन्वय-अहं एकः निर्ममः शुद्धः ज्ञानी योगीन्द्रगोचरः संयोगजाः सर्वेऽपि भावा मत्तः सर्वथा बाह्याः ।

दोका — द्रव्यार्थिकनयादेकः पूर्वापरपर्यायानुस्यूतो निर्ममो ममेदमहमस्वेस्यमिनिवेशसून्यः ग्रद्धः श्रद्धन्यादेनः शद् द्रव्यमावकमेनिर्मुक्तो ज्ञानी स्वपरप्रकाशस्वमायो योगीन्द्रगोचरोऽनन्तपर्यायविविश्वस्या केवलिनां श्रद्धोपयोगमात्रम् यत्वन श्रुतकेलिनां च संवेद्योहमात्मास्मि ये तु संयोगाद् द्रव्यकमेसंबन्धायाता मया संद संवान्धं प्राप्ता मावा देहादयस्ते सर्वेऽपि मत्तो मत्सकाशास्त्रवया सर्वेण द्रव्यादिप्रकारेण बाह्या मिन्नाः सन्ति पुनर्भावक एवं विमृशित संयोगात्किमिति देहादिपिः संवन्धादेहिनां कि फलं स्यादिस्वयः। तत्र स्वयमेव समावत्ते,—॥ २७॥

अर्थ—में एक, ममता रहित, शुद्ध, ज्ञानी, योगीन्द्रोंके द्वारा जानने ठायक हूँ । संयोगजन्य जितने भी देहादिक पदार्थ हैं, वे मुझसे सर्वधा वाहिरी-भिन्न हैं ।

विश्रादार्थ—मैं द्रव्यार्थिकनयसे एक हूँ, पूर्वापर पर्यायोंमें अन्वित हूँ । निर्मम हूँ-' मेरा यह '' मैं इसका ' ऐसे अभिनिवेशसे रहित हूँ । शुद्ध हूँ, शुद्धनयकी अपेक्षासे, द्रव्यकमें भावकमेंसे

रहित हूँ, केविलियोंके द्वारा तो अनन्त पर्याय सिहत रूपसे और श्रुतकेविलियोंके द्वारा शुद्धोपयोगमात्र-रूपसे जाननेमें आसकने ठायक हूँ, ऐसा मैं आत्मा हूँ, और जो संयोगसे-द्रव्यकमोंके संम्बन्धसे प्राप्त हुए देहादिक पर्याय हैं, वे सभी मुझसे हर तरहसे (द्रव्यसे गुणसे पर्यायसे) विन्कुल 'छुदे हैं ॥२७॥

दोहा—में इक निर्मम ग्रुद्ध हूँ, ज्ञानी योगीगम्य । कर्मोदयसे भाव सव, मोते पूर्ण अगम्य ॥ २७ ॥

फिर भावना करनेवाला सोचता है कि देहादिकके सम्बंधसे प्राणियोंको क्या होता है ? क्या फल मिलता है ? उसी समय वह स्वयं ही समाधान भी करता है कि—

> दुःखसंदोहभागित्वं, संयोगादिह देहिनाम् । त्यज्ञाम्येनं ततः सर्वं, मनोवाकायकर्मभिः ॥ २८ ॥

अन्वय—इह संयोगात् देहिनां दुःखसंदोहभागित्वं ततः एनं सर्वमनोवावकायकर्मभिः त्यजामि ।

दीका — दुःखानां संदोहः समूहस्तद्भागित्व देहिनामिह संसारे संयोगाहेहादिसंबन्धाद्भवेत । यतथैवं तत एनं संयोगं सर्वं निःशेषं त्यनामि । केः क्रियमाणं, मनोवाकायकर्ममिर्मनोवर्गणाद्यालम्बनेसस्मप्रदेशपरिस्यन्दैस्तरेव त्यनामि । अयमभिप्रायो मनोवाकायान्यतिपरिस्यन्दमानानासमप्रदेशान् भावतो निस्न्थामि । तद्भेदाभेदाभ्यासमूल्यना-सुखदुःखेकफलनिर्वृतिसंस्ययोः । तथा चोक्तम्—

"स्वबुद्धा यतु गृह्णीयात्कायवाक्चेतला त्रयम् । संसारस्तावदेतेषां, तदाभ्यासेन निर्वृतिः" ॥ ६२॥ -समाधिशतकम्

पुनः स एवं विमृश्वति—पुद्रलेन किल संयोगस्तदपेक्षा मरणादयस्तद्वयथाः कथं परिह्रियन्त इति । पुद्रलेन देहासमा मूर्त्तद्रव्यण सह किल आगमे श्रूयमाणो जीवस्य संबन्धोऽस्ति तदपेक्षाश्च पुद्रलसंयोगनिमित्ते मरणाद्यो मृत्युरोगादयः संमवन्ति । तद्यथा मरणाद्यः संमवन्ति । मरणादि संवन्धिन्योनाधा । कथं, केन भावनाप्रकारेण मया परिह्यिन्ते। तद्यभिमवः कथं निवार्यत इत्यर्थः । स्वयमेव समाधत्ते; —॥ २८॥

अर्थ—इस संसारमें देहादिकके सम्बंधसे प्राणियोंको दुःख-समृह भोगना पड़ता है—अनन्त क्षेत्र भोगने पड़ते हैं, इसिलेये इस समस्त सम्बंधको जो कि मन, वचन, कायकी िक्रयासे हुआ करते हैं, मनसे, वचनसे, कायसे छोड़ता हूँ। अभिप्राय यह है कि मन, वचन, कायका आलम्बन लेकर चंचल होनेवाले आल्माके प्रदेशोंको भावोंसे रोकता हूँ। 'आत्मा, मन वचन कायसे भिन्न है, ' इस प्रकारके अभ्याससे सुखल्प एक फलवाले मोक्षकी प्राप्ति होती है, और मन, वचन, कायसे आत्मा अभिन्न है, इस प्रकारके अभ्याससे दुःखल्प एक फलवाले संसारकी प्राप्ति होती है, जैसा कि प्रज्यपादस्वामीने समाधिशतकमें कहा है—" स्वखुद्धचा यत्तु गृह्णियात् "

ं जबतक शरीर, वाणी, और मन इन तीनोंको ये 'स्व हैं-अपने हैं ' इस रूपमें गृहण करता रहता है। तबतक संसार होता है, और जब इनसे भेद-खुद्धि करनेका अभ्यास हो जाता है, तब मुक्ति होजाती है। "॥ २८॥ दोहा —प्राणी जा संयोगते, दुःख समूह लहात । याते मन षच काय गुत, हुँ तो सर्व तजात ॥ २८॥

फिर भावना करनेवाला सोचता है कि पुद्रल-शरीरादिकरूपी मूर्तद्रव्यके साय जैसा कि आगममें सुना जाता है, जीवका सम्बंध है। उस सम्बंधके कारण ही जीवका मरण व रोगादिक .होते हैं, तथा मरणादि सम्बंधी वाधायें भी होती हैं। तब इन्हें कैसे व किस भावनासे हटाया जावे? वह भावना करनेवाला स्वयं ही समाधान कर लेता है कि—

> न में मृत्युः कुतो भीतिर्न में व्याधिः कुतो व्यथा । नाहं वालो न चुद्धोहं, न युवैतानि पुद्गले ॥ २९ ॥

अन्वय—मे मृत्युर्न, कुतः भीतिः मे व्याधिर्न व्यया कुतः, व्यहं न वालः, नाहं वृद्धः, न युवा, एतानि पुद्रले ।

अर्थ—मेरी मृत्यु नही तव डर किसका ? मुझे व्याधि नहीं, तव पीड़ा कैसे ? न में वालक हूँ, न बुड़ा हूँ, न जवान हूँ । ये सब बातें (दशाएं) पुक्रलमें ही पाई जाती हैं।

विश्वादार्थ—"एकोहं निर्ममः शुद्धः" इत्यादिरूपसे जिसका स्वस्वरूप निश्चित हो गया है, ऐसा जो में हूँ, उसका प्राणत्यागरूप मरण नहीं हो सकता, कारण कि चिवशक्तिरूप माव-प्राणोंका कभी भी विछोह नहीं हो सकता। जब कि मेरा मरण नहीं, तब मरणके कारणस्त काले नाग आदिकोंसे मुझे भय क्यों ? अर्थात् में किसीसे भी नहीं डरता हूँ। इसी प्रकार वात, पित, कक्त आदिकी विषमताको व्याधि कहते हैं, और वह मुझे है नहीं, कारण कि बात आदिक द्वर्त-पदार्थिसे ही सम्बंध रखनेवाले हैं। जब ऐसा है, तब क्वर आदि विकारोंसे मुझे व्यथा तकलिफ कैसी? उसी तरह में बाल युद्ध आदि अवस्थाओंसे पैदा होनेवाले दुःखों-क्लेशोंसे में कैसे दुःखी हो सकता हूँ ? अच्छा यदि मृत्यु क्योरह आत्मामें नहीं होते, ता किसमें होते हैं ? इसका जवाव यह है कि 'एतानि पुद्धले' ये मृत्यु-व्याधि और वाल वृद्ध

आदि दशाएं पुदल-मृतं शरीर आदिकोंमें ही हो सकती हैं। कारण कि ये सब मृतिमान पदार्थोंके धर्म हैं। मैं तो अमृतं हूँ, मुझमें वे कदापि नहीं हो सकतीं।

दोहा—मरण रोग मोमें नहीं, तातें खदा निशंक ! बाल तहण नहिं दुद्ध हुँ, ये सब पुद्रल अंक ॥ २९॥

फिर भी भावना करनेवाठा खुद शंका करता है, कि यदि कही हुई नीतिके अनुसार मुझे भय आदि न होवे न सही परन्तु जो जन्मसे लगाकर अपनाई गई थी और मले ही जिन्हें मैंने भेद-भावनाके बलसे छोड़ दिया है, ऐसी देहादिक वस्तुएँ, चिरकालके अन्यस्त-अभेद संस्कारके वशसे पश्चात्ताप करनेवाली हो सकती हैं कि 'अपनी इन चीजोंको मैंने क्यों छोड़ दिया?'

भावक-भावना करनेवाला स्वयं ही प्रतिबोध हो सोचता है कि नहीं, ऐसा नहीं हो सकता है, कारण कि---

> भुक्तोज्झिता मुहुर्मोहान्मया सर्वेऽपि पुद्गताः। उच्छिष्टेष्विव तेष्वद्य, मम विज्ञस्य का स्पृहा॥ ३०॥

अन्वय—मोहात् सर्वेऽपि पुद्रलाः मया सुहुर्भुक्तोिज्ञिताः उच्छिष्टेप्यिव तेषु अद्य विज्ञस्य मम का स्पृहा ।

टीका—मोहादिवद्यावेशवशादनादिकाळं कर्मादिभावेनोगादाय सर्वे पुद्रला सया संसारिणा जीवेन वारं वारं पूर्वेमनुभूताः पश्चाच नीरसीकृत्य त्यक्ताः यतश्चेवं तत उच्छिष्टेष्वय मोजनगम्बमात्यादिषु स्वयं भुक्तवा त्यक्तेषु यथा लोकस्य तथा में संप्रति विश्वस्य तस्वशानगरिणतस्य तेषु फेळाकस्य तथा में संप्रति विश्वस्य तस्वशानगरिणतस्य तेषु फेळाकत्येषु पुद्रलेषु का स्पृद्धः न कदाचिद्रिष । वस्त ! स्वया मोक्षार्थिना निर्ममत्वं विचिन्तयिष्यम् । अत्राह शिष्यः । अथ कथं ते निवष्यन्त इति । अथेति प्रश्ने केन प्रकारेण पुद्रला जीवेन नियतसुपादीयन्ते इत्यर्थः । गुस्राह् —॥ ३० ॥

अर्थ—मोहसे मैंने समस्त ही पुद्धलोंको बार वार मोगा, और छोड़ा। मोग मोगकर छोड़ दिया। अब जुठनके लिए (मानिन्द) उन पदार्थीमें मेरी क्या चाहना हो सकती है ? अर्थात् उन मोगोंके प्रति मेरी चाहना-इच्छा ही नहीं है।

विश्वदार्थ—अविद्याके आवेशके वशसे अनादिकालसे ही मुद्र संसारीजीवने कर्म आदिके ल्पमें समस्त पुद्रलोंको बार बार पहिले मोगा, और पीछा उन्हें नीरस (कर्मलादि रहित) कर करके छोड़ दिया। जब ऐसा है, तब स्वयं मोगकर छोड़ दिये गये जुँउन-उच्छिष्ट मोजन, गन्ध, मालादिकोंमें जैसे लोगोंको फिर मोगनेकी स्पृहा नहीं होती, उसी तरह इस समय तत्त्वज्ञानसे विशिष्ट हुए मेरी उन छिनकी हुई रेंट (नाक) सरीखे पुद्रलोंमें क्या आमेलापा हो सकती है ? नहीं नहीं, हरगिज नहीं। भैया! जब कि तुम मोक्षार्थी हो तब तुम्हें निर्ममत्वकी ही भावना करनी चाहिये॥ ३०॥

९ फेलाभुक्तसमुज्सितम् । अ. । सुक्तवा त्यक्तमित्यर्थः ।

दोहा—सव पुतलको मोहसे, भोग भोगकर त्याग । मैं ज्ञानी करता नहीं, उस उच्छिप्टमें राग ॥ ३० ॥

यहाँपर शिष्य कहता है कि वे पुद्रल क्यों वेंध जाते हैं ? अर्घात् जीवके द्वारा पुद्रल क्यों और किस प्रकारसे हमेशा बन्यको प्राप्त होते रहते हैं ?

आचार्य उत्तर देते हुए कहते हैं:--

कर्म कर्महितावन्धि, जीवो जीवहितस्पृहः। स्वस्वप्रभावभूयस्त्वे, स्वार्थ को वा न वाञ्छति ॥ ३१ ॥

अन्वय-कर्म, कर्महितावन्धि, जीवः जीवहितस्पृहः स्वस्वप्रभावभूयस्त्वे स्वार्धे को वा न वाञ्छति।

" कस्यिव यिळा जीवो, कस्यिव कम्माइ हुति यिळयाइ । जीवस्य य कम्मस्य य, पुळाविरुद्धाइ वहराइ ॥ " इस्यभिधानात्त्वीयार्जितं वरुवत्कर्मे कर्मणः स्वस्येव हितमावधाति जीवस्यौद्धिकदिभावसुद्धाव्य नवनवकर्माधायकस्वेन स्वसंतानं पुष्णातीत्यर्थः । तथा चोक्तम्—

" जीवकृतं परिणामं, निमित्तमात्रं प्रयद्य युनरन्ये। स्वयमेव परिणमन्तेऽत्र युद्गलाः कर्ममावेन "॥ १२ ॥ —-पुरुषार्थविद्वरुपायः

''गरिणममानस्य चितश्चिदात्मकेः स्वयमिष स्वकैभीवैः। भवति हि निमित्तमात्रं, पौद्रलिकं कर्म तस्यापि''॥१३॥ —पुरुषार्थसिद्धयुपायः

तथा जीवः कालादिल्रव्या बलवानाया जीवस्य स्वस्यैव हितमनन्तमुखहेतुत्वेनोपकारकं मोधामाकाङ्खति । अत्र दृष्टान्तमाह-स्वस्वेत्यादि निजनिजमाहात्ययदृहुतरत्वे सति स्वायं स्वस्वोपकारक वरतु को न वञ्डलति सर्वोप्यमिल्य-तीत्यर्यः । ततो विद्धि कर्मालेष्टो जीवः कर्म सचिनोतीति । यतस्रैवं ततः—॥ ३१ ॥

अर्थ—कर्म कर्मका हित चाहते हैं। जीव जीवका हित चाहता है। सो ठीक ही है, अपने अपने प्रभावके बढ़नेपर कौन अपने स्वार्थको नहीं चाहता। अर्थात सब अपना प्रभाव बढ़ाते ही रहते हैं।

विद्यादार्थ—कभी जीव बलवान होता तो कभी कर्म बलवान हो जाते हैं। इस तरह जीव और कर्मींका पिहलेसे (अनादिसे) ही कैर चला आरहा है। ऐसा कहनेसे मतलब यह निकला कि पृत्तींपाजिंत बलवान द्रव्यकर्म, अपना यानी द्रव्यकर्मका हित करता है अर्थाव द्रव्यकर्म, जीवमें औदियक आदि भावोंको पैदा कर नये द्रव्यकर्मोंको ग्रहणकर अपनी संतानको पुष्ट किया करता है, जैसा कि अमृतचन्द्राचार्थने पुरुषार्थसिद्धचुपायमें कहा है—"जीवकृतं परिणामं०" "परिणममानस्य०"

जीवके द्वारा किये गये परिणाम जो कि निमित्तमात्र हैं, प्राप्त करके जीवसे विभिन्न पुद्रल, खुद ब-खुद कर्मरूप परिणम जाते हैं। और अपने चेतनात्मक परिणामोंसे स्वयं ही परिणमनेवाले

जीवके लिये वह पौद्गलिककर्म सिर्फ निमित्त वन जाता है । तथा कालादि लिब्बसे बलवान हुआ जीव अपने हितको अनन्त सुखका कारण होनेसे उपकार करनेवाले स्वात्मोपलिब्बिल्प मोक्षको चाहता है। यहाँपर एक स्वमावोक्ति कही जाती है कि "अपने अपने माहात्स्यके प्रभावके बढ़नेपर स्वार्थको अपनी अपनी अपनी उपकारक वस्तुको कौन नहीं चाहता ? सभी चाहते हैं ॥ ३१॥

Эę

दोहा—कर्म कर्महितकार है, जीव जीवहितकार। निज प्रभाव वल देखकर, को न स्वार्थ करतार॥ ३१॥

इसिल्यें समझो कि कमोंसे बँधा हुवा प्राणी कमोंका संचय किया करता है। जबिक ऐसा है तब—

परोपकृतिमुत्सुच्य, स्वोपकारपरो भव । उपकुर्वन्परस्याज्ञो, दृश्यमानस्य स्रोकवत् ॥ ३२ ॥

अन्वय—परोपकृतिं उत्सृज्य स्वोपकारपरो भव दृश्यमानस्य प्रस्य उपकुर्वन् अज्ञः लोकवत् ।

द्वीका—परस्य कर्मणो देहादेर्वा अविद्यावशात् क्रियमाणमुग्कारं विद्याभ्यासेन त्यक्त्वास्यानुग्रहप्रधानो भव त्वम् । किं कुर्वन्तन्, उपकुर्वन् । कस्य, परस्य धर्वया स्वस्तानाहाहात्य दृश्यमानस्येन्द्रिये गुन्ध्यमानस्य देहादे । किंविशिष्टो यतस्त्वं अज्ञस्तत्वानिभज्ञः किंविक्षोक्षकात् । यथा लोकः परं परत्वेनाजानंस्तस्योपकुर्वन्नपि तं तत्वेन ज्ञात्या ततुपकारं त्यक्ता स्वोपकारपरो भवत्येवं त्वमपि भवेत्यर्थः । अथाह शिष्यः । कथं तथोविशेष इति केनोपायेन स्वपरयोभेदो विज्ञायेत । तद्धि ज्ञातुश्च किं स्यादित्यर्थः । गुस्त्यस्—॥ ३२ ॥

अर्थ—परके उपकार करनेको छोड़कर अपने उपकार करनेमें तत्पर हो जाओ । इंद्रियोंके द्वारा दिखाई देते हुए शरीरादिकोंका उपकार करते हुए तुम अज्ञ (वास्तविक वस्तुस्थितिको न जाननेवाले) हो रहे हो । तुम्हें चाहिये कि दुनियाँकी तरह तुम भी अपनी भलाई करनेमें लगो ।

विद्यादार्थ—पर किह्ये कर्म अथवा शरीरादिक, इनका अविद्या-अज्ञान अथवा मोहके वशसे जो उपकार किया जाता रहा है, उसे विद्या सम्यन्ज्ञान अथवा वीतरागताके अभ्याससे छोड़कर प्रधानतासे अपने (आत्माके) उपकार करनेमें तत्पर हो जाओ। तुम सर्वधा अपने (आत्मा) से वाह्य इन्द्रियोंके द्वारा अनुमवमें आनेवाले इन शरीरादिकोंकी रक्षा करना आदि रूप उपकार करनेमें लगे हुए हो। इसिलिये माल्म पड़ता है कि तुम अज्ञ (वस्तुओंके वास्तविक स्वरूपसे अजान) हो। सो जैसे दुनियाके लोग जवतक दूसरेको दूसरे रूपमें नहीं जानते, तवतक उनका उपकार करते हैं। परन्तु ज्यों ही वे अपनेको अपना और दूसरेको दूसरा जानते हैं, उनका (दूसरोंका) उपकार करना छोड़कर अपना उपकार करनेमें लग जाते हैं। इसी प्रकार तुम भी तत्त्वज्ञानी चनकर अपनेको स्वाधीन शुद्ध बनाने रूप आत्मोपकार करनेमें तत्पर हो जाओ। ३२।।

दोहा—प्रगट अन्य देहादिका, सूढ़ करत उपकार। सज्जनवत् या भूछ को, तज कर तिज उपकार॥ ३२॥ यहाँपर शिष्य कहता है कि किस उपायसे अपने और परमें निशेपता (भेद) जानी जाती है, और उसके जाननेवालेको क्या होगा ? किस फलकी प्राप्ति होगी ? आचार्य कहते हैं—

> गुरूपदेशादभ्यासात्संवित्तेः स्वपरान्तरम् । जानाति यः स जानाति, मोक्षसौख्यं निरन्तरम् ॥ ३३ ॥

अन्वय-यः गुरूपदेशात् अभ्यासात् संवित्तेः स्वपरान्तरं जानाति स मोक्षसौख्यं निरन्तरं जानाति

टीका—यो जानाति । किं तरस्वपरान्तरं आत्मपरयोमेंदं यः स्वात्मानं परस्माद्वित्रं पद्यतीत्पर्यः। कुतः संवित्तेर्लक्षणतः स्वव्ध्यानुभवात् । एपोषि कुतः, अभ्यासात् अभ्यासमावनातः । एपोष्ठि गुरूपदेशात् धर्मावार्यस्था-त्मनश्च सुदृदश्यपत्विकेशानोत्पादकवाक्यात् स तथान्यापोदस्वात्मानुभविता मोक्षसौर्स्य निरन्तरमिविन्छन्नमनुभवित । कर्मविविकत्तिनुभाव्यविनाभावित्वात्तस्य । तथा चोक तस्वानुशासनै,—

'' तदेवानुभवंश्रायमेकाप्रं परमुक्छति । तथात्माधीनमानन्दमेति वाचामगोचरम्"॥१७०॥-तत्वानुबाएनम्॥ अथ शिष्यः पृष्छति-कस्तत्र गुरुरिति तत्र मोक्षमुखानुभविषये। गुरुराहः—॥३३॥

अर्थ-- जो गुरुके उपदेशसे अभ्यास करते हुए अपने ज्ञान (स्वसंवेदन) से अपने और परके अन्तर को (भेदको) जानता है। वह मोक्षसम्बंधी सुखका अनुभवन करता रहता है।

विद्यादार्थ—गुरु किह्ये धर्माचार्य अथवा गुरु किह्ये स्वयं आत्मा, उसके उपदेशसे सुदृष्ट स्वयः विवेक ज्ञानके पैदा करनेवाले वाक्योंके और उसके अनुसार अभ्यास करना चाहिये। वार वार अभ्यास करनेसे संवित्ति-अपने लक्ष्यका अनुभव होने लगता है। उस संवित्ति (स्वसंवेदन) के द्वारा जो स्वात्माको परसे भिन्न जानता देखता है, भिन्न आत्माका अनुभव करनेवाला मोक्ष-सुखको निरन्तर-हमेशा विच्छेद रहित अनुभव करनेवालोंको होता है, अन्योंको नहीं । जैसा कि तत्त्वानुशासनमें कहा है—" तदेवानुभंवरचाय०,"

उस आत्माका अनुभवन करते हुए यह आत्मा, उस्कृष्ट एकाग्रताको प्राप्त कर ठेता है, और इसी तरह मन तथा वाणीके अगोचर अथवा वचनोंसे भी न कहे जा सकनेवाठे स्वाधीन आनन्दको प्राप्त कर ठेता है ॥ ३३॥

> दोहा—गुरु उपदेश अभ्याससे, निज अनुभवसे मेद। निज पर को जो अनुभवे, लहें स्वसुख वेखेद॥ ३३॥

आगे शिष्य पृष्ठता है कि मोक्ष-सुखके अनुभवके विषयमें कौन गुरु होता है? आचार्य कहते हैं— स्वस्मिन् सदभिछापित्वादभीष्टज्ञापकत्वतः । स्वयं हितप्रयोक्तत्वादात्मैव गुरुरात्मनः ॥ ३४ ॥

अन्वय—स्वयं स्वस्मिन् सद्भिलापित्वात् अभीष्टज्ञापकत्वतः हितप्रयोक्तृत्वात् आत्मनः आत्मा एव गुरुः अस्ति । टीका—यः खल्ज शिष्यः सदा अभीक्षां कल्याणमिल्यित तेन निज्ञास्य तहुपायं तं शाययति । तत्र चाप्रवर्तमानं तं प्रवर्तयति ए किळ गुदः प्रसिद्धः। एवं च एत्यात्मनः आत्मैव गुदः स्यात्। कृत इत्याह—स्वयमात्मना स्विह्मनभोधप्रवामिळाषिण्यात्मनि एत् प्रशस्तं मोक्षप्रुखमभीक्ष्णमिल्यति । मोक्षप्रुखं मे एंपयत्मित्यकाल्क्षतीत्येवं भयात् । तथाभीष्ठस्यात्मन निज्ञास्यमानस्य मोक्षप्रखोपायस्यात्मविषये शायकस्वादेष मोक्षप्रखोपाये मया सेन्य इति बोधकत्वात् । तथाधि तं मोक्षप्रखोपाये स्वयं स्वस्य प्रयोकतृत्वात् । अस्मिन्युकुके मोक्षप्रखोपाये दुरात्मनात्मन्त्ययम् मद्यापि न प्रवृत्त इति । तत्रावर्त्तमानस्यात्मनः प्रवर्त्तकत्वात् । अयं शिष्यः साक्षेपमाह । एवं नान्योपास्तिः प्राप्नोतीति भगवन्नुक्तनीत्या परस्वरगुकत्वे निश्चिते सितं प्रमीचार्यादिसेवनं प्राप्नोति मुद्युकुं । मुसुक्कुणा धर्माचार्योदिः सेन्यो न भवतीति भावः । न चैवमेतदिति वान्यपपिस्द्वान्तप्रप्रद्वादिति वदन्तं प्रत्याह,—॥ ३४॥

अर्थ—जो सत्का कल्याणका वांछक होता है, चाहे हुए हितके उपायोंको जतलाता है, तथा हितका प्रवर्तक होता है, वह गुरु कहलाता है। जय आत्मा स्वयं ही अपनेमें सत्की —कल्याणकी यानी मौक्ष-सुखकी अभिलाषा करता है, अपने द्वारा चाहे हुए मोक्ष-सुखके उपायोंको जतलानेवाला है, तथा मोक्ष-सुखके उपायोंमें अपने आपको प्रवर्तन करानेवाला है, इसलिये अपना (आत्माका) गुरु आप (आत्मा) ही है।

चिरादार्थ—यह आत्मा स्वयं ही जब मोक्ष सुखामिलाषी होता है, तब सत्की यानी मोक्ष-सुखकी हमेशा अमिलाषा करता रहता है कि मुझे मोक्ष-सुख प्राप्त हो जावे। इसी तरह जब स्वयं आत्मा मोक्ष-सुखके उपायोंको जानना चाहता है, तब यह स्वयं मोक्षके सुखके उपायोंको जतलानेवाला बन जाता है कि यह मोक्ष-सुखके उपाय सुझे करना चाहिये। इसी तरह अपने आपको मोक्ष-उपायमें लगानेवाला भी वह स्वयं होजाता है, कि इस सुदुर्लभ मोक्ष सुखोपायमें हे दुरात्मन आत्मा! तुम आजतक अर्थात् अभीतक भी प्रवृत्त नहीं हुए। इस प्रकार अभीतक न प्रवर्तनेवाले आत्माका प्रवर्तक भी हुआ करता है। इसलिये स्वयं ही आत्मा अपने कल्याणका चाहनेवाला, अपनेको सुखोपाय बतलानेवाला, और सुखोपायमें प्रवृत्ति करनेवाला होनेसे अपना गुरू है। ३४॥

दोहा—आपर्हि निज हित चाहता, आपिंह क्षाता होय । आपिंहें निज हित प्रेरता, निज गुरु आपिंह होय ॥ २४ ॥

यहाँपर शिष्य आक्षेप सहित कहता है कि इस तरह तो अब अन्य दूसरोंकी क्यों सेवा करनी होगी? बस जब आपसमें खुदका खुद ही गुरु बन गया, तब धर्माचार्यादिकोंकी सेवा सुमुक्षुओंको नहीं करनी होगी। ऐसा भी नहीं कहना चाहिये, कि हाँ ऐसा तो है ही, कारण कि वैसा माननेसे अपसिद्धान्त हो जायगा। ऐसे बोटनेवाटे शिष्यके प्रति आचार्य जवाब देते हैं—

नाज्ञो विज्ञत्वमायाति, विज्ञो नाज्ञत्वभृच्छति । निमित्तमात्रमन्यस्तु, गतेर्धर्मास्तिकायवत् ॥ ३५ ॥ अन्वय---अज्ञः विज्ञलं न आयाति विज्ञः अज्ञत्वं न ऋच्छति गतेर्थमीस्तिकायवत् अन्यस्त् निभित्तमात्रम् ।

टीका—मद्र ! अञ्चलस्यञ्जानोत्तस्ययोग्योऽभव्यादिर्धिज्ञस्यं तत्वज्ञत्वं धर्माचार्याञ्चपदेज्ञसङ्खेणापि न गच्छति । तथा चोक्तम्—

" स्वाभाविकं हि निष्पत्ती, क्रियागुणमपेक्ष्यते । न व्यापारशतेनापि-शुकवस्पाठ्यते वकः " ॥
तथा विश्वस्तस्वश्चानपरिणतो अञ्चल तत्त्वश्चानास्परिश्रद्यसपायसहस्रेणापि न गच्छति । तथा चीक्तम्——
" वज्रे पतस्यपि सयद्वतिक्षिकोके, गुक्ताध्वनि प्रश्नामो न चलन्ति योगात् ।
वोधप्रदीपदतसोद्वसद्वास्थाराः, सस्यग्द्वशः किमत शेषपरीपदेष " ॥ ६३ ॥-पद्मनन्दिपञ्चविद्यतिका ए० ३३

नन्वेवं वाह्यनिसिक्तवेवः प्राप्तोतीत्पत्राह् । अन्यः पुनर्गुंहविषद्धादिः प्रकृतार्थसमृत्यादभ्रंशयोनिसिक्तमाभ्रं स्यात्तत्र योग्येताया एव साक्षारसाधकत्वात् । करयाः को ययेत्यमाह् , गतिरित्यादि । अयमर्थो-यया युगपन्नाविमतिन्यतिन्यित्यात्मेत्वानां स्वतिवानां स्वतिवाना

अर्थः — तत्त्वज्ञानकी उत्पत्तिके अयोग्य अभव्य आदिक जीव, तत्त्वज्ञानको धर्मा-चार्यादिकोंके हजारों उपदेशोंसे भी नहीं प्राप्त कर सकता है। जैसा कि कहा गया है "स्वाभाविकं हि निष्पत्तौ॰"

" कोई भी प्रयत्न कार्यकी उत्पत्ति करनेके लिये स्वामाविक गुणकी अपेक्षा किया करता है। सैकड़ों व्यापारोंसे भी बगुला तोतेकी तरह नहीं पढ़ाया जा सकता है।"

इसी तरह तत्वज्ञानी जीन, तत्वज्ञानसे छूटकर हजारों उपायोंके द्वारा भी अज्ञलको प्राप्त नहीं कर सकता। जैसा कि कहा गया है—" वज्रे पतत्यिष०"

" जिसके कारण भयसे घवराई हुई सारी दुनियाँ मार्गको छोड़कर इघर उघर भटकने लग जाय, ऐसे नज़के गिरनेपर भी अतुल ज्ञांतिसम्पन्न योगिगण योगसे (ध्यानसे) चलायमान नहीं होते। तब ज्ञानरूपी प्रदीपसे जिन्होंने मोहरूपी महान् अन्यकारको नष्ट कर दिया है, ऐसे सम्यग्दिष्ट जीव क्या शेष परीषहोंके आनेपर चलायमान हो जाँयेंगें ? नहीं, वे कभी भी चलायमान नहीं हो सकते हैं।"

यहाँ शंका यह होती है कि यों तो बाह्य निमित्तोंका निराकरण ही हो जायगा ? इसके विषयमें जवाव यह है कि अन्य जो गुरु आदिक तथा शत्रु आदिक हैं, वे प्रकृत कार्यके उत्पादनमें तथा विष्यंसनमें सिर्फ निमित्तमात्र हैं। वास्तवमें किसी कार्यके होने व . विगड़नेमें उसकी योग्यर ही साक्षात् साथक होती है। जैसे एक साथ गतिरूप परिणामके लिये उन्सुख हुए पदार्थोंमें गतिष्ठं साक्षात् पैदा करनेवाळी उन पदार्थोंकी ही गमन करनेकी शक्ति है। क्योंकि यदि पदार्थोंमें गमन करनेकी शक्ति न होवे तो उनमें किसीके द्वारा भी गति नहीं की जा सकती। धर्मास्तिकाय तो गति करानेमें सहायकरूप द्रव्यविशेष है। इसल्यिये वह गतिके लिये सहकारी कारणसात्र हुआ करता है। यही बात प्रकृतमें भी जाननी चाहिये। इसल्यिये व्यवहारसे ही गुरु आदिकोंकी सेवा शुश्रृषा आदि की जानी चाहिये।। ३५ ॥

दोहा - मूर्ख न हानी हो सके, हानी मूर्ख न होय। निमित्त मात्र पर जान, जिमि गति धर्मतें होय॥३५॥

अब शिष्य कहता है कि 'अभ्यास कैसे किया जाता है ?' इसमें अभ्यास करनेके उपायोंको पृछा गया है। सो अभ्यास और उसके उपायोंको कहते हैं। वार चार प्रवृत्ति करनेको अभ्यास कहते हैं। यह चात तो भठीगाँति प्रसिद्ध ही है। उसके ठिये स्थान कैसा होना चाहिए ? कैसे नियमादि रखने चाहिये ? इत्यादि रूपसे उसका उपदेश किया जाता है। इसी प्रकार साथमें संवित्तिका भी वर्णन करते हैं।

अभवचित्तविक्षेप, एकान्ते तत्त्वसंस्थितः । अस्यस्येद्भियोगेन, योगी तत्त्वं निजात्मनः ॥ ३६ ॥

अन्वय-अभविच्चत्तविक्षेपः तत्वत्संस्थितः योगी निजात्मनः तत्त्वं एकान्ते अभियोगेन अभ्यस्थेत् ।

टीका—अभ्यस्कृतवयेकोषी, योगी संयमी। कि, तस्व थायारग्यं। कस्य, निकासमः। केन, अभियोगेन आळस्यनिद्वादिनिरासेन। के, एकान्ते योग्यञ्चन्यग्रहादी। किविशिष्टः सन्, अभवस्वायमानश्चित्तस्य मनसो विश्वेषो सागादिसंत्रोभो बस्य सोऽप्रमिष्ट्रमृतः सन्। किमुले भूत्वा, तथाभृत इत्याइ। तस्वसंस्थितस्तस्वे देवे उपादेवे च गुरुपदेशान्त्रश्चर्याः। वस्त्रादेवे च गुरुपदेशान्त्रश्चर्याः। वस्त्रादेवे च गुरुपदेशान्त्रश्चर्याः। वस्त्रादेवे च गुरुपदेशान्त्रश्चर्याः। वस्त्रादेवे च तस्त्रादेवे च गुरुपदेशान्त्रश्चर्याः। वस्त्रादेवे च तस्त्रादेवे नायमर्थः। स्वयादेवे भगवन्तुक्तरुक्षणः संवित्तिः प्रवर्तमाना केनोपायेन योगिनो विश्ववेते क्ष्यं च प्रतिक्षणं प्रकर्षमाथवते। अनाचार्यो वक्ति। उच्यत इति। चीमनाकर्णय वर्णते तिक्कृतं तावनस्येत्यथैः॥३६॥

अर्थ—जिसके चित्तमें क्षोम नहीं है, जो आत्मा स्वस्य स्पमें स्थित है, ऐसा योगी सावधानीपूर्वक एकान्त स्थानमें अपने आत्माके स्वस्पका अन्यास करे।

विशादार्थ — नहीं हो रहे हैं चित्तमें विक्षेप-रागादि विकल्प जिसको ऐसा तथा हेय-उपादेय तत्त्वोंमें गुरुके उपदेशसे जिसकी छुद्धि निश्चल हो गई है, अथवा परमार्थरूपसे साध्यमृत वस्तुमें मले प्रकारसे—यानी जैसे कहे गये हैं, वैसे कायोत्सर्गादिकोंसे व्यवस्थित हो गया है, ऐसा योगी अपनी आत्माके ठीक ठीक स्वरूपका एकान्त स्थानमें-योगीके लिये योग्य ऐसे श्रन्य गृहींमें ? पर्वतींकी गुहा कंदरादिकोंमें, आलस्य निद्रा आदिको दूर करते हुए अभ्यास करे ॥ ३६ ॥

दोहा—क्षोभ रहित एकान्त में, तत्त्वज्ञान चित घाय। सावधान हो संयमी, निज स्वरूपको भाय॥ ३६॥

यहाँपर शिष्य पृष्ठता है, कि भगवन् ! जिसका लक्षण कहा गया है ऐसी 'संवित्ति हो रही है।' यह वात योगीको किस तरहरे माल्यम हो सकती है? और उसकी हरएक क्षणमें उन्नति हो रही है, यह भी कैसे जाना जा सकता है? आचार्य कहते हैं कि हे धीमन् ? सुनो में उसके चिन्हका वर्णन करता हूँ—

यया यथा समायाति, संवित्तौ तत्त्वमुत्तमम् । तथा तथा न रोचन्ते, विषयाः सुरुभा अपि॥ ३७॥

अन्वय-यय। यया संवित्तौ उत्तमं तत्त्वं समायाति तया तया सुरुभा अपि विषया न रोचन्ते ।

टीका—येन येन प्रकारेण संवित्ती विशुद्धाःमस्वरूपं संपुरूयेनागच्छति योगिनः तथा तथानायास्टम्या अवि रम्येन्द्रियार्था भोग्यवुद्धिं नोत्यादयन्ति । महासुखल्कासऽरुयसुखकारणानां लोकेऽप्यनादरणीयस्वदर्शनात् । तथा चोकम्—

"शामसुखशीलितमनसामधनमिष द्वेषमेति किंतु कामाः । स्यलमिष दहित क्षपाणां किमङ्ग पुनरङ्गसङ्गाराः ॥ १॥ अतो विषयारचिरेव योगिनः स्वात्मसंवित्तर्गमिका तदभावे तदभावात् प्रकृष्यमाणायां च विषयारची स्वात्मसंवित्तिः प्रकृष्यते । तद्यथा—॥ ३७ ॥

अर्थ—ज्यों ज्यों संविध्ति (स्वानुभव) में उत्तम तत्त्वरूपका अनुभवन होता है, त्यों त्यों उस योगीको आसानीसे प्राप्त होनेवाले भी विषय अच्छे नहीं लगते ।

विद्यादार्थ--जिस जिस प्रकारसे योगीकी संवित्तिमें (स्वातुभवहूप संवेदनमें) शुद्ध आत्माका स्वरूप झटकता जाता है, सम्मुख आता है, तैसे-तैसे विना प्रयाससे, सहजमें ही प्राप्त होनेवाटे रमणीक इन्द्रिय विषय भी योग्य बुद्धिको पैदा नहीं कर पाते हैं। ठीक ही है, दुनियाँमें भी देखा गया है कि महान सुखकी प्राप्ति होजानेपर अल्प सुखके पैदा करनेवाटे कारणोंके प्रति कोई आदर या-प्राह्म-भाव नहीं रहता है। ऐसा ही अन्यत्र भी कहा है--"शमसुखशीटितमनसा०"

"जिनका मन शांति-सुखसे सम्पन्न है, ऐसे महापुरुषोंको भोजनसे भी द्वेप हो जाता है, अर्थात् उन्हें भोजन भी अच्छा नहीं ठगता । फिर और विषय भोगोंकी तो क्या चलाई ? अर्थात् जिन्हें। भोजन भी अच्छा नहीं ठगता, उन्हें अन्य विषय-भोग क्यों अच्छे ठग सकते हैं ? अर्थात् उन्हें अन्य विषय-भोग क्यों अच्छे ठग सकते हैं ? अर्थात् उन्हें अन्य विषय-भोग राचिकर प्रतीत नहीं हो सकते । हे वत्स ! देखो, जब मछलीके अंगोंको जमीन ही जला देनेमें समर्थ है, तब अिंग्ने अंगारोंका तो कहना ही क्या ? वे तो जला ही देंगे। इसलिये विषयोंकी अरुचि ही योगीकी स्वात्म-संवित्तिको प्रकट कर देनेवाली है।"

स्वात्म-संवित्तिके अभाव होनेपर विषयोंसे अरुचि नहीं होती और विषयोंके प्रति अरुचि बहनेपर स्वात्म-संवित्ति भी वह जाती है ॥ ३७॥

> दोहा — जस जस आतम तत्त्वमें, अनुभव आता जाय ॥ तस तस विषय सुरुभ्य भी, ताको नहीं सुहाय ॥ ३७॥

उपरिलिखित मावको और भी स्पष्ट करते हुए आचार्य कहते हैं-

यथा यथा न रोचन्ते, विषयाः सुरुभा अपि । तथा तथा समायाति, संवित्तौ तत्त्वमुत्तमम् ॥ ३८ ॥

अन्वय—वधा यथा सुलभा अपि विषयाः न रोचन्ते तथा तथा उत्तमं तत्वं संवित्तौ समायाति। अधारे प्रवेषद्रवास्त्यानम् । तथा चोत्तम्—

" विर्पं किमपरेणाकार्यकोलाहलेन, स्वयमपि निभृतः सन्पर्य पण्मासमेकम् ।

हृदयसरीत पुंतः पुद्रलाङ्गिक्तमानो, नतु किमनुपळित्रमाति किं चोपळित्यः "॥ २॥-नाटकसमयसर-कारः जीवाजीवाधिकारः।

प्रक्रथमाणायां च स्वात्मसंविची यानि चिह्नानि स्युस्तान्याकर्णय । यथा---॥ ३८ ॥

अर्थ—ज्यों ज्यों सहजमें भी प्राप्त होनेवाले इन्द्रिय विषय मोग रुचिकर प्रतीत नहीं होते यों त्यों स्वारम-संवेदनमें निजात्मानुभवनकी परिणति वृद्धिको प्राप्त होती रहती है।

चित्रादार्थ—विषय भोगोंके प्रति अहचि भाव ज्यों ज्यों वृद्धिको प्राप्त होते हैं त्यों त्यों योगीके स्वात्म-संवेदनमें निजासानुभवनकी परिणति वृद्धिको प्राप्त होती रहती है। कहा भी है— "विस्म किस्परेणा॰"

आचार्य शिष्यको उपदेश देते हैं, हे वस्त ! टहर, व्यर्थके ही अन्य कोठाहठोंसे क्या छास ? निश्चित्त हो इह सास तक एकान्त में, अपने आपका अवठोकन तो कर । देख, हृदयस्पी सरोवर में पुद्रुटसे मित्र तेजवाठी आसाकी उपछिष्य (प्राप्ति) होती है, या अनुपठिष्य (अप्राप्ति)॥ २८॥

> दोहा—जस जस विषय सुरुभ्य भी, ताको नहीं सुहाय । तस तस आतम तस्वमें, अनुभव बढ़ता जाय ॥ ३८॥

हे वत्स !--स्वातमसंवित्तिके बढ़नेपर क्या क्या वार्ते होती हैं, किस रूप परिणति होने रुगती है, आदि वार्तोको सुन--

१ 'दिरम किमरोगा o'का कितना सुन्दर मावर्ण वर्षया रन. कविवर बनारसीदावजीने वमयवारनाटकों कहा है— " भैचा जगवासी त् उदासी रहे के जगत थों, एक छः महीना उपदेष मेरी भाउरे। और संकल्प विकलप्रके विकार तजि, बैठके एकत मन ठीर आउरे॥ तेरी घटन्सर वामें तृही है कमल ताकी, तृही गयुकर सुवास पहिचानु रे। प्रापति न रहे है कलु ऐसी तृ विचारत है, यही व्हें है प्रापति सरुप मों ही जातु रे॥ रे॥

निशामयति निश्शेषमिन्द्रजाळोषमं जगत्। स्षृह्यस्यारमळाभाय, गरवान्यत्रातुतप्यते॥ २९॥

अन्वय—योगी निश्तेषं जगत् इन्द्रजालोपमं निशामयति, आत्मलामाय स्षृहयति अन्यत्र गत्ता अनुतत्यते।

द्रीका —योगीयन्तरीपक्रवात्वर्षत्र योज्यः । स्वारमधिवित्तरिक्षको ध्याता चराचरं बहिर्वस्त्वातमबस्योगेक्षणीय-तया हानोपादानबुद्विवयन्त्वारिन्द्र जाक्षिकोपद्रितितवर्षहारादिषदार्थवर्ध्वः परपति । तथातमलाभाव रष्ट्रस्यति चिदानस्ट स्वरूपमारमानं सेचेद्रयित्तमिन्छति । तथा अन्यत्र स्वारमव्यतिरिक्ते यत्र क्षापि वस्तुनि पूर्वरेस्करादिवआसमोवाकार्येगीता व्यापृत्य अनुतय्यते स्वरमेव आ कथं मयेदमनास्त्रीनमनुद्रिद्वामिति पक्षात्तापं करोति । तथा,—॥ ३९॥

अर्थ-योगी समस्त संसारको इन्द्रजालके समान समझता है। आलस्वस्पकी प्राप्तिके लिये अभिलापा करता है। तथा यदि किसी अन्य विषयमें उलझ जाता, या लग जाता है तो पश्चात्ताप करता है।

विश्रादार्थ: — रुलेक नं. ४२ में कहे गये "योगी योगपरायणः" शब्दको अन्त्यदीपक होनेसे सभी "निशामयित स्पृहयित" आदि कितापरोंके साथ लगाना चाहिये। स्वाल-संवेदक करनेमें जिसे आनन्द आया करता है, ऐसा योगी इस चर, अचर, स्यावर, जंगमरूप समस्त वाहिरी वस्तु-समृहको त्याग और ग्रहण विषयक दुढिका अविषय होनेसे अवस्य जपेक्षणीय रूप इन्द्रजालियाके द्वारा दिखलाये हुए सर्ग हार आदि पदार्थोंके समृहके समान देखता है। तया चिदानन्द—स्वरूप आलाके अनुभवकी इच्छा करता है। और अपनी आलाको छोड़कर अन्य किसी भी वस्तुमें पहिले संस्कार आदि कारणोंसे यदि मनसे, वचनसे, वा कायसे, प्रशृति कर बैठता है, तो वहाँसे हटकर खुद ही पश्चाताप करता है, कि ओह! यह मैंने कैसे आलाका अहित कर हाला। ३९॥

दोहा—इन्द्रजाल सम देख जग, निज अनुभव दिव लात । अन्य विषय में जात यदि, तो मनमें पछतात ॥ ३९ ॥

आत्मानुभवीके और भी चिन्होंको दिखाते है-

इच्छत्येकान्तसंवासं, निर्जनं जनितादरः। निजकार्यवक्षात्किचिद्वक्त्वा विस्मरति द्वुतम् ॥ ४० ॥

अन्यय—(योगी) निर्वनं जनितादरः एकान्तसंशासं इच्छति निजकार्यवशात किंगितुक्ला द्वृतं विस्मरति ।

टीका—प्कान्ते स्वभावतो निर्वते गिरिगहनादौ संवासं सुर्वोदिभिः सहावस्थानमभिव्यति | व्हिविधश सन्, जनितादरो जनमनोरक्षन चमस्कारि-मन्त्रादि-प्रयोगवार्त्तानिष्ठतौ कृतप्रथनः । कस्मै निर्वतं जनामावाय स्वायंवशा छाभालाभादिप्रशार्षे लोककुपरार्थस्तं निर्पेश्यभियर्थः । ध्यानादि लोकचमस्कारिषाः प्रययाः स्युः । तथा चोत्तम्— " गुरूपदेशमासारा, समस्पत्यन्ननारतम् । धारणासीष्ठनाध्यानप्रत्ययानपि पश्यति " ॥

तथा स्वस्वावस्यकरणीयभोजनादिणस्तन्त्र्यार्किनिवृद्यम्पत्तम् आवकादिकं प्रति अहो हति अहो हदाभिति अहो हदं कुर्विक्रत्यादि भाषित्वा तस्त्रण एव विस्मरति । भगवंन् किमादिस्यत हति आवकादौ पृच्छति चति न किमश्चन्तरं ददाति । तथा—

अर्थ—निर्वतताको चाहनेवाला योगी एकान्तवासकी इच्छा करता है, और निज कार्यके बज़से कुछ कहे भी तो उसे जब्दी ही सुला देता है।

विद्यादार्थ— ठोगोंके मनोरंजन करनेकाले चमत्कारी मन्त्र तन्त्र आदिके प्रयोग करनेकी वात्तीएं न हुआ करें, इसके लिये अर्थात अपने मतलबसे लाम-अलाम आदिकके प्रका पूलनेके लिये आनेवाले लोगोंको मना करनेके लिये किया है प्रयत्न जिसने ऐसा योगी स्वभावसे ही जनवहन्य ऐसे पहाड़ोंकी ग्रहा कन्दरा आदिकोंमें ग्रहशोंके साथ रहना चाहता है। ध्यान करनेसे लोक-चमत्कारकारी बहुतसे विश्वास व अतिशय हो जाया करते हैं, जैसा कि कहा गया है— "गुरूपदेशमासाद्य "

"गुरुसे उपदेश पाकर हमेशा अच्छी तरह अभ्यास करते रहनेवाला, पारणाओंमें श्रेष्ठता प्राप्त हो जानेसे ध्यानके अतिश्वयोंको भी देखने लग जाता है।" अपने शरीरके लिये अवक्य करने योग्य जो मोजनादिक, उसके वशसे कुछ योड़ासा आवकादिकोंसे "अहो, देखो, इस प्रकार ऐसा करना, अहो, और ऐसा, यह इत्यादि " कहकर उसी क्षण भूल जाता है। मगवन ! क्या कह रहे हो ? ऐसा आवकादिकोंके द्वारा पुछे जानेगर योगी कुछ भी जवाब नहीं देता । तथा—॥४०॥

दोहा—िनर्जनता आदर करत, एकांत सवास विचार । निज कारजवश कुछ कहें, भूछ जात उस बार ॥ ४० ॥ द्युवन्निप हि न वृते, गच्छन्निप न गच्छित । स्थिरीकृतात्मतत्त्वस्त, पश्यन्निप न पश्यति ॥ ४१ ॥

अन्वय—स्थिरीकृतास्तरसर्तु बुवन् अपि न बृते गच्छन् अपि न गच्छति पश्यन् अपि न पश्यिति विका—स्थिरीकृतास्तरसर्ते इद्यतितितोचरीकृतस्वरस्त्यो बोगी संस्तरवज्ञासरोपरोपेन बुवन्नि धर्मादिकं भाषनाणोऽपि न केवलं योगेन तिष्ठति स्विकान्दार्थः। न बृते हि न भाषत एव । तत्राभिष्ठस्यामावात् । उक्तं च— "आत्मज्ञानासरं कार्ये, न बुदौ धरस्यित्यः, । बुर्योदर्यवज्ञातिक्षाच्यास्यात्यसरः"॥५०॥—समाधिशतकम् तथा मोजनार्थे प्रवच्यित न प्रवस्थि। तथा छिद्यतिमादिकम्बलोक्ष्यभि नायलोक्ष्ययेव। द्वेतार्थः। तथा—४१॥ अर्थ—जिसेने आत्म-स्वरूपमे विषयमें स्थिरता प्राप्त कर ली है, ऐसे योगी बोलने हुए भी नहीं योलना, चलते हुए भी नहीं वेस्तता है।

विद्यादार्थ—जिसने अपनेको व्ह प्रतीतिका विषय वना लिया है, ऐसा योगी संस्कारोंके वज्ञसे या इसरोंके संकोचसे धर्मोदिकका व्याख्यान करते हुए भी नहीं बोठ रहा है, ऐसा समझना चाहिये, वयोंकि उनको वोल्जेकी ओर झुकाव या ख्याल नहीं होता। जैसा कि कहा है—
"आलज्ञानात्मरं कार्यं॰"

" आत्म-ज्ञानके सिवा इसरे कार्यको अपने प्रयोगमें चिरकाल-तक ज्यादा-देरतक न टहरने देवे । किसी प्रयोजनके वश यदि कुछ करना पड़े, तो उसे अतत्मर होकर-अनासक्त होकर वाणी व शरीरके द्वारा करें । इसी प्रकार भोजनके लिये जाते हुए भी नहीं जा रहा है, तया सिद्ध प्रतिमादिकोंको देखते हुए भी नहीं देख रहा है, यही समझना चाहिये । फिर—॥ ४१॥

दोहा—देखत भी निर्दे देखते, बोलत बोलत नाहिं। टह प्रतीत आतममयी, चालत चालत नाहिं॥ ४९॥ किभिदे कीटशं कस्य, कस्मात्क्वेरयदिशेषयन्। स्वदेहमपि नावैति योगी योगपरायणः॥ ४२॥

अन्वय—योगपरायणः योगी किम इदं, कीद्द्यं, करंग, करमात, क इति अविशेष्यन् स्वदेहम् अपि न अवैति ।

टीका—इदमप्यासमतुभूयमानं तस्त्रं किं किंरूपं कीट्यं फेन स्टशं करम स्वामिकं करमात्करम् सक्ताशास्त्र करिमकरतीरमविदोयपन् अविकल्पयस्तन् योगपरायणः समरतीमावमाणवो योगी स्वदेदमपिन चेतपति का क्या दितादित्यदेशतिरिक्तनस्त्रचेतनायाः। तथा चोक्तम्—

तदा च परमैकान्याद्वरिरयेषु वसवि । अगव किंचनामाति, स्वमेनासिन वस्यतः "॥१०२॥-तत्वातुत्रावनम् अत्राह शिष्यः-कथमेनदिति । भगवन् विरमयो मे कथमेनदवर्यान्तरं कंमवि । गुरुपर-धीमिलवोष ॥४२॥
अर्थ--ध्यानमें लगा हुआ योगी यह क्या है १ कैसा है १ किसका है १ क्यों है १ कहाँ है १ इस्यादिक विकरपोंको न करते हुए अपने शरीरको भी नहीं जानता ।

विशादार्थ—यह अनुभवमें आ रहा अन्तस्तत्व, किस स्वरूपवाला है? किसके सहस्र है? इसका स्वामी कीन है? किसके होता है? कहाँपर रहता है? इत्यादिक विकरपोंको न करता हुआ किन्तु समरसीमावको प्राप्त हुआ बोगी जो अपने शरीरतकका भी ख्याल नहीं रखता, उसकी चिन्ता व परवाह नहीं करता, तब हितकारी या अहितकारी शरीरसे भिन्न वस्तुओंकी चिन्ता करनेकी वात ही क्या ? जैसा कि कहा गया है—"तहा च परमैका॰"

यहाँपर शिष्य कहता है कि मगवन् ! मुझे आश्रयं होता है कि ऐसी विलक्षण विभिन्न दशाका होजाना कैसे सम्भव है ?

उस समय आत्मामें आत्माको ही देखनेवाले योगीको बाहिरी पदायोंके रहते हुए भी परम एकाव्रता होनेके कारण अन्य कुछ नहीं माळूम पड़ता है ॥ ४२ ॥

देहा—क्या कैसा किसका किसमें, कहाँ यह आतम राम । तज विकल्प निज देह न जाने, योगी निज विश्राम्॥ ४२॥

आचार्य कहते हैं, धीमन् ! सुनो समझो-

यो यत्र निवसन्नास्ते, स तत्र कुरुते रतिम् । यो यत्र रमते तस्मादन्यत्र स न गच्छति ॥ ४३ ॥

अन्वय—यो यत्र निवसन् आस्ते स तत्र रति कुस्ते यो यत्र रस्ते स ससान्न गच्छति ।

टीका—यो जनी यत्र नगरादौ खार्ये विद्धबद्धत्वेन बद्धनिकंष्वास्त्रव्यो भवन् तिष्ठवि च तिसम्बर्धस्याधिवृत्तिचित्त्वानिवृद्धित्वं कमते। यत्र यश्च तथा निवृति च ततिऽज्यत्र न वातीति प्रविद्धं प्रतीवम् । अतः प्रतीदि
वृत्तिच्यास्त्रं निवसतेऽनगुस्तापूर्वानग्दानुमवादन्यत्र वृत्यमावः स्यादिति । अन्यप्राप्रवर्तमानश्चेदक् स्थात्—॥४३॥

अर्थ—जो जहाँ निवास करने लग जाता है, वह वहाँ समेन लग जाता है। और जो जहाँ
लग जाता है, वह वहाँसे फिर हटता नहीं है।

विशादार्थ— जो मनुष्य, जिस नगरादिकमें स्वार्थकी सिद्धिका कारण होनेसे बन्धुजनोंके आग्रहसे निवासी बनकर रहने रूग जाता है, वह उसमें अन्य तरफसे चित्त हटाकर आनन्दका अनुभवन करने रूग जाता है। और जो जहाँ आनन्दका अनुभव करता रहता है, वह बहाँसे हसरी जगह नहीं जाता, यह सभी जानते हैं। इसिटिये समझो कि आत्मामें अध्यासमें रहनेवाटे योगी अगनुमृत (जिसका पहिन्ने कमी अनुभव नहीं हुआ) और अध्रुव आनन्दका अनुभव होते रहनेसे उसकी अध्यासमें सिवाय दूसरी जगह प्रचित्त नहीं होती॥ ४३॥

दोहा—जो जामें वसता रहें, सो तामें रुचि पाय । जो जामें रम जात हैं, सो ता तज नहिं जाय ॥ ४३ ॥

जब इसरी जगह प्रवृत्ति नहीं करता तब क्या होता है? उसे आगेके क्लोकमें आचार्य कहते हैं—

> अगच्छंस्तद्विशेषाणामनाभिज्ञश्च जायते । अज्ञाततद्विशेषस्त्र, वध्यते न विमुच्यते ॥ ४४ ॥

अन्यय-भगच्छन् तद्विशेषाणां अनभिज्ञश्च जायते अज्ञाततद्विशेषस्तु न बध्यते, विमुच्यते ।
टीका-स्वात्मतस्विन्धेऽन्यत्र अगच्छत्मवर्वमानस्तरः स्वात्मनाऽन्यस्य वेद्यविद्येषाणां हीन्द्यांतीन्द्यांदिधर्माणामनिमञ्ज आभिमुख्वेनागविषता च भवति । अञ्चातवद्विशेषः पुनस्तत्राज्ञायसानसगद्वेदावानसमिनै बच्यते । किं
तर्वि ! विशेषण त्रवाचनुष्ठानुन्योऽतिरेकेण तैर्ष्वच्यते । किं च ॥ ४४ ॥

अर्थ--अध्यालसे इसरी जगह प्रवृत्ति न करता हुआ योगी, शरीरादिककी सुन्दरता असुन्दरता आदि धर्मोकी ओर विचार नहीं करता! और जब उनके विशेषोंको नहीं जानता, तब वह बंधको प्राप्त नहीं होता. किन्त विशेष रूपसे छट जाता है।

विश्वतार्थ — स्वात्मतलमें स्थिर हुआ योगी जब अध्यात्मसे मिन्न इसरी जगह प्रवृत्ति नहीं करता, तब उस स्वात्मासे मिन्न इसरीरिक सीन्दर्य असीन्दर्य आदि विशेषोंसे अनमिज्ञ हो जाता है। और जब उनकी विशेषताओंपर स्थाठ नहीं करता, तब उनमें राग हेर पैदा न होनेके कारण कर्मोसे बँधता नहीं है, किन्तु न्नताविकका आचरण करनेवाठोंकी अधेक्षा मी कर्मोंसे ज्यादा खुटता है। ४४॥

दोद्या—घस्तु विशेष विकस्प को, नाँहे करता मतिमान । स्वात्मनिष्ठता से छुटत, नाँहे वॅधता गुणवान ॥ ४४ ॥

और भी कहते हैं-

परः परस्ततो दुःखमात्मैवात्मा ततः सुखम् । अत एव महात्मानस्तानिमत्तं कृतोद्यमाः॥ ४५॥

अन्वय—परः परः ततो दुःखं, आत्मा आत्मा एव ततः सुखम् अतएव महात्मानः तन्निमित्तं कृतोचमाः ।

दीका—परो देहादिरथैः पर एव कथंचिद्रपि तस्यात्मीकर्तुमश्चयत्वात् । यत्तश्चैर्व ततस्तरमादात्मन्यारीय्यमाणो दुःखमेव स्यात्तद्दारखाद् दुःखनिमित्तानां प्रवृत्तेः । तथा आत्मा आत्मैव स्यात् । तस्य कदानिद्रपि देहादिरुपत्वानु-पादानात् । यत्तर्वेवं तरस्तरमात्मुखं स्यादुःखनिमित्तानां तस्याविषयत्वात् । यत्तरवैवम् अत एव महात्मानस्तीर्थकरादय-स्तरिमन्निमित्तमात्मार्ये कृतोद्यमा विनिहित्तवपोनुष्ठानामियोगा संजाताः । अय परद्रव्यानुरागे दोषं दर्शयतिः,—॥४५॥

अर्थ-इसरा इसरा ही है, इसिक्ये उससे दुःख होता है, और आत्मा आत्मा ही है, इसिक्ये उससे सुख होता है। इसिक्यि महात्माओंने आत्माकेकिये ही उद्यम किया है।

विशादार्थ—पर देहादिक अर्थ, पर ही है। किसी तरहसे भी उन्हें आत्मा या आत्माके सहस्र नहीं चनाया जा सकता। जब कि ऐसा है तब उनसे (आत्मा या आत्माके मान ठेनेसे) दुःख ही होगा। कारण कि दुःखके कारणोंकी प्रवृत्ति उन्होंके द्वारा हुआ करती है। तथा आत्मा आत्मा ही है, वह कभी देहादिकरूप नहीं चन सकता। जब कि ऐसा है, तब उससे सुख ही होगा। कारण कि दुःखके कारणोंको वह अपनाता ही नहीं है। इसी ठिये तीर्यंकर आदिक वहे वहे पुरुषोंने आत्माके स्वरूपमें स्थिर होनेके ठिये अनेक प्रकारके तपोंके अनुष्ठान करनेमें निद्रा आरुस्यादि रहित अप्रमत्त हो उद्यम किया है। ४५॥

दोहा – पर पर तातें दुःख हो, निज निज ही सुखदाय। महापुरुप उद्यम किया, निज हितार्थ मन छाय ॥ ४५ ॥

परद्रव्योंमें अनुराग करनेसे होनेवाले दोषको दिखाते हैं—

अविद्वान् पुद्गस्द्रव्यं, योऽभिनन्दति तस्य तत् । न जातु जन्तोः सामीण्यं, चतुर्गतिषु मुख्रति ॥ ४६ ॥

अन्यय—यः अविद्वान् पुद्रलद्भयं अभिनन्दति तस्य जन्तोः तत् चतुर्गतिषु सामीप्यं जातु न मुझति ।

दीका-यः पुनरविद्वान् हेयोगादेयतःवानिमशः पुद्रलद्वयः देशदिकमिमनन्दितः श्रद्धते आस्तात्मीयभावेन प्रतिपद्यते तस्य जन्तोर्जीवस्य तस्पुद्रलद्वयं चतस्यु नारकादिगतिषु सामीय्यं प्रत्यासत्ति संयोगसंबन्धं जातु कदाचिदिष न त्यजति । अथाह शिव्यः-स्वरूपपरस्य किं भवतीति सुगम् । गुस्राहः-॥ ४६ ॥ अर्थ—जो हेयोपादेवके स्वरूपको न समझनेवाला, शरीरादिक पुद्रल द्रव्यको आप (आत्म) रूप तथा अपनेको (आत्माके) मानता है, उस जीवके साथ नरकादिक चार गतियोंमें वह पुद्रल अपना सम्बंध नहीं छोड़ता है, अर्थात् भव-भवमें वह पुद्रलद्भव्य जीवके साथ बँधा ही रहता है। उससे पिंड नहीं छुट पाता ॥ ४६॥

दोहा—पुद्रलको निज जानकर, अझानी रमजाय। चहुँगतिमें ता संगको, पुद्रल नहीं तजाय ॥ ४६॥ आत्मस्त्ररूपमें तसर रहनेवालेको क्या होता है ? आचार्य कहते हैं—

> आत्मातुष्ठाननिष्ठस्य, व्यवहारबहिःस्थितेः । जायते परमानन्दः, कश्चिद्योगेन योगिनः ॥ ४७ ॥

अन्वय—आत्मातृष्ठानिष्ठस्य व्यवहारपहिःस्थितेः योगिनः योगेन करिचत् परमानन्दो जायते ।

दोका—आत्मनोऽतुष्ठानं देहादेव्यावर्तं स्वातम्येवावस्थापनं तत्परस्य व्यवहारात्वृत्तिनृष्ठित्वक्षणाद्वाहाः
स्थितेः वाह्यस्य योगिनो व्यातुर्वोगेन स्वातमव्यानेन हेतुना कश्चिद् वाचामयोचरः परमोऽनन्यसंमधी आनंद उत्पथते ।
तत्कार्यमञ्जले—॥ ४७ ॥

अर्थ—देहादिकते हरकर अपने आसामें स्थित रहनेवाले तथा प्रवृत्ति-निवृत्ति-लक्षण-वाले व्यवहारसे वाहिर दूर रहनेवाले ध्यानी योगी पुरुषको आत्म-ध्यान करनेसे कोई एक वचनोंके अगोचर परम जो दूसरोंको नहीं हो सकता ऐसा आनन्द उत्पन्न होता है।। ४७।।

दोहा—ग्रहण त्यागसे शून्य जो, निज जातम टबर्छीन। योगीको हो ध्यानसे, कोइ परमानन्द नवीत॥ ४७॥

उस आनन्दके कार्यको बताते हैं-

आनन्दो निर्दहत्युद्धं, कर्मेन्धनमनारतम् । न चासौ खिद्यते योगी, बहिर्दुखेण्वचेतनः ॥ ४८॥

अन्वय—(सः) आनन्दः उद्घं कर्मेन्यनम् अनारतं निर्दहित योगी असौ च वहिर्दुःखेषु अचेतनः न खिद्यते।

. टीका—ए पुनरानस्य उद्यं प्रभूतं कमेसंततिं निर्देहति । विह्निस्थतं यथा । किं च अस्यानस्याधिक्षे योगी बहिद्देखेषु परीपक्षेपकर्मकरेतेषुअचेदनोऽसंवेदनः स्याचत एव न खिद्यते न संबच्छेयं याति । यस्मादेवं तस्माद्—॥५८॥

अर्थ—जैसे अधि, ईन्धनको जला डालता है, उसी तरह आलामें पैदा हुआ परमानन्द, हमेश्नासे चले आए प्रचुर कमींको अर्थात कमें-सन्तिको जला डालता है, और आनन्द सहित योगी, बाहिरी दु:खोंके-पीपह उपसर्ग संबंधी क्रेशोंके अनुमक्से रहित हो जाता है। जिससे खेदकेन (संक्रेशको प्राप्त महीं होता)।। ४८॥

दोहा-निजानद नित दहत है, कर्मकाष्ट अधिकाय। बाह्य दुःस निहं नेदता, योगी सेद न पाय॥ ४८॥ इसलिये---

अविद्याभिदुरं ज्योति , परं क्षानगयं महत् । तत्प्रप्टच्यं तदेष्टच्यं, तद् द्रप्टच्यं मुमुक्षुभिः ॥ ५९॥

अन्वय----अविद्याभिदुरं महत् परं ज्ञानमयं च्योतिः मुमुक्षुभिः तत् प्रष्ट्यं तत् पृथ्यं तद् द्रष्ट्यम् ।

टीका — तदानन्दस्वभावं ज्ञानमयं स्वार्थावभावातमकं परमुख्धमविद्याभिदुरं विभावस्त्रेदकं महत् विषुल्म हन्द्रादीनां पूर्वं वा क्योतिः प्रष्टव्यं मुम्बुधिर्मुवंदित्योऽत्र्योक्तव्यम् । तथा तदेव एष्टव्यं अभिव्यर्णीयं तदेव च द्रष्टवयः सम्वनीयम् । एवं व्युत्पाद्य विस्तरती व्युत्पाद्य उक्तार्थतत्त्वं परमक्रकण्या संरक्ष तन्मनिष्ठं संस्थापियत्वकामः सुरिरिदमाह कि बहुनेति । हे सुमते कि कार्ये बहुनोक्तन हैयोपादेयतत्त्वयोः संक्षेपेणापि प्राञ्चेतिष्ठ निवेद्ययिद्वं श्ववयवादिति भावः ॥ ४९॥

अर्थ—अविवाको दूर करनेवाली महान् उत्कृष्ट ज्ञानमयी ज्योति है। सो सुमुक्षुओं (मोक्षाभिलाषियों) को उसीके विषयमें पूछना चाहिये, उसीकी वांछा करनी चाहिये, और उसे ही अनुभवमें लाना चाहिये।

विरादार्थ—वह आनन्द स्वभावशाली, महान् उत्कृष्ट, विश्रमको नष्ट करनेवाली, स्वार्थको प्रकाशन करनेवाली, अथवा इन्द्रादिकोंके द्वारा पूज्य ऐसी ज्योति है। मोक्षकी इन्छा रखनेवालोंको चाहिये कि वे ग्रुरु आदिकोंसे उसीके विषयमें पूछ-ताछ करें। तथा उसीको चाहें, एवं उसीका अनुभव करें ॥ ४९॥

दोहा-पूज्य अविद्या-दूर यह, ज्योति बानमय सार। मोसार्थी पूछो चहो, अनुभव करो विचार॥ ४९॥

इस प्रकार शिष्यको विस्तारके साथ समझाकर आचार्य अब परम करुणासे उस कहे हुए अर्घस्वस्त्पको संक्षेपके साथ शिष्यके मनमें बैठालनेकी इच्छासे कहते हैं कि "हे सुमते-अच्छी बुद्धिबाले! बहुत कहनेसे क्या ? हेय-उपादेय तत्त्वोंको संक्षेपमें भी बुद्धिमानोंके हृदयोंमें उतारा जा सकता है। उन्हें सारस्त्यमें बतलाया जा सकता है।"

> जीवोऽन्यः पुद्गस्रश्चान्य इत्यसौ तत्त्वसंग्रहः। यदन्यदुच्यते किंचित्, सोऽस्तु तस्यैव विस्तरः॥ ९०॥

अन्वय—जीवः अन्यः, पुद्ररुश्य अन्यः इति असौ तत्त्वसम्रहः यत् अन्यत् किञ्चित् उच्यते स तस्येव विस्ताः अस्तु ।

दीका — जीवो देहादेभिन्नो देहादिश्च जीवाद्भिन्न इतीयानेव वारो विधायते आसनस्तरवस्य भूतार्थस्य संग्रहः सामस्त्येन ग्रहणं निर्णयः स्यात् । यस्युनरितस्तरवसंग्रहाः ीतृरिकं किन्द्रिदेशमेहादिकं किन्नग्रस्तिकाणोष्ट्रणाच्यो स्वयते स तस्येन विस्तरो स्यात् । यस्युनरितस्तरवसंग्रहाः भावः ॥ ५० ॥

आचार्यः शासाध्ययनस्य साधात्मारंपर्येण च फर्र अर्थ—' जीव जुदा है, पुदल जुदा है,

कुछ आ गया। इसके सिवाय जो कुछ ।

विज्ञदार्थ—'जीव, अरीरादिकसे भिन्न है 'अरीरादिक जीवसे भिन्न है ' वस इतना ही कहना है कि सत्यार्थ आत्मरूप तत्वका सम्पूर्ण रूपसे ग्रहण (निर्णय) हो जाय। और जो कुछ इस तत्व-संग्रहके सिवाय भेद प्रभेद आदिक विस्तारमें सुननेकी रुचि-इच्छा रखनेवाले शिप्योंके लिये आचार्योंने कहा है, वह सब इसीका विस्तार है। इसी एक बातको 'जीव जुदा है, और पुद्गल जुदा है, 'समझानेके लिये ही कहा गया है। जो विस्तार किया है। उसको भी हम श्रद्धाकी दृष्टिसे देखते हैं। ५०॥

दोहा—जीव जुदा पुद्रल जुदा, यही तत्त्वका खार। अन्य कळू व्याख्यांन जो, याहीका विस्तार ॥ ५०॥

आचार्य शास्त्रके अध्ययन करनेका साक्षात् अथवा परम्परासे होनेवारे फलको बतलाते हैं— इष्टोपदेशमिति संस्यगधीत्य धीमान्, मानापमानसमतां स्वमताद्दितन्य । मुक्ताग्रहो विनिवसन् सजने वने वा, मुक्तिश्रियं निरुपमामुपयाति मव्यः॥ ५१॥

अन्वय—इति इष्टोपदेशं सम्यक् अधीत्य धीमान् भव्यः स्वमतात् मानापमानसमतां वितन्य मुक्ताग्रहः सजने वने वा निवसन् निरुपमां मुक्तिश्रियम् उपयाति ।

दीका—इत्यनेन प्रकारेण इष्टोषदेशं इष्टं सुखं तत्कारणत्वान्मोक्षस्ततुपायत्वाच स्वातम्थानम् उपदिश्यते यथावत्प्रतिपाद्यते अनेनास्मिन्नितं वा इष्टोषदेशो नाम प्रन्यस्तं सम्यन्द्यवद्दारिनश्चयाभ्यामधीत्य पठित्वा चिन्तियत्वा च धीमान् हिताहितपरीक्षादक्षो भन्योऽनन्तज्ञानाद्याविभीवयोग्यो जीवः सुक्तिश्चयमनन्तज्ञानादिर्धपदं निरुपमामनौपम्यां प्राप्नोति । किं कुर्पन्युक्ताग्रहो वर्जितवहर्ष्याभिनिवेशः सन् सज्जे प्राप्नादे वने वाऽरुष्ये विनिवसन् विधिष्वं तिष्ठन् । कि कृत्वा, वितन्य विशेषण विस्तार्य । का, माने महस्वाद्याने अपमाने च महस्वद्यव्यन्ते समता रागद्वेषयोरमावम् करमाद्वेतोः, स्वमतात् इष्टोपदेजाध्ययनचिन्तनजनितादासमञ्जानात् । उक्तं च—॥ ५१॥

" यदा मोहात्म्रजायेते, रागद्वेषी तपस्विनः । तदैव भावयेत्स्वस्थमात्मानं साम्यतः क्षणात् " ॥ ३९ ॥-समाधि-श्रतकम् ।

अर्थ—इस प्रकार ' इष्टोपदेश ' को मली प्रकार पड़कर-मनन कर हित-अहितकी परीक्षा करनेमें दक्ष-निषुण होता हुआ स्वय अपने आत्म-ज्ञानसे मान और अपमानमें समताका विस्तार कर छोड़ दिया है आग्रह जिसने ऐसा होकर नगर अथवा वनमें विधिपूर्वक रहता हुआ उपमा रहित मुक्तिस्पी लक्ष्मीको प्राप्त करता है।

विरादार्थ—इष्ट कहते हैं सुखको-मोक्षको और उसके कारणभूत स्वात्मध्यानको । इस इष्टका उपदेश यथावत् प्रतिपादन किया है जिसके द्वारा या जिसमें इसिटिये इस प्रन्थको कहते हैं 'इष्टोपदेश '। इसका मटी प्रकार व्यवहार और निश्चयसें पठन एवं चिन्तन करके हित और अहितकी परीक्षा करनेमें चतुर ऐसे भव्य प्राणी, जिससे अनन्त-ज्ञानादिक प्रगट हो सकते हैं—इस इष्टोपदेशके अध्ययन-चिन्तन करनेसे उत्पन्न हुए आत्मज्ञानसे मान-अपमानमें राग-द्वेपको न करना रूप समताका प्रसार कर नगर-प्रामादिकोंमें अथवा निर्जन-वनमें विधि-पूर्वक ठहरते हुए छोड दिया है

इसलिये-

अविद्याभिदुरं ज्योतिः, परं ज्ञानमयं महत् । तत्प्रष्टन्यं तदेष्टन्यं, तद् द्रष्टन्यं सुसुद्युभिः॥ ६९॥

अन्वय-अविद्यासिदुरं महत् परं ज्ञानमयं ज्योतिः सुसुक्षुभिः तत् पृष्टव्यं तत् एष्टव्यं तद् द्रष्टव्यम् ।

टीका — तदानन्दरवभावं ज्ञानमयं स्वार्थावभागासकं परमुख्यमिव्हामित्हरं विभ्रमच्छेदकं सहत् विपुष्टम् हन्द्रादीनां पूरुपं वा ज्योतिः प्रष्टव्यं मुख्युमिर्गुवंदिस्योऽनुयोक्तव्यम् । तथा तदेव एष्टव्यं अभिष्टपणीयं तदेव च द्रष्टव्यमदुभयनीयम् । एवं स्तुरवाद्य विस्तरतो स्तुत्याद्य उक्तार्थतत्त्वं परमक्ष्यण्या संग्रह्म तन्मति संस्थापितृकामः सूरिरिदमाह्
किं बहुनेति । हे सुमते किं कार्यं बहुनोक्तेन हैयोपादेयतत्त्वयोः संस्तेपणापि प्रावचेतिसि निवेद्ययिद्धं शक्यस्वादिति
भावः ॥ ४९॥

अर्थ-अविधाको दूर करनेवाली महान उत्कृष्ट ज्ञानमयी ज्योति है। सो मुमुक्कुओं (मोक्षाभिलापियों) को उसीके विषयमें पृष्ठना चाहिये, उसीकी वांछा करनी चाहिये, और उसे ही अनुभवमें लाना चाहिये।

विद्यादार्थ—वह आनन्द स्वमावज्ञाली, महान उत्कृष्ट, विभ्रमको नष्ट करनेवाली, स्वार्थको प्रकाशन करनेवाली, अथवा इन्द्रादिकोंके द्वारा पुल्य ऐसी ज्योति है। मोक्षकी इच्छा रखनेवालोंको चाहिये कि वे गुरु आदिकोंसे उसीके विषयमें पुछ-ताछ को । तथा उसीको चाहें, एवं उसीका अनुभव को ॥ ४९॥

दोहा--पूज्य अविद्या-दूर यह, ज्योति झानमय सार । मोक्षार्थी पूछो चहो, अनुभव करो विचार ॥ ४९ ॥

इस प्रकार शिष्यको विस्तारके साथ समझाकर आचार्य अव परम करुणासे उस कहे हुए अर्थस्वस्त्रपको संक्षेपके साथ शिष्यके मनमें वैठालनेकी इच्छासे कहते हैं कि "हे सुमते अच्छी बुद्धिवाले ! बहुत कहनेसे क्या ? हेय-उपादेय तत्त्वोंको संक्षेपमें भी बुद्धिमानोंके हृदयोंमें उतारा जा सकता है । उन्हें सारस्त्रमें वतलाया जा सकता है ।"

> जीवोऽन्यः पुद्गलश्चान्य इत्यसौ तत्त्वसंग्रहः । यदन्यदुच्यते किंचित्, सोऽस्तु तस्यैव विस्तरः ॥ ५० ॥

अन्वय--जीवः अन्यः, पुद्गलश्च अन्यः इति असौ तत्त्वसंग्रहः यत् अन्यत् किञ्चित् उच्यते स तस्यैव विस्तरः अस्त ।

टीका — जीनो देहादेभिन्नो देहादिश्च जीनान्नित्र इतीयानेन असी विधीयते आसमस्तत्वस्य भूतार्थस्य पंत्रहः सामस्त्येन ग्रहणं तिर्णयः स्यात् । यस्पुनरितस्तत्त्वसंग्रहादत्यदितिरक्तं किन्द्रिदरप्रमेदादिकं विस्तरक्रचिशिष्यापेक्षयानार्थे-रुच्यते स तस्यैन विस्तरो न्यासो यस्तु तमपि नयमभिनन्दास इति भावः ॥ ५० ॥

आचार्यः शास्त्राध्ययनस्य साक्षात्पारंपर्येण च फलं प्रतिपादयति;—

अर्थ—' जीव जुदा है, पुरुष्ठ जुदा है,' वस इतना ही तत्वके कथनका सार है, इसीमें सब कुछ था गया। इसके सिवाय जो कुछ भी कहा जाता है, वह सब इसीका विस्तार है। विश्वादार्थ—'जीव, शरीरादिकसे भिन्न है 'शरीरादिक जीवसे भिन्न है ' वस इतना ही कहना है कि सत्यार्थ आत्मरूप तत्त्वका सम्पूर्ण रूपसे ग्रहण (निर्णय) हो जाय। और जो कुछ इस तत्त्व-संग्रहके सिवाय भेद प्रभेद आदिक विस्तारमें सुननेकी रुचि-इच्छा रखनेवाले शिप्योंके लिये आचार्योंने कहा है, वह सब इसीका विस्तार है। इसी एक बातको 'जीव छुदा है, और पुद्रल छुदा है, 'समझानेके लिये ही कहा गया है। जो विस्तार किया है। उसको भी हम श्रद्धाकी दृष्टिसे देखते हैं। ५०॥

दोहा---जीव जुदा पुद्रल जुदा, यही तत्त्वका सार। अन्य कल्लू व्याख्यान जो, याहीका विस्तार ॥ ५० ॥

आचार्य शास्त्रके अध्ययन करनेका साक्षात् अथवा परम्परासे होनेवाले फलको वतलाते हैं— इष्टोपदेशमिति सस्यगधीत्य धीमान्, मानापमानसमतां स्वमताद्वितन्य । मुक्ताग्रहो विनिवसन् सजने वने वा, मुक्तिश्रियं निरुपमामुपयाति मन्यः॥ ५१॥

अन्वय—इति इष्टोपदेशं सम्यक् अधीत्य धीमान् भन्यः स्वमतात् मानापमानसमतां वितन्य मुक्ताग्रहः सजने वने वा निवसन् निरुपमां मुक्तिश्रियम् उपयाति ।

टीका—इत्यनेन प्रकारेण इष्टोपदेशं इष्टं मुखं तःकारणत्वान्मोक्षस्ततुवायत्वाच स्वात्मच्यानम् उपिद्दयते यथावत्प्रतिवायते अनेनारिमन्निति वा इष्टोपदेशो नाम प्रन्यस्तं सम्यग्व्यवद्दारिनश्चयाभ्याभधीत्य पठित्वा चिन्तियित्वा च धीमान् हिताहितपरीक्षादक्षो भव्योऽनन्तज्ञानाद्यांवर्भावयोग्यो जीवः मुक्तिश्चयमनन्तज्ञानादिर्सपदं निरुपमामनौषम्यां प्राप्तोति । किं कुर्वन्मुक्ताग्रहो वर्जितवहिर्याभिनवेदाः सन् सजने प्रामादौ वने वाऽरण्ये विनिवसन् विधिपूर्वकं तिष्ठन् । कि कृत्वा, वितन्य विशेषेण विस्तार्य । का, माने महत्त्वाधाने अपमाने च महत्त्वखण्डने समता रागद्वेषयोरमावम् करमाद्वेतोः, स्वमतात् इष्टोगदेज्ञाध्ययनचिन्तनजनितादात्मज्ञानात् । उक्तं च—।। ५१॥

'' यदा मोहाःप्रजायेते, रागद्वेषी तपस्विनः । तदैव भावयेःस्वस्थमात्मानं साम्यतः क्षणात् " ॥ ३९ ॥-समाधि-शतकम् ।

अर्थ—इस प्रकार 'इष्टोपदेश ' को भठी प्रकार पड़कर-मनन कर हित-अहितकी परीक्षा करनेमें दक्ष-निषुण होता हुआ भव्य अपने आत्म-ज्ञानसे मान और अपमानमें समताका विस्तार कर छोड़ दिया है आग्रह जिसने ऐसा होकर नगर अथवा वनमें विधिध्वक रहता हुआ उपमा रहित मुक्तिक्ष्मी लक्ष्मीको प्राप्त करता है।

विश्रादार्थ—इष्ट कहते हैं सुखको-मोक्षको और उसके कारणभूत स्वात्मध्यानको । इस इष्टका उपदेश यथावत प्रतिपादन किया है जिसके द्वारा या जिसमें इसलिये इस ग्रन्थको कहते हैं 'इष्टोपदेश '। इसका मली प्रकार व्यवहार और निश्चयसे पठन एवं चिन्तन करके हित और अहितकी परीक्षा करनेमें चतुर ऐसे भव्य प्राणी, जिससे अनन्त-ज्ञानादिक प्रगट हो सकते हैं—इस इष्टोपदेशके अध्ययन-चिन्तन करनेसे उत्पन्न हुए आत्मज्ञानसे मान-अपमानमें राग-द्वेषको न करना रूप समताका प्रसार कर नगर-ग्रामादिकोंमें अथवा निर्जन-वनमें विधि-पूर्वक ठहरते हुए छोड़ दिया है

वाहिरी पदार्थोंमें में और मेरेपन का आग्रह अथवा हठाग्रह जिसने ऐसा वीतराग होता हुआ प्राणी अनुपम तथा अनन्त ज्ञानादि गुणोंको और सम्पत्तिस्त्य मुक्ति-रुक्ष्मीको प्राप्त कर लेता है। जैसा कि कहा गया है "यदा मोहाल्यजायेते०"॥

जिस समय तपस्वीको मोहके उदयसे मोहके कारण राग द्वेप पेदा होने टर्गे, उस समय शीघ्र ही अपनेमें स्थित आत्माकी समतासे भावना करे, अथवा स्वस्य आत्माकी मावना मावे, जिससे क्षण-मरमें वे राग द्वेप शान्त हो जावेंगे॥ ५१॥

> दोहा—इएरूप उपदेशको, पढ़े सुबुद्धी भन्य । मान नमानमें साम्यता, निज मनसे कर्तव्य ॥ ५१ ॥ आग्रह छोड़ स्वग्राम में, वा वनमें सु वसेय । उपमा रहित स्वमोक्षशी, निजकर सहजहि छैय ॥ ५२ ॥

आगे इस ग्रन्थके संस्कृतटीकाकार पंडित आशाधरजी कहते हैं कि-

प्रशस्ति :

विनयेन्द्रभुनेर्वाक्याद्भव्यानुग्रहहेतुना । इष्टोपदेशटीकेयं कृताशाधरधीमता॥

अर्थ—विनयचन्द्र नामक मुनिके वाक्योंका सहारा लेकर भन्य प्राणियोंके उपकारके लिये मुझ आशायर पंडितने यह इप्टोपदेश नामक ग्रन्थकी टीका की है।

> उपराम इव मूर्तः सागरेन्द्रोमुनीन्द्रादजनि विनयचन्द्रः सञ्चकोरेकचन्द्रः। जगदमृतसगभौ शास्त्रसद्भेगभीः, शुचिचरितवरिष्णोर्थस्य धिन्वन्ति वाचः॥२॥

अर्थ—सागरचन्द्र नामक मुनीन्द्रसे विनयचन्द्र हुए जो कि उपशमकी (शांतिकी) मानो मृतिं ही थे, तथा सजन पुरुषस्थी चकोरोंके ठिये चन्द्रमाके समान थे, और पवित्र चारित्रवाठे जिन मुनिके अमृतमयी तथा जिनमें अनेक शास्त्रोंकी रचनाएँ समाई हुई हैं, ऐसे उनके वचन जगतको तृति व प्रसन्नता करनेवाठे हैं।

जयन्ति जगतीवन्द्या, श्रीमन्नेमिजिनाङ्घयः । रेणघोऽपि शिरोराङ्गामारोहन्ति यदाश्रिताः ॥३॥

अर्ध—जगहंद्य श्रीमान् नेमिनाय जिनसगवानके चरणकमल जयवन्त रहें, जिनके आश्रयमें रहनेवाली धृति भी राजाओं के मस्तकपर जा बैटती है।

इति श्रीपूज्यपादस्वामिविरचित इष्टोपदेशः समाप्तः।

इस प्रकार श्रीपुज्यपादस्वामीके द्वारा बनाया हुआ 'इष्टोपदेश ' नामक अन्य समाप्त हुआ ।

परिशिष्ट नं १

श्रीपूज्यपादस्वामीकृत श्लोकांचा श्रीअज्ञात कविकृत मराठी पद्मानुवाद

इष्टोपदेश।

--:0:---

कर्मा समूळ नाशुनि प्रगटविती जे स्वयं स्वसीवार्ते । वंदन त्या हो माझे सम्यग्शन-स्वरूपि आत्म्याते ॥	१
स्वर्णज्ञयें वर्नेत हो त्या दगडांतून मानिती कनक । आत्मत्व मिळिन आत्मा होता द्रव्यादि चार तें एक ॥	₹
वत सुखद दे म्हणुनी इष्टचि परि अवतें मिळें नरक । छायेंत मित्र जेवीं बघत उमे वाट आर्तेपीं एक ॥	ş
ज्या चिंतवितां लाभे शिव, त्याते स्वर्ग दूर किति राही । क्रोशार्द्ध खेद कसा, जो सहजिच भार कोस दों नेई ॥	¥
स्वर्गिय सुरसुख असर्ते निरोगि ते अक्षैजन्य नाकांतें । बहुकाळ भोगतां येते सुख त्यानांच योग्य छोकांत ॥	ų
फक्त वासना असती संसारीचे जगांत सुख-दुःख । दाविति आपस्कार्ळी रोगासम अक्षमोग भय देख ॥	Ę
संबुर्त मोहे ज्ञान न जाणी द्रध्यस्त्रमान, मत्त वने । द्रव्ये मद्योत्पादक पदार्थमावा तसा न नर जाणे ॥	b
घर, धन, शरीर, दारा शत्रू मित्रादि पुत्र बस्तूंना। अन्यस्वभावि सगळें परि मानी मूढ आपुले स्यांना ॥	ć
निश्चि खग येउनि वस्ती, दिग्देशातुन नगानगावरती । निज निजकार्यवर्शे ते देशोदेशी उजाडतां जाती ॥	9
केचिं विराधर्कं मारिति त्यातें, करि त्या जनावरी कोष । न्यंगुळैषदीं घरोनी पाडी, दण्डे पडे अपोआप ॥	१०
रागद्वेपे मधितां कर्माचें वध निघेचि नवनीर्त । जीवात्मा अज्ञानें त्या चिर संसार-सागरी भ्रमत ॥	११
	१२
- 4	₹₹
इतरांसम अपणातें येति विपत्ति न विचार मूढांस। पशु जळती वनि बधुनी तस्वर बसुनि न विचारि निजनाश।।	٤x
,	१५
·	१६
***	१७
•	१८
· · · · · · · · · · · · · · · · · · ·	१९
चितामणि दिव्य तमा खेंडे पेंडिचा तथापि निःसार। लामति उभयध्याने कोणा बुध मानतील बध सौरे ॥	२ ०

१ मूळ स्वरूपवाळा २ उन्हांत ३ इन्द्रियजन्य ४ स्वर्गात ५ वेष्टित ६ वदला घेणारा ७ एक माती खांदणेचें यंत्र अर्थात् कुदाळ फावडे या सारखे ८ लोणी ९ संसारांत पदींपदी येणारी १० चिखलानें ११ तुकडा १२ श्रेष्ट स्वात्रभयें तो प्रगट प्राप्त देह सम जया असे मार्ने । अत्यंत सखी आत्मा छोकाळेकावळोकि वद जाण ॥ २१ व कार्यामें देशिय-विवयाने स्वयंत्रि संवर्षे जाती । शासकानी आस्मा आस्यामार्की वसे तथा चिती ॥ ąą अवक्रीत अश्वाना जन्मा जानमूनि है हान । जें ज्या नवलीं हो में जिहें है प्रत्यात हैं असे वचन ॥ २३ अध्यास्म्याच्या योगं पराष्ट्रहाविक न तेच अनुमन्नतां । आस्त्रच निरोधिकमी चेड निर्जरा स्वीम की स्रीतां ॥ 58 कर्ग चर्रां चार्रां वा भी वांतरित संबंध किय होशांचा । ध्यान ध्येवस्ति शासा केर्टी संबंध किय वट त्याचा ॥ ąų भोक्षी कर्मा यांची निभोदी तो तयांहती सुरत । ब्हणूनी समस्या बरने निर्मण मावास मावण सतत ॥ ₹ निर्मेहि एकटा भी विश्वत योगींद्रगोर्चिर शनी । बाह्यमाय संयोगन ते मजहन बाह्य सर्व तं जाणी ॥ २७ प्राण्या दःग्यसप्रहा संयोगे भोगणे पडे भूवनीं। म्हणनी त्यनिती स्वाते सगळ्या मन वचन काय-कमीनीं ॥ २८ मार्ग न भरण देखी सब ना. व्याधी कभी व्यथा होय ! मी बुद्ध न बाल न मी तरुण न है भेद पुटली पाय !! भीतें सेवत सार्व्ध स्था पहल भीग भीतनी त्यनिलें । वद मज तत्त्वज्ञान्या त्या उच्छितंत राग कैवि गळे १ ॥ कांनि हिराकर कर्मा आतम आरम्यास हो हिराबह तो। स्वरवप्रभाव नाणनि, स्वार्यो वद कोण ना नगीं वहती ॥३१ परोपकति ती त्यज्ञनी सञ्चासम हो स्वतास उपकारी । हृदयमानदा। अञ्च करि उपकार न असे परा भारी ॥ 38 अस्यांसं उपदेशें गुरुष्या तो अनुभवन आत्म्यातें । निजपर भेदा जाणूनि, मोगी विरकाल मोक्ष सौस्यातें ॥ 33 स्या सी सद अभिकापा इष्ट वस्तुचें तथा असे ज्ञान । आस्माच गुरू आस्म्या प्रेरक निजहित असे स्वता जाण ॥ ३४ अग्र न अततो शता विश्वाता मुर्ख तो कथी नसतो । दुसरे निमित्त केवळ गतिते धर्मास्तिकाय जै होतो ॥ 34 थिक्षेव न मनि यसनी तत्वीं संस्थित वसून एकांतीं । अभियोगें त्या स्वात्मिक तत्त्वा अभ्यातणें मने जगतीं ॥ 38 ं! आसातस्य उत्तव स्वानभवाने जर्से क्से क्से केते । विवय सरुभ ते असनी कदां न जीवा दसे वसे दखते ॥ 319 इंद्रिय-विषय न जेथी सुलम असोनी न उचित पुरुषातें । तेवी उत्तम तत्त्वचि, उचते निज अनुभवार येतां ते ॥ ३८ आसमलाग तो प्रन्ती प्रदलालसम जगास नि:शेष । बहानी, विषयांत द्वया स्मतां, मनि खेद होड वह स्यास ॥ ३९ प्रश्वाने अशिवयरने निर्वत प्रकांतवासि तो रमतो । निरादार्यवद्वी किंचित बोद्धन विसर्कन त्यास तो नातो ॥ ग्रीवरा अमृति न बोले चालत असतं कदां न तो चाले। पाइत अस्ति न पाडी आस्मिक तत्त्वीं रिवरत्व मेळविलें ॥४१ फोण अजाने कैसे कवर्ण कोठें असेच हा राम । त्यागुनि विकल्प देहा, जाणि न निजयोगि योग विश्राम ॥ ٧Ŷ जो जेथे परित करी, तेथे तो जीव फरिससे प्रीति । समगण निये होतो तेथन कोठे न जात तो जगती ॥ ٧ŧ सोहन कुठे न जाती राहि, विशेषा तदीय अनुभिन्न । तहिशेष अञ्चलें हो बद्ध न एक होय परि सन्न ॥ YY पर तें पर दु:खद हो आरम्या आरमेंच सौख्य मानवतें। तद प्राप्तिरतव उद्यम करिती म्हणूनी महान सानव ते ॥ ४५ करि पदल वस्तुचें अभिनंदन जो जगीं अविद्वान । सहवास जंतचा त्या सोंडी चारी गर्शीत ते कवि न ॥ γĘ ध्यवहार-वाह्य होउन आत्मध्यानांत होड लव-लीत । योगाच्या योगबळे त्या वरमानंड एक वे जरून ॥ ٧ŧ अधिकवि जाळितसे धा, अनंत कर्मेथनाए आनंद । बहिरंग दुःख योगी मुळि अनुसवतां न पावतो खेद ॥ 84 पर अविधेतन ती शांतमयी श्रेष्ठ परमशी ज्योति । प्रश्न करी अनुमव चे विचार त्याचा करीच मोक्षार्थी ॥ 88 हा संग्रह तत्वांचा वय प्रहरू जीव दोन ते भिन्न । जे अन्य जाह कथिले त्याचा विस्तार तो ठरे जाण ॥ ķ इष्टोपदेश तुष वाचुन चितवून । मानापमानि समता स्वमते वरून ॥ मुक्तांग्रेहीं जनि बनी विधिने वैद्धन । मुक्तिक्षिया निरुपमा करि प्राप्त जाण ।।

११ प्रमाण १४ सद्बुद्धिशाली, फेबल्यामी १५ गोचर-नाण्यं जातें ने ज्ञानांत जातें तें १६ बोकून टाकटेर १७ मुक्तीच्या लागरात. १८ विधिर्मुक.

परिशिष्ट नं० २ श्री*पत्*पुच्यपादस्वामिकत श्लोकोंना

श्रीरावजीभाई देसाई श्रीमद राजचंद्र आश्रम अगासकृत गुजराती पद्यानुवाद ।

इष्टोपदेश।

मंगलाचरण अनुष्टुप छंद

अपूर्व तत्त्वदृष्टिना, दाता सद्गुरु राजने; नमी इष्टोपदेशे आ, रमुं, साधुं स्वकाजने ॥ पूज्यपाद स्तिवर्ये, रच्यो इष्टोपदेश आ; रमावी आत्मवृत्ति त्यां, मोक्षार्थी श्रेय साधता॥

> अवतरण ग्रन्थारंभ

सर्व कमों हणी पोते, पाम्या आत्मस्वभावनेः केवळज्ञानरूपी ते, नम् सत् परमात्मने ॥ १ ॥ स्वर्णपापाण सहेत पामी सोनं वनी रहे; सद्रव्यादि तणा योगे, आत्मा शुद्धात्मता रहे ॥ २ ॥ वतो आपे सुखो स्वर्गे, अवतो नरके दृ:खो: छांगे तापे उमा बेनो, भेद मोटो अहो छखो ! ॥ ३॥ आत्मभाव यदि मोक्ष आपे स्वर्भ विस्तात नाः कोश वे जे छई जाये, क्रोशार्धे थाय म्हात ना ॥ ४ ॥ स्वर्गमां अमरोने जे सुखो इन्द्रिय जन्य ए. निरामधी चिरस्थायी देवोने योग्य भोग्य ते ॥ ५ ॥ जीवोनी वासना मात्र ए इन्द्रिय सुखो दु:खो: भोग ते रोगवत पीडा. आपे आपित्तमां जुओ ॥ ६ ॥ मोहाच्छादित जो ज्ञान, जाणे ते न स्वभावने: मेणो चढ्ये खवे प्राज्ञो, शुद्धि, वृद्धि-प्रभावने ॥ ७ ॥ देह गेहादि खी पुत्रो, शत्र मित्रो धनादि तो: स्वभावे सर्वथा न्यारां, मूढ माने स्वकीय जो ॥ ८ ॥ भिन्न देश दिशामांथी पक्षी आवी तरू वसे: प्रभाते सौ स्वकार्यार्थे, ऊडी जाये दिशे दिशे ॥ ९ ॥ विराधे अन्यने तुं तो, अन्य ते तुजने हणे; करे छै कोध त्यां शाने ? वावे तेवं जगे छणे ॥ १०॥ अक्षाने राग ने द्वेष, नेतरां कए नोतरे; खेंचातां, दंडवत जीवो, भवाव्धिमां भम्या करे ॥ ११ ॥ विपत्ति एक ज्यां जाये, आवे तेवी बीजी घणीः संस्तारे प्राणीने एवी, घटमाळ विपत्तिनी ॥ १२ ॥ कमातां रक्षतां कप्र धनादि नारावंतने; सुखी तथी गणे तो, शं, सुख घीथी ज्वरार्तने ? ॥ १३ ॥ विपत्ति अन्यनी जोतां, पोतानी न विचारतो; वने ज्यां सौ बळे प्राणी, मुर्ख बक्षे रह्यो छतो ॥ ५८ ॥ आय-भोगे वधे उक्ष्मी, धनिको तोय ते चही, धनार्थे आयु गाळी दे, प्राणधी इष्ट श्री तहीं ॥ १५॥ दान के पुण्यना नामे, निर्धनो धन संग्रहे; तो ते 'स्नाने यशं शृद्ध ' चही पंके वृथा पढे ॥ १६॥ पमाये कप्रथी भोगो, पाम्ये तृप्ति न आपता; त्यागतां दुःख दे अंते, तेमां सुहो शुं राचता ? ॥ १७ ॥ जेना संगे शुचि एवा, पदार्थी अशुचि वने, ते दुःखमूर्ति देहार्थे, भोगनी चाह श्रं तने ? ॥ १८॥ आत्माने श्रेयकारी जे, देहने अपकारी ते, कितु देहोपकारी जे, आत्माने अपकारी ते ॥ १९ ॥ दिप्य चिंतामणि एक, काचनो कटको बीजो: मळे जो ध्यानशी बन्ने, बिवेकी इच्छन्ने क्यो ?॥ २०॥ स्पष्ट स्वातुभवे व्यक्त, अक्षयी देहच्यापक; आनंदधाम आ आत्मा, लोकालोक-प्रकाशक ॥ २१ ॥ चित्त-पकाग्रता साधी, रोकी इन्द्रिय-ग्रामनेः आत्माशी संयमी ध्यावे, आत्ममां स्थित आत्मने ॥२२॥ ब्रानीना आश्रये ब्रान, अब्रथी अब्रता मळे; 'होय जेनी कने जे ते, आपे ' होकोक्ति ए फळे ॥ २३ ॥

परीषद्दो जणाये ना, मग्न अध्यात्ममां थतां, आसवो रोफती थाये कर्मनी शीघ्र निर्जरा ॥ २८ ॥ फर्ता हं सादडीने त्यां के संबंध जवे। कह्याः ध्यान-ध्येय स्वयं आत्मा त्यां संबंध कया रह्यां ?॥२५॥ ममताथी जीवने वंध, मक्ति निर्ममता थकी, माटे सर्व प्रयत्ने ए, ध्यावी निर्ममता नकी ॥ २६ ॥ निर्मम एक हुं शुद्ध, झानी योगीन्द्रगोसरः सर्वे संयोगी भावो ते, स्वात्माथी सर्वथा पर ॥ २७ ॥ दुःखना डुंगरी वेदे, जीवो संयोग कारणे; मन घाणी तज्ञ कर्मे तज्जं संयोग सर्धने ॥ २८॥ मने ना मृत्यु, भीति शी र मने ना रोग, शी व्यथा ै ना हुं तरुण, ना वृद्ध, बाळ ना पुटले वधां॥२९॥ मोहथी भोगवी छोड्यां, पहलो सी फरी फरी, हवे प पंठमां मारे, ब्रानीने शी स्पृहा बर्ळा ? ॥ ३०॥ कर्मी कर्महित ताके जीघो इच्छे स्वश्लेयनेः स्व स्व प्रभावयोगे सौ. साधे कोण न स्वार्थने १॥ ३१॥ देहादि अन्यना अह उपकारे शी वर्तना ! लोकवत स्वार्थ साधी ले. त्याच्य अन्योपकार हा ! ॥३२॥ गुरुवोधे, स्वअभ्यासे, स्वानुभृतिथी जाणताः भारमा ने अन्यनो मेद, ते मुक्तिः सुख मानता ॥३३॥ स्वयं सत्तनी करे इच्छा, स्वयं द्वापक श्रेयनोः स्वयं स्वश्रेयमां वर्ते, स्वयमेव गुरु स्वनो ॥ ३४ ॥ पामे ना बानता अब, बानी ना अबता शहै: निमित्तमात्र बीजा तो, गतिमां धर्मचन, बने ॥ ३५ ॥ शमावी चित्तविक्षेपो, एकांते लीन आत्ममां; अभ्यासे उद्यमे योगी, सहजातमतत्त्वता ॥ ३६ ॥ अनुसति निजातमानी, जैस जैस प्रकाशती: तेम तेम छता भोगे, स्वयं रुचि विरामती ॥ ३७ ॥ जेम जेम छता भोगे. स्वयं रुचि विरामतीः तेम तेम अनुभृति परात्मानी थती छती ॥ ३८ ॥ समस्त विश्वने भाळे, इन्द्रजाळ समुं ब्रुथा; अत्म लाभ सदा इच्छे, पस्ताये परमां जतां ॥ ३९ ॥ इच्छे एकांतमां वास, चाहे निर्जनता सदा; घदे कार्यघरी किंचित, तेय शीव्र भूली जता ॥ ४० ॥ बोले तोचे न बोले ते. बाले तो ये न बालता, स्थिरता आत्मतस्वे जो, देखे तो ये न देखता ॥४१॥ विचारे ना शूं आ केंद्रं कोनं क्यांथी वळी कहीं ? योगी तो योगमां ठीन, देहमानेय ज्यां नहीं ॥४२॥ जेमां जे वसी रहे छे, त्यां ते रित करे अतिः जेमां रमणता जेनी, त्यांथी अन्यत्र ना गति ॥ ४३ ॥ अन्यत्र ना गति तेथी, अन्यने ना अनुभने, अनन्य उपयोगी ते, अवंध मुक्ति भोगने ॥ ४४ ॥ अन्य ते अन्य, त्यां दुःख, आत्मा आत्माज ते सुखीः आत्मार्थेज महात्मानी, साधना सर्वतोमखी।४५ थक्ष जे पुत्रसहत्ये राचे ते पुत्रस्थे पछीः तेनो पीछो तजे नांहीं कदी चतुर्गतिमहीं ॥ ४६ ॥ ध्यानमां मग्नता ज्यां त्यां, वाह्य व्यापारशून्यताः, ध्यानथी योगी आस्वादे, सिचदानंद व्यक्तता ॥४७॥ कर्म-राशि दहे नित्य, ते आनंद हताशन; खेद ना पामता योगी, वाहा दृःखे अचेतन ॥ ४८ ॥ अविद्या भेदती ज्योति, परंज्ञानमयी महाः सुमुक्ष मात्र ए पूछे, इच्छे, अनुभवे सदा ॥ ४२ ॥ आत्मा ने पुरुलो जुदां, मात्र आ सार तत्त्वनोः अन्य जे कांई शास्त्रोक्त, आनो विस्तार ते गणो॥५०॥

बसन्ततिलका

इष्टोपदेश मतिमान भणी यथार्थ, मानापमान समताश्री सहे कृतार्थ; निराग्रही बन विपे जनमां घसे वा, पामे अनुप शिवसंपद भव्य तेवा ॥ ५१ ॥ सद्वोध सहुरुतणो जीव जे उपासे, तेने निजात्म थकी पुद्रल भिन्न मासे; स्वातुभवे सहज आत्मस्वरूप राजे, ते सीख्य-धाम परमात्मपदे विराजे ॥

परिशिष्ट नं. ३

ॐ तमः

श्रीपूज्यपादस्वामिकृत

इष्टोपदेश।

THE DISCOURSE DIVINE

Late Mr. Champatrai Jain, Bar-at-Law Vidyāvāridhi.

यस्य स्वयं स्वभावाधिरभावे कृत्स्नकर्मणः। तस्मै संवानक्षपाय, नमोऽस्तु परमात्मने ॥१॥

He who has attained the purity of his nature by the destruction of all his karmas by his own effort—to such an Omniscient Paramatman salutation is offered.

Note:—Omniscience is the attribute of the Pure and Perfect soul, and is the most essential of divine qualities, which are all implied in it. In Jainism salutation is offered to Divinity not because the devotee expects any boons from the object of his veneration and worship, not because salutation is pleasing to Him who is the embodiment of all divine attributes, not even because such salutation is itself, in any sense, the aim and object of worship, but because, the Paramatman is the Ideal of Perfection for the devotee, who wants to realize it in His own self, and because the adoration of Him who represents the Perfection of Divinity in His own pure being is the only means of attaining to it, at least in the earlier stages of the path.

योध्योपादानयोगेन, इषदः स्वर्णता मता । द्रव्यादिस्वादिसंपत्तावारमनोऽप्यारमता मता ॥२॥

As gold in the ore is held to become pure gold on the intervention of the real causes of purification, in the same manner on the attainment to self-nature the impure (unemancipated) soul is also regarded as pure Spirit.

Note:—The impure ego is like gold in the state of ore; both of them possess the potentiality of attaining to purity and perfection, when rid of the adhering impurities. Smelting is the process employed to obtain pure gold from the ore, which means the removal of the nongold that is found to be mixed up with it. A lump of ore, thus, represents pure gold plus so much dross added to it. In the same way the maneipated soul is pure Spirit plus so much filth or dirt (matter) adhering to it. Hence, when the filth is removed by a process akin to that of smelting in the case of gold, the foreign material is separated off and self-nature attained, on the emergence of the purity of sva-dravya (own substance), consequent on the elimination of constituents of the not-self. The term sia-dravya (own-substance) here includes the other three conceptions that are homogeneous with it, namely sia-kāla (own-time, signifying the external states that are changing in time), sia-kāla (own-fielings or own nature, i.e., internal

states). These may be termed the 'sva' quartette technically. The soul that is rid of the not-self exists in its own nature with respect to the sva quartette, while the transmegrating ego is overwhelmed with the conditions and limitations imposed by the companionship of the not-self. This may be explained in a tabulated form, as follows:—

Pure Spirit.	Conditions, of existence	Impure ego.
Exists in His own substance	Dravya ,	Exists mixed with impurities of the nature of the not-self.
Is Divine all over	Kshetra	Is involved in impurities all over.
Abides in a form that is His own for ever more	Kâla	Possesses a form that is liable to periodic changes on account of the liability to birth and death.
Always enjoys the bliss and blessed- ness, appertaining to pure Spirit.	Bhāva	Is devoid of self-feeling, and passes a joyless, cheerless exi- stence, generally.

वरं बतैः पदं देवं, नावतैर्वत नारकम् । छायातपस्थयोर्भेदः, प्रतिपालयतोर्भहान् ॥ ३॥

Observance of vows leads to birth in the heavens, therefore their observance is proper; the vowless life drags one to a birth in the hells, which is painful; therefore, vowlessness should be avoided; when two persons are waiting for the arrival of another person, but one of them waits in the heat of the sun and the other in the shade, great is the difference between their conditions; precisely the same difference is to be found between the condition of him who leads a life regulated by the vows and of him whose life is not so regulated.

Note:—In the last verse divinity is said to be the natural attribute of the soul which arises from within its own self on the occurrence of the helpful causes of Self-realization. Naturally enough the question now arises why should one take the trouble of observing yows and otherwise subjecting one self to a life of austerities and hardships, considering that Divinity is actually the potential nature of the soul? Will not the supreme status be obtained without undergoing penances and without yows? The reply is given here in this verse. Painful, at times very painful, indeed, is the life which results from the non-observance of yows. One might even descend into hells which is the most undesirable condition of existence. On the other hand, the observance of yows leads to very happy and desirable conditions, including a birth in the heavens. Therefore the achiarya says and desirable conditions, including a birth in the heavens. Therefore the achiarya says and desirable conditions, including a birth in the heavens. Therefore the achiarya says whose hie is not so regulated is precisely that between the condition of the man who is waiting for the arrival, of a companion in the heat of the day, exposed to hot winds and the burning glare of the sun, and of him who is also awaiting the arrival of the same person but in a cool and shady grove.

Metaphysically, of course, the helpful potent causes themselves include the observance of vows and the suffering of hardships at a certain stage of advancement; for without them the karmic filth cannot be separated from the soul. But the great thing to note about the observance of yows and the suffering of hardships is this that they appear

to be irksome and unpleasant only when thought of or looked at from a distance. When one is imbued with the right Faith one realises at once the necessity of a well-regulated life and actually longs for the perfection of character through suffering and self-demal. And the task does not then appear to be burden-some, but is cheerfully accepted as the surest means of the acquisition of that joyous feeling of self-elevation which is dear to the heart of every aspirant on the path. That virtue is its own reward, is a saying the truth of which is not realized except by him whose life is characterized by self-imposed suffering in the name of Duty and Dharma.

यत्र भावः शिवं दत्ते, द्यौः कियहूरवर्तिनी । यो नयत्याशु गन्यूति, क्रोशार्द्धे किं स सीदति ॥४॥

The soul that is capable of conferring the divine status when meditated upon, how far can the heavens be from him? Can the man who is able to carry a load to a distance of two koses feel tired when carrying it only half a kos?

Note:—This verse is intended to settle the doubt that might now arise in the mind as to the respective merits of self-contemplation and the observance of vows, especially in regard to the ability of the former to secure a rebirth in the heavenly-regions. The answer is that the soul's contemplation can grant both moksha as well as heavens, which are much nearer so to speak; since he who can easily cover a distance of four miles without being fatigued is not likely to experience trouble in going only a mile. Self contemplation thus, is much superior to the mere observance of yours, though the latter are able to lead to heavens for the time being.

हपीकजमनातङ्कं दीर्घकाळोपळाळितम् । नाके नाकीकसां सौच्यं, नाके नाकीकसामिच ॥ ५ ॥

The happiness that is enjoyed by the residents of heavens appertains to the senses, is free from disturbance [literally, disease], enjoyable for very very long periods of time, and is without a parallel outside the heavens!

Note:—The pleasures of a heavenly life are but sense produced, though they are not to be found outside the heavenly region and are exceedingly delightful. The duration of the life, too, is incomparably longer in the heaven than on the earth, and it is therefore true that the heavenly pleasures are enjoyable for much longer periods than the pleasures, of this world.

वासनामात्रमेवैतत्सुखं, दुःखं च देहिनाम् । तथा सुद्रेजयन्त्येते, भोगा रोगा इवापदि ॥ ६॥

The experiences of pleasures and pains of the samsari zivas (unemancipated souls) are purely imaginary; for this reason the sense-produced pleasures give rise, like disease, to uneasiness on the approach of trouble!

Note:—If the pleasures and pains of the world were not the product of imagination they would be lasting, unchanging and eternal. But we see that what is the cause of pleasures to-day becomes a source of disturbance and pain as soon as trouble arises or calamity overtakes the enjoyer. Hence the acharya points out that senseproduced pleasures and pain are purely imaginary in their nature, notwithstanding that the infatuated humanity regard them as real and run after them. By the use of the word imaginary it is not to be taken that the acharya denies the reality of the experiences altogether; what he is aiming at in reality is only an emphasis on the nature of true happiness to be described later,

मोहेन संवृतं क्षानं, स्वभावं रुभते न हि । मत्तः पुमान्पदार्थानां, यथा मदनकोद्रवैः ॥ ७ ॥

Deluded by infatuation the knowing being is unable to acquire adequate knowledge of the nature of things, in the same way as a person who has lost his wits in consequence of eating intoxicating food is unable to know them properly!

Note:—Infatuations—likes and dislikes, etc.—deprive us of that purer form of mental screnity which is 'necessary for the acquisition of true knowledge, for, as is well known, lucidity of the intellectual faculty is clouded when the mind is strongly agitated by passions and desires and wrong convictions and behefs.

षपुर्ग्टहं धनं दाराः पुत्रा मित्राणि शत्रवः। सर्वधान्यस्वभावानि मृदः स्वानि प्रपद्यते ॥ ८॥

All the objects, the body, the house, wealth, the wife, the son, the friend, the enemy and the like, are quite different in their nature from the soul; the foolish man, however, looks upon them as his own!

Note:—The wise always perceive themselves as different from the objects of the world whose relations are transient and temporary and perish after a time. The Self, however, is unperishing and eternal, and will pass away, on death, into some other form of life, leaving his newly-formed relations of a transient phase of life, in the course of his eternal wandering career, mourning his loss. Some times the relations depart plunging us in mourning. Hence, the acharya points out that the relations and, like them, the other objects which ether leave us or are themselves left behind, on death, are all different from the Self in their nature for otherwise they will always accompany the soul and cause it pleasure at all times and under all conditions.

दिग्देशेभ्यः खगा पत्य, सवसंति नगे नगे । स्वस्वकार्यवशाद्यान्ति, देशे दिश्च प्रगे प्रगे ॥ ९ ॥

The birds gather together to pass the night, on a tree, from various places in different directions in the evening; but at the earliest moment at the break of day they depart, in the pursuit of their diverse purposes, for different places in all directions!

Note.—The world is like a tree where the birds gather together to pass the night; in the morning they are gone. In the same way friends and relations are formed in this world, as if for the night; at the break of day we part company from them, each one going his own way! Who, then, but the foolish will suffer himself to be entangled with such 'roosting-time' ties?

विराचकः क्षयं हन्त्रे, जनाय परिकुष्यति । ज्यङ्गुलंपातयन्पद्भवां, स्वयं दण्डेन पात्यते ॥ १० ॥

Why should the evil-doer become angry with him who takes revenge on him? He who pulls down the trangura with both his feet is himself felled to the ground through its instrumentality! This is but just! It therefore, does not become one to get angry!

Note.—The trangura is an instrument so constructed that if a man holds it with both his hands and then tries with his feet to pull it down to the ground, it will overthrow him at once. The acharya likens the action of an evil-doer to the result of pulling down the trangura. The evil one experiences at this moment from the hands of an enemy is sure enough the result of one's own evil-doing in the past. It is that evil which like the trangura has rebounded on oneself and is responsible for one's suffering. Surely, this

is but justice, pure and simple. Where is, then, room for anger in this? The point is that in this world evil is caused by evil, what is experienced now as an evil, experience is sure enough the resultant of an evil act done by us in the past. The experiencer of evil is thus himself proved to be the doer of evil and the cause of his own suffering. Still it is necessary to punish the evil-doer, for otherwise it will be destructive of society and good order. The wise man should, however, so control himself that he should do his duty, but should not allow humself to be carried away by passion in its discharge. The judge, for instance, should so deport himself as to punish the prisoner who is proved to be guilty, but while doing so he should maintain his own serenity of mind and should not allow his decision to be influenced by anger. The result of anger is very harmful for the soul; it tends to undesirable conditions in the next rebirth. Hence, the judge who allows his mind to be swayed by passion will be incurring the liability for a painful hereafter, while the judge who merely discharges his duty and remains calm and collected and of an unruffled temperament will be avoiding that liability and will also be shortening his own bondage as the result of passionlessness.

रागद्वेपद्धयीदीर्घनेत्राकर्षणकर्मणा । अज्ञानात्सुचिरं जीवः, संसारान्धौ भ्रमत्यसौ ॥ ११ ॥

Tied to the long rope intwined with [the strands of] attachments and aversions, the soul is whirled about in the ocean of samsāra (transmigratory existence) for immeasurable time, led by ignorance!

Note:—Love and hatred, or attachment and aversion, are the causes of bondage and transmigration. The series of births and deaths is unending, except in the case of him who acquires Selfknowedge. Hence the statement that souls wander about in transmigration for time beyond measure. Ignorance of the real nature of the soul and the non-soul, and of happiness and what is not happiness though it may appear to be so, is the producer of loves and hatreds of embodied life. Led by these the soul comes and remains under the sway of harmic forces that drag it about in different conditions and grades of existence in the different parts of the world.

विपद्भवपदावर्ते, पदिकेवातिवाह्यते । यावत्तावद्भवन्त्यन्याः, प्रचुरा विपदः पुरः ॥ १२ ॥

The samsāra (transmigratory condition) is like a wheel at a well, where before one bucketful of distress is got over a large number of afflictions overtake the soul!

Note—The thoughtful mind only discovers the world to be full of misery and pain in all conditions. No one thinks of associating happiness with the conditions of existence in the lower grades of life. The trees are rooted to the spot and remain perpetually exposed to the inclemency of seasons; they are further subjected to all kinds of afflictions in the shape of cutting, piercing, burning, uprooting an the like. The smaller insects are destroyed by the thousand by the careless movements of their bigger fellow-beings. No one cares for their writhings and suffering. The birds and beasts and fishes are seized and devoured mercilessly by animals and men. Man himself is a constant prey to the fear of death, and lives in perpetual dread of calamity and misfortune. Those even who may be regarded as favourites of fortune are troubled with many kinds of mental and bodily troubles of their own and of their relations and friends. And at the end of a career, even where it has been the least undesirable, there is nothing more comforting than the grave or the burning pyre to look forward to. Death and the blankness of death ever stare the thinking being in the face. Human life is short and the best of its condi-

tions is ephemeral and fleeting; you have hardly celebrated the advent of a joy when its place is taken by affliction in some form or other. Those who are unluckly spent their whole time in crying and lamentations. Their suffering ceases even to excite the pity of the passers by, by its frequency. Some of them actually experience all the exeruciating horrors of hell-life without being in hell! Kings and millionaires and potentates are no exceptions; they are subject to the pain and misery which the flesh is heir to. The actuarya, therefore, justly says that this world of transmigratory life is so full of suffering and pain that you have hardly got-over one affliction when its place has been filled up with a dozen others. The wise should, therefore, only seek to obtain release from the world to obtain nirvana where there is eternal peace and joy and life unending.

दुरवर्षेनासुरक्षेण नश्वरेण धनादिना । स्वस्थंयन्यो जनः कोऽपि ज्वरधानिव सर्पिषा ॥ १३ ॥

He who regards himself as happy on account of the possession of wealth and other like objects of desire, that are obtained with great trouble, that require a lot of botheration in their protection and that are after all perishable, is like the fool who eats clarified butter when suffering from fever and then thinks that he is enjoying good health!

Note:—Ghee (clarified butter) only goes to aggravate fever, so that he who eats ghee in that condition and regards himself as healthy because of his cating ghee is a big fool. Precisely the same is the case with the man who considers himself happy because he is surrounded by the objects and sources of pleasure. These, too, aggravate the heat and fever of lust, and depart sooner or later without producing anything like satisfaction, that is happiness and rest and peace. The acharya, therefore, points out that it is an act of folly to regard oneself as happy when enjoying material prosperity and the like, which, it is further pointed out, are acquired with a lot of trouble and exertion and which involve a great deal of additional trouble in guarding and protecting, and which, notwithstanding all this worry and trouble, are ultimately bound to depart, being perishable by nature.

विपत्तिमात्मनो सदः परेषामिव नेक्षते । दह्यमानस्गाकीर्णवनान्तरतरुस्थवत ॥ १४॥

The fool is not warned by seeing distress overtake others; he acts like the man who, scated on the top of a tree in the midst of a burning forest, sees deer and other living things perish, but does not think that the same fate is soon to overtake him!

Note:—The acharya here gives us a true description of the individual blinded by the lusts of the world, who though surrounded by calamity and distress all round is still unable to check himself in time to turn to the true side of life, taking no warning by the fate of others.

भायुर्वृद्धिक्षयोत्कर्पहेतुं कालस्य निर्गमम् । वांछनां धनिनामिष्टं जीवितात्सुतरां धनम् ॥ १५ ॥

Time is the cause of the shortening of the duration of life as well as of the increase of wealth: the amassers of wealth [thus] love money more than their lives!

त्यागाय श्रेयसे वित्तमवित्तः संचिनोति यः । स्वशारीरं स पङ्केन स्नास्थामीति विटिम्पति ॥ १६ ॥

The poor man who accumulates wealth so as to be able to acquire merit and the destruction of evil karmas by spending it in charity is like the man who covers himself with filth in the expectation that he is going to bathe his body thereafter.

इप्टोपदेशं

Note:—The acquisition of wealth is accompanied by so much evil-doing and evil-hinking that it itself implies a lot of sin accruing to the soul: what purpose can, then, e served by charity and good works thereafter. The man who enters a drain full of lth in the hope that he will have a good bath afterwards covers himself for a certain with filth. Whether he will be able to wash it off thereafter is an entirely different matter!

आरंभे तापकान्प्राप्तावतृप्तिमतिपादकान् । अन्ते खुद्रस्यजान् कामान्कामं कः सेवते खुधीः ॥१७॥

What! will any wise man indulge in the pleasures of the senses which cause trouble a their acquisition, enkindle lust and desire at the moment of enjoyment and are very sinful at the time of parting? Should a wise man do so, he would not abandon himself o the lustful feeling.

Note:-According to the degree of foresight developed by them, men fall into hree classes, namely, the short-sighted, the far-sighted and the farthest-sighted. The rst class is that of fools, as all will agree. The second is that of men who are wordly ise. They are learned and thoughtful, but only in matters pertaining to the world, and the concerns of the immediate life that comes to an end after some three score years and ten, when their wisdom also perishes. The third class comprises those few but deeply thoughtful souls who have understood the nature of life and know that the soul survives the physical death. They are familiar with the true nature of things and know that there is no rest or peace for the soul outside nirvana. They are the farthest-sighted, for this reason; we may also call them Dharma-sighted, for Dharma signifies the ultimate Truth and the nature of things. Of these Knowers of the true nature of things it is said that they will not indulge in sensual lusts, knowing them to be the causes of suffering and pain, though not appearing to be such to the first or the second classes of men. Should a Knower of Truth be found to indulge in the pleasures of the world, he would not abandon himself altogether to them, but would only be influenced by them in 50 far as he is unable to resist the forces of karmic infatuation engendered in the past. The point is this that the knowledge of Truth changes the angle of vision of the wise one who may not be able to resist the temptation but who will detest himself all the time for his failings, where the fool will simply plunge himself head long in the whirling vortex of pleasures and lusts.

भवन्ति प्राप्य यत्संगमशुचीनि शुचीन्यपि । स कायः संततापायस्तदर्थं प्रार्थना वृथा ॥ १८॥

By the contact of which even pure objects are rendered impure and which is a constant source of affliction, to seek to provide such a body with the objects of pleasure is vanity!

Note:—It is not the nature of the senses to ever attain to anything like a lasting sense of gratification. The source and store-house of impurity, the body may be surrounded by all sorts of luxuries and things that are expected to give one pleasure; but it cravings only increase while the things which it touches become impure for any other purpose!

यजीवस्थोपकाराय, तद्देवन्यापकारकं। यदेवस्योपकाराय, तजीवस्यापकारकं ॥ १९॥

Whatever action is beneficial to the soul is harmful to the body, and whatever action is beneficial to the body is harmful to the soul!

Note:—The association of the soul and the body being the cause of the pain and misery appartaining to embodied existence, nirrana really only signifies the destruction of the fleshy prison of the soul, when the latter, fully evalted and immortal in its own right, is installed in the Temple of Divinity as a God, by the mere process of emancipation from the bondage of matter. Hence, whatever tends to the fattening of the body is necessarily the source of continued affliction to the soul and tree treat.

इतश्चिन्तामणिर्दिस्य, इतः पिण्याकराण्डकम् । ध्यानेन चेंदुभे लभ्ये, क्रान्ट्रियंताम् विवेकिनः ॥ २०॥

When the divine wish fulfilling Jewel and a piece of refuse both are obtainable by meditation, which of these will the man of disprimination choose?

Note:—The man of discrimination will naturally prefer the soul which is like a divine wish-fulfilling Jewel, capable of conferring the inconceivably great boon—the status and the joy of Divinity—to a passing pleasurable form of sense-tickling that is like a worthless piece of hhali (a cake of secondary sense) from which oil has been extracted) and serves only to prolong and to embitter the bondage of kurmas.

स्वसंवेदनसुव्यक्तस्तनुमान्नो निरत्ययः । अत्यंतसौष्ययानात्मा, छोकालोकविलोकनः ॥ २१ ॥

This soul can be adequately known by self-contemplation and is of the size of its body, immortal, of an exceedingly blissful nature and the knower of Loka and Aloka!

Note.—In this slok: the acharya has given a brief description of the soul rs freed from the bondage of matter. It is, roughly speaking, of the size of its physical body and is indostructible, thereo immortal. Knowledge and blies appertain to it by nature being but two of its divine attributes. It can be known adequately in self-contemplation, and when established in its natural purity, freed from the corrupting companionship of matter, it is the enjoyer of unbounded joy and the knower of the entirety of things, which constitute what is known as the Lokaloka (Loka = the universe of life and matter+aloka = the infinity of Pure space lying beyond the Loka).

संयस्य करणप्राप्तमेकाप्रत्वेन चेतसः। वात्मानमात्मवान्य्यायेदात्मनेवात्मित स्थितम् ॥ २२ ॥

Controlling his senses, with concentrated mind, the knower of the Self should ontemplate the Self, scated in his own Self, through the Self!

Note.—The contemplation of the divinity of the Self, that is the soul, is only possible through the soul itself, by turning the attention inwards. Now, because the self is scated inwards and the objects of the senses which attract and enthral the mind lie outwards, the withdrawal of the mind from the outside, that is to say the controlling of the lustful cravings of the lower nature, is an absolute necessity for the realisation of the glory appertaining to Life. For one cannot serve two masters at one time. The Self and the world are antagonistic in nature. The dominance of the latter means the mancipation and distress of the former. Hence, the wise banish the world complately from their thoughts and attend with one-pointed mind to the glorious Divinity of the Self, seated inside.

अञ्चानोपास्तिरद्वानम्, झानम् झानिसमाश्रयः । ददाति यत्तु यस्यास्ति सुमसिद्धमिदम् वचः ॥२३॥

Devotion to ignorance bestows ignorance, and devotion to Gnana (self-knowledge) bestows Knowledge; for it is well established that a thing can grant only that of which it is possessed! Note:—False beliefs and wrong convictions can never lend to true knowledge; for you cannot get what is not contained in the nature of a thing. e. g., blood out of stones. But he who seeks knowledge is sure to be rewarded by enlightenment; for the law is that he who seeks shall find, he who asks shall get what he asks for and he who knocks shall be admitted into light, provided only the seeking, the asking and the knocking is sincere and persistent and in harmony with the nature of things.

परीवहाचिववानादास्रवस्य निरोधिनी । जायतेऽध्यात्मयोगेन, कर्मणामाशु निर्जरा ॥ २४ ॥

By bearing with equanimity, by the power of the soulforce, the trials and hardships consequent on world-renunciation, is accomplished speedily the destruction of larmas and the stoppage of further inflow thereof!

Note: There are two aspects of the karmic force the drawy and the bhave karmas. Drayva karmas simply mean matter which flows into the soul with every thought and word and deed. Bhara karmas are inner mental states, that is to say feelings, crayings and the like which are the causes that lead to the inflow of matter towards the soul. The bondage of the soul consists in the state of embodiment which signifies association with matter. The ascetic aspires to separate his soul completely from the material impurities that defile and hold it in bondage. The inflow of matter is termed csrara, and takes place only because of a certain kind of magnetic attraction which the soul developes under the influence of desire. It ceases when the soul becomes desireless completely. The matter existing in combination with the soul also then begins to dissolve and soon becomes separated from it. This is termed mirjara, in the course of which many hardships have to be faced by the aspirant. If these are cheerfully borne, the good of freedom and bliss is reached speedily, and the soul becomes a pure and perfected God, The destruction of desire, therefore, is the key to the situation, and the acharya points out that those who preserve equanimity of mind in the midst of trials and temptations speedily attain to the Supreme Status by the stoppage of the fresh inflow and the destruction of the existing karmas.

कटस्य कर्त्तातिमिति सर्वमः, स्याद् ह्रयोर्ह्योः। ध्यानं ध्येयं यदात्मैव, संबंधः कीटशस्तदा ॥.।।।

In a statement such as 'I am the maker of the mat', two objects are implicit; but where the soul itself is the instrument as well as the object of contemplation. For can there be duality in that state?

Note:—This sloka is intended to further clucidate the nature of self-contemplation which is non-dual. There are in that state no two separate objects like a mot and the man who made it; but the object of contemplation is the same as he win contemplates. The soul in reality only contemplates its own inherent plory, so as to re-directly divinity. Hence achains points out that there is no room for duality in the process of pure self-contemplation.

बध्यते मुच्यते जीवः, समग्री निर्ममः मनात्। तस्मान्तर्य प्रयन्तेन, निवमार्व विधिनयेन् ॥२६॥

The soul involved in the delusion of egoity is sumed all in the bundage of horness a who is free from delusion of egoity is freed from the bondage of him at this is the exters of things; such being the law, one should try in all possible mass to attain in pure self-contemplation, devoid of the defusion of egoity.

Note:—We have already seen that desire is the root of bondage. Here the acharya takes us a step further towards the analysis of desire, which is rooted in the delusion of identity with the body. The ordinary man only knows himself as the physical personality, and naturally remains absorbed in the gratifications of the bodily cravings and wants. This is the delusion which the acharua warns us arainst.

पकोऽहं निर्ममः शुद्धो, ज्ञानी योगीन्द्रगोचरः । याह्याः संयोगजा भावा मत्तः सर्वेऽपि सर्वथा ॥२७॥

I am one, I am without delusion, I am the knower of things, I am knowable by Master Ascetics; all other conditions that arise by the union of the not-self are foreign to my nature in every way!

Note:—The soul is here described from what is known as the mshchaya naya, that is to say in respect of its pure natural attributes; in other words, as a pure spirit. The pure spirit is devoid of parts, and therefore only one; being a pure embodiment of knowledge, without any obstructing veils to curtail the field of its knowing functions, it is devoid of delusion; rid of all forms of defilement and corruption, it is pure; having conniscence for its attribute, it is the true knower; and not being endowed with sensible qualities, it is knowable by the super-clairvoyant vision of Great Ascetics and Sants. All the other qualities, attributes and relations which appertain to embodied existence are really produced under the corrupting influence of matter, and are, therefore, not natural to a pure Spirit.

दुःखसंदोहभागित्वं, संयोगादिह देहिनाम् । त्यजाम्येनं ततः सर्वं, मनोवाकायकर्मीमः ॥ २८ ॥

The souls involved in transmigration have to suffer a multitude of afflictions, owing to the association of the not-Self, the body and the lake: therefore, I [shall] renounce them along with all the activities of the mind, the body and speech!

Note:—He who does not centrol the activities of his mind, speech and body, which are the three channels of sin, only prolongs his boudage and the transmigratory life which is simply full of pain and misery, even under the best of conditions. The aspirant after the final release, therefore, resolves in the manner indicated in the text.

न में मृत्युः कुतो भीतिन में व्याधिः कुतो व्यथा। नाहं वालो न बृद्धोऽहं, न युवैतानि पुरले ॥२९॥

I am not subject to death; then, what should I fear death for? Nor am I subject to disease, then, what can cause me pain? I am not a child; I am not an old man, nor am I a youth: all these appertain to the flesh (matter)!

Note:—Pure Spirit is free from death and disease, and has no concern with the divisions of life, childhood, youth, oldage and the like. These are different conditions that appertain to the body of matter, which is, undoubtedly, not the same thing as Spirit or the soul. Why should, then, one fear death? and how can one be really affected by disease? The saint, knowing the pure immortal and incorruptible nature of the soul speedily attains to the highest and best condition of Life which is enjoyed by all who acquire the purity of their spritual nature.

भुक्तोन्झिता मुहुमोहान्मया सर्वेऽपि पुद्रलाः । उन्छिष्ठेष्टिच तेश्वद्य, मम विक्रस्य का स्पृहा ॥३०॥

Again and again, through delusions, have the bodies of matter been enjoyed and thrown off by me; how can I long for them now that I am endowed with true wisdom; for no one likes to eat the leavings.

Note:—In the part infinity of time, during which the immortal soul has never ceased to exist, it has put on all kinds of bodies and enjoyed, again and again, the pleasures appertaining to embodied existence, through them, throwing them off always at the end of each form of life. The bodies and things of matter are thus like the leavings in a plate which nobody will like to eat. The Right Believer whose vision has been clarified to perceive the true side of Life, therefore, cannot long for them, since it will be like a longing to eat the leavings and refuse.

कमें कमीहितावन्धि, जीवो जीवहितस्पृहः । स्वरवप्रभावसूयस्त्वो, स्वार्थं को वा न वांछिति ॥ १॥

Karma works in its own cause; the soul works for its own good. who is there in the world that will not work for his own good when he has the power to do so?

Note:—Since harma produces karma, and thus is the cause of the perpethation of the soul's bondage, it is here dere described as working in its own cause, the soul also works for its own good, that is to say against the karmic power, when it is able to do so The interests of the two thus clash with each other. The acharya here exhorts the soul that has acquired the wisdom of the saints to gird up its loins for the destruction of the enemy; forthere is no one in the world who will not like to destroy his foe when he has the power to do so, especially such a foe or karma, that acts by stealth and strikes mercilessly and hard.

परोपकृतिमृतसूज्य, स्वोपकारपरो भव । उपकुर्वन्परस्याक्षो, दश्यमानस्य छोकवत् ॥ ३२ ॥

O Witless one! thou art serving this visible show that is not thyself; thou shouldst now renounce doing good to others and take to doing good to thine own Self!

Note:—It is the way of the world that one gives up serving those who are found to be inimical to oneself. The soul has been serving its physical body and the rest of the visible sensible panorama, in the belief that its good lies with the things outside itself. But it has now learnt their real nature. They are - all the ties and joys and relationships of the world, taken together—only so many enemies in disguise! The acharya, therefore, exhorts the soul that is endowed with true insight into the nature of things to abandon them to their own fate and turn to its own welfare, that is, to take to self contemplation.

गुरूपदेशादभ्यासात्संवित्तेः स्वपरांतरं । जानाति यः स जानातिमोक्षसौख्यं निरंतरम् ॥ ३३॥

He who has acquired the discrimination between the Self and the not-Self, through the teaching of the preceptor, by repeated meditation on the nature of things, or by direct inner Self-perception, that great soul enjoys the happiness appertaining to salvation constantly!

Note:—Salvation and the happiness appertaining to it are obtained by self-contemplation, when the karmas are destroyed and the soul is left as a pure Spirit, omniscient, and blissful and immortal in its own nature.

स्वस्मिन्सदमिलाषित्वादभीष्ट्रहापकत्वतः । स्वयं हितप्रयोक्तृत्वादात्मैव गुरुरात्मनः ॥ ३४ ॥

Because of its internal longing for the attainment of the highest Ideal, because of its understanding of that Ideal, and because of its engaging itself in the realisation of its Ideal, because of these the soul is its own preceptor!

Note: The outside Teachers and guides are only helpful where the soul itself is ripe for advancement on the path: their word is of no avail where the hearer is not onen to receive it. For this reason the real teacher and guide is the soul itself; and so far a exertion is implied in the realisation of the Ideal, it is the soul's own action which can ever lead to its advancement and progress on the path. Hence the statement that it is its own preceptor!

नाज्ञो चिक्रत्वमायाति विद्धो नाक्षत्वमृच्छति । निमित्तमात्रमन्यस्तु, गतेर्धर्मास्तिकायवत् ॥ ३५ ॥

Those not yet qualified for the acquisition of Truth cannot become the knowers of Truth; the knower of Truth cannot become devoid of it; external Teachers are useful like Ether which is but helpful in the motion (of moving things)!

Note:—The acharya here elucidates the nature of the teaching from an outside source. It is like ether which is helpful to the object in motion, but which does not push or move any one. Similarly an external Guide can help only the soul that has acquired a longing to proceed on the Path of Freedom; he cannot impart the impulse which is to initiate the proceeding 1

अमुवश्चित्तविक्षेष, एकांते तत्त्वसंस्थितः। अभ्यस्येदभियोगेन, योगी तत्त्वं निजात्मनः॥ ३६॥

He in whose mind no disturbances occur and who is established in the knowledge of the Self,—such an ascetic should engage himself diligently in the contemplation of his soul, in a lonely place.

Note.—The one-pointedness of the mind which is necessary for steady medition is acceedingly difficult in a place where there is even a likelihood of disturbance. Hence, t is pointed out here that self-contemplation should be performed in a lonely place.

यथा यथा समायति, संवित्ती तत्त्वमुत्तमम् । तथा तथा न रोचंते, विषयाः सुलमा अपि ॥ ३७॥ .

As greater and greater progress is made in the realization of the glorious Self, so is lessened, more and more, the liking for even those objects of pleasure which may be obtained with ease.

Note—This sloka describes the effect of the progress in self enjoyment. It is destructive of the cravings of the lower nature. The Self is blissful by nature; he who begins to enjoy the divine thrill of spiritual bliss certainly cannot thereafter hanker for worldly pleasure, the craving for which decreases as the enjoyment of true happiness increases.

यथा यथा न रोजंते, विषयाः सुलभा अपि । तथा तथा समायाति, संवित्तौ तत्त्वमुत्तमम् ॥ ३८॥

As even those objects of pleasure which are easily obtainable become increasingly intolerable, in the same measure does the glorious self come into one's enjoyment.

Note:—The enjoyment of the natural inherent poy of life increases side by side with the sense of indifference for worldly pleasures. Thus the more there is of the enjoyment of the internal spiritual happiness, the less is the craving for the sense-produced pleasures; and, conversely, the greater the sense of indifference for worldly attractions and joys, the greater the enjoyment of the real bliss appertaining to Life.

निशामयति निःशेषमिद्रजालोपमे जगत् । स्पृह्यत्यातमलाभाय, गतवान्यत्रानुतप्यते ॥ ३९ ॥

The seeker of the self regards the whole world as a product of illusion; and is moved by the desire to attain to self-realization. If he ever becomes entangled in anything else he repents of it i. Note:—Self-realization is possible only by completely turning the back on the temptations and snares of the world; hence, he who longs to attain to it must regard the panorama of the world as transient, instable and fleeting, in other words, as the product of illusion. The wise man will thus never allow himself to be entangled in anything worldly. Born with all the weaknesses of the human nature, he is nevertheless subject to powerful cravings and impulsions, and may, under their influence, deviate from the proper path. The acharya says that the true characteristic of a wise man is that whenever he is entangled in any of the worldly pleasures, neglecting his proper dharma (duty), he will be repenting of his wrong action, even while doing it. For repentance implies confession which is half the amends.

इच्छत्येशांतसंवासं, निर्जनं जनितादरः । निजकार्यवशार्तिकचिदुक्वा विस्मरति द्वतं ॥ ४० ॥

The seeker after the Self longs for solitude, preferring dissociation with men; if he has to speak to men for a purpose of his own, he puts it out of his mind as soon as it is said!

Note: - Solitude is absolutely necessary for pure self-contemplation.

ब्रुवर्न्नाप हि न ब्रुते, गच्छन्नपि न गच्छति । स्थिरीकृतात्मतस्वस्तु, पश्यन्नपि न पश्यति ॥ ४९ ॥

He who has firmly established himself in the knowledge of the Self, such a one does not speak while speaking, does not move while moving and does not see while seeing!

Note:—When a man has put his faith firmly in the Self his actions cease to bind, that is to say; affect him. His activity in such a case ceases to be volitional and becomes automatic, as it were. Of such a being it is correct to say that speaking he does not speak, moving about he does not move about, and seeing he does not see.

किमिदं कीटरां कस्य, कस्मात्केत्यविशेष्यन् । स्वदेहमपि नावैति, योगी योगपरायणः ॥ ४२ ॥

The ascetic immersed in the process of self-realization has no awareness of even his body, being undisturbed by questions such as what is the soul? What is its nature? who is its master? from whom is it derived? where does it reside? and the like.

Note:—In the culminating samadhi (the condition of entrancement of self-realization) thought is over-powered by the thrilling pulsation of the joyousness of self-feeling. Consequently, no question arises as to the nature, attributes, etc., of the soul-substance. The entire soul is then filled with the rapturous rhythm of a life that is at once illumined and blissful by its own light and the inherent eestasy of delight. In that state there can, of course, be no engrossment of the conscious faculty with the idea of the physical personality or its basis and abode, the body of matter.

यो यत्र निवसचास्ते, स तत्र कुरुते रातें । यो यत्र रमते तस्मादन्यत्र स न गच्छति ॥ ४३ ॥

He who abides in a place, becomes attached to the place he who takes a liking to a locality does not give it up to go elsewhere!

Note:—This is the general rule. When a person likes a place he sticks to it and does not think of leaving it and of going to another place. Similarly, the ascetic who loves the state of the samadh of self-realization never entertains the idea of departing from it, it being full of delicious joy and eestasy for him.

अगच्छंस्तद्विशेषाणामनभिष्ठद्व जायते । अज्ञाततद्विशेषस्त, वद्ध्यते न विमुच्यते ॥ ४४ ॥

The ascetic, not stirring out of his Self and not attending to the particular natures of the not self, does not become their enjoyer; by not enjoying the not-self he is not bound by karmas, but becomes released from them!

Note:—The law governing karma and transmigration is this that attachment and aversion for objects of the senses are the causes of bondage of the soul. They cause the influx of a kind of subtle invisible matter into the soul substance, and the fusion of the inflowing material with the soul is the form of the bondage of karma that is so harmful to the self. The soul not falling in the category of the objects of sense, its contemplation does not give rise to attachment and aversion; on the contrary, it is productive of a state of equanimity and indifference in the mind that is engaged in the enjoyment of the natural inborn joy of his own real self. Hence he is not afflicted with fresh karmic bondage while he is engaged in self-contemplation. In addition, his existing karmic bonds also begin to break up on account of the prevailing state of equanimity; because what is attracted into the soul in consequence of an agitated state of the mind must begin to disperse and depart when a contrary state is established therein. The acharya, therefore, says that the samadh of self-feeling has a two fold merit: it is, firstly, not productive of any additional mancipation for the soul, and, secondly, it is actually destructive of the existing bondage.

परः परस्ततो दुःखमात्मैवात्मा ततः सुखं । अत एच महात्मानस्तन्निमितं कृतोद्यमाः ॥ ४५ ॥

The not-self are surely never the Self; only sorrow accuses to the soul from them: the Self ever remains the Self; it is, therefore, the cause of happiness; because of this, great personages have exerted themselves for the realization of the Self!

Note.—The distinction between sense-produced pleasure and the natural joy appertaining to the soul itself is again emphasized here by the acharya, for what shall a man profit if he gain the whole world but lose his own soul? The fact is, as the Jainacharyas have demonstrated, over and over again, that the soul is blissful by nature and comes into the enjoyment of surpassing, unsurpassed bliss by the simple practice of self-feeling. The pleasures of the world are false and illusory, as compared with the joyoueness of life itself; they even fail and deceive one in the most critical moment. Moreover, nothing in the class of the not self is lasting and unperishing, so that he who becomes attached to them has sooner or later to lament their loss. Sometimes he himself has to part from the objects of pleasure, when the parting is all the more terrible. What good can, then, come of attachment to the objects in the world? Atman (the Self) alone is, thus, the fit object of attachment, and it rewards the devotee with life eternal and knowledge and joy unlimited!

अविद्वान्युद्गलद्रव्यं, योऽभिनंदति तस्य तत्। न जातु जंतोः सामीप्यं, चतुर्गतिषु मुंचिता। ४६ ॥

Matter which the undiscerning soul attaches itself to never leaves him wherever he goes in the four gates!

Note:—Gatis signify the four principal types of embodied existence, in which souls are being constantly born and reborn in the course of their transmigration. These are the celestial, the hellish the human and the sub-human or the lower kingdoms, the last of which includes all kinds of animals, plants and all other lower forms of life. All these are imposed on the soul because of the companionship of matter of which the not-self are

chiefly composed. The law of the influx of matter has already been noticed a little earlier. It shows that the effect of the love of the not-self on the Self is its being over-powered by matter in the shape of the undesirable forces of karma that drag it from one gati to another or in the numerous classes and sub-classes of the same type. The acharya, therefore, discourses on the folly of the undiscerning who perpetuate their bondage by their own acts, not knowing the nature of the Law that keeps the soul tied to the ever-revolving wheel of transmigration. He who allows himself to fall in love with matter—and all the not-self are perceived by us only in so far as they are matter—should know that the object he falls in love with will not abide to console or grant solace to his heart for ever, but matter will cling to him, because of that act of love, all the more closely! Knowing this, the seeker after the glory of the Self will shun the pursuit of the objects of the world once the law is shown to him.

आत्मानुष्टाननिष्ठस्य व्यवहारवहिःस्थितेः । जायते परमानंदः कश्चिद्योगेन योगिनः ॥ ४७ ॥

He who is firmly established in his own Self, and keeps away from the worldly intercourse, a supreme kind of happiness is produced in the being of such a vog!

Note:—Divine bliss is the nature of the soul which is realized the moment one is rid of all the sense of attachment to the world and is immersed in pure self-contemplation.

आनंदो निर्देहतयुद्धं, कर्मेधनमनारतं । न चासौ खिद्यते योगी, वृहिर्दुःखेष्वचेतनः ॥ ४८ ॥

Self produced happiness is constantly burning up the harmic fuel in large quantities, while the yogi, indifferent to the external pain, is not affected by it in the least!

Note—The Master Ascetic is constantly absorbed in the enjoyment of the spiritual happiness pertaining to his soul, and is, therefore, not affected by badily discomforts and pains to which he does not even attend consciously.

अविद्याभिदुरं ज्योतिः, परं ज्ञानसयं महत्। तत्प्रप्रत्यं, तदेप्रत्यं, तद्द्रपृथ्यं मुसुक्षुभिः ॥ ४९ ॥

That excellent and supreme light of the Self is the destroyer of ignorance,—the seekers after salvation should always engage themselves in questioning others about it in affectionately seeking it and in realizing it by actual experience!

Note.—The soul being the embodiment of knowledge is antithetical to ignorance. Hence the injunction to be constantly engaged in talking and thinking of it and in feeling it in every other possible way. It will not do to turn to the Self for a moment or two once a week or even every day; for the habit of the mind is that it runs always after what has engaged its attention the most of the time. The reason why novitiates in yoga find it difficult to concentrate their mind on the Self is to be found in the fact that their habitual thinking unconsciously directs the stream of thought into the accustomed channels of activity, and the slightest temptation, which they have never learnt to resist, suffices to steal away their determination.

जीवोऽन्यः पुर्गलख्यान्य, इत्यसी तत्त्वसंप्रहः । यदम्यटुच्यते किचिन्सोऽस्तु तस्थेव विस्तरः ॥ ५० ॥

The Self is different from matter, matter is different from the Self : this is the quintessence of all the compilations of wisdom; all the rest of knowledge is but an amplification of this!

Note:—Here the acharya sums up the result of the entire discourse and says that the one thing to know is the fact that the soul is not matter, nor matter the roal. This is the quintessence of philosophy, though it is necessary to explain it in detail for the benefit of

the ignorant who entertain many doubts on the subject. Whoever has understood this one crucial point or fact thoroughly, so that no doubt is left in his mind concerning the nature and divinity of the soul, is the knower of truth who is sure soon to reap the benefit of his knowledge, and attain to the supreme status outside the painful dreary realm of transmigration and the kingdom of Death. For the soul being actually divine by nature its divinity remains unrealized only just so long as it is ignorant of itself and devotes all its time to the pursuit of the non-self. Hence, when Self-knowledge has dispelled the thick mists of ignorance and set its natural energy of dispassion in opposition to the forces of karma, the destruction of the latter becomes only a question of time, and is encompassed, generally, in the course of three or four incarnations, when it is loft, as the result of the process of self-realization, as a pure Spirit, all-knowing, immortal and eternally blissful, a pure and real Divinity, second to none in the three worlds, and the object of devotion and worship on the part of devas (celestials) and men.

इष्टोपदेशमिति सम्यगधीत्य धीमान्, मानापमानसमतां खमताद्वितन्य ॥ मुक्ताप्रहो विनिवसन्सजने वने वा, मुक्तिश्चियं निरुपमामुण्याति भव्यः॥ ५१॥

The wise bhavya* who has well understood the teaching of the "Ishtopadesha", and who maintains the serenity of the mind by the effort of his will when he is respected as well as when disrespect is shown to him, and who has freed himself from the attachment to the non-self, obtains the matchless treasure of moksha, whether he live in a city or in a jungle!

*The soul that is endowed with realizable potentiality for the attainment of salvation is termed bharya, while the abhavya (a, not+bhavya) is the soul that is potentially divine like the bhavya, but with a portentiality that is not realizable into actuality.

NOTE—Faith in the glorious nature of the Self and mental equanimity are the chief things necessary for the obtainment of release from the cycle of births and deaths (transmigration) The rule with faith is that it never fails to translate itself into action, sooner or later, since belief is the builder and moulder of character, and the controller of impulses. For this reason, even the greatest sinner need not despair, and if he will be intelligently try to understand the teaching herein imparted and apply himself to put faith into it he will soon find himself travelling on the road to saintship. Whether he walk towards it or travel in some more speedy way, will depend on the nature of the obstruction that might be offered by the karmas of his previous like. But even the worst of karmas begin to lose their power under the losening influence of the Right Faith, and are speedily destroyed by the scorching fire of Right Knowledge-Mental equanimity is speedily reached in this manner, and the rest becomes easy by a constant meditation on the "Ishtopadesha" which is the Discourse Divine as well as the name of the book in the reader's hand!

FOREWORD

Shri Pujyapada Swamı the author of the "Ishtopadesha" (Discourse Divine) was a Jaina saint, of the Digambara sect, who flourished in the fourth century A. D. He composed several important works on the Jaina Philosophy and Religion of which the "Sarvartha Siddhi" (an elaborate commentary on the Tattvārtha Sutra, which may be termed the Jaina Bible), "Jainendra Vyūkarana" the "Samādhi Shataka" and the "Ishtopadesa" are the most famous. The last-named work was translated into Hindi from the original Sanskrit by Shri Dharma-Divakar, Dharma Bhushana Brahmachari Sital Prasadji in the year 1923. I have now translated it into English, at the suggestion of the respected brahmachariji himself, from his Hindi translation. The English translation has been personally revised by the brahmachariji to whom I am indebted for the favour.

The "Ishtopadesha" is a charming composition in adhyātma-rasa, that signifies a sort of direct appeal to the experience of self-realization rather than a metaphysical study of the soul-nature through the intellectual faculty. I have no doubt that it will prove very serviceable in fixing the attention of the contemplative thought, and, read intelligently, will enable the thoughtful to burn up his harmas on the adhyātmuc altar of the Glorious Divinity of the Inner Self.

Hardoi: 17th May, 1925.

C. R. JAIN

CONTENTS.

I.	Introduction.	77
II.	Versified Sermons.	78-33
1.	Obeisance.	78
2.	God and Self.	78
3.	Path of Peace and Piety.	78
4.	Philosophy of pain and pleasure.	78
5.	Ignorance the cause of all ills.	79
6.	Worldly life is a chain of pains.	79
7.	Wealth is no remedy for worldly ills.	79
8.	Concentrated thought is the only remedy.	80
9.	Self is the only thing worth realisation.	80
10.	Path of self realisation.	80
11.	Superiority of a devotee.	80
12.	The unreality of worldly life.	80
13.	The Path of victory.	80
14.	The unholy union.	81
15.	The divinity of self.	81
16.	Futility of worldly quest.	81
17.	The struggle of life.	81
18.	Appeal to self.	82
19.	Master's role in spiritual culture.	82
20.	In reality self is his own guide.	82
21.	The essential requisites of a devotee.	82
22.	Life features of a yogi.	82
23.	Yogi enjoys a free life.	82
24.	Self culture is the best culture.	8.3
25.	Summum bonum of life.	83
26.	Brief story of truth.	83
97	Riccing	83

INTRODUCTION

ISHTOPDESHA (इद्रोप्ट्रेंग) (Happy Sermons) is a didactic poem of 51 Stanzas in Sanskrit by Swami Pujyapada, a great saint of India, born in the Karnatak region in the 5th. century A. D.* He was the preceptor of Durvinit, the then ruling King of the great Ganga dynasty of the Decean. His real name was Devanandi but being held in high esteem by all, he was renowned as Pujyapada i. e. one whose feet are worth worshipping. For his lofty thinking, pure living and high order of asceticism as described in many inscriptions and Shastras of Karnataka, he was known as one who was untouched by earth, and whose ablution water of feet could change iron into gold

Besides being a saint of high repute, he was a great scholar and thinker of his times. For his lucid style, precise expression and masterly exposition of the subject he has held a revered place amongst all Indian writers. His works on medicine, grammar, prosody and jain philosophy, have always been regarded as works of standard value by all the subsequent scholars of India.

Amongst these works his Sarvarth Siddhi (सर्वाधिसिद्ध), a commentary on Tatvarth Sutra (तरवाधिस्त्र),—a compendium of Jain Metaphysics and cosmology written by Uma Swami of the first century A. D. in aphorisms—is a work of rare value, being a key to this vast treasure of knowledge. Jainendra Vyākaraņa (क्षेत्रेन्द्रस्याकरण) is an equally important work on grammar written by him.

Samadhi Shatak—(ম্পাবিয়ার্ক) ("Equanimity") in 100 stanzas is an other didactic poem composed by him. It is a work of about double the size of Ishtopdesha and is an outcome of his deep thinking and realisation of truth. This work undoubtedly possesses a rare spiritual charm. It provides a consolation to an afflicted mind, and an inspiring vision of the divine life to a seeker after truth.

To advance, the cultural relationship between the East and the West—a dire need of our times, I have for the present selected Ishtopdesha—"Happy Sermons", as the first offering for being presented to the western peoples in a western garb.

In order that readers who take liking to these sermons, may remember them by heart, the translation has been done in a versified form, stanza for stanza, but where the literal and formal translation of a stanza was unintelligible to convey the full substance of the pithy sayings and abstruse ideas condensed in it, a free and liberal style has been applied to expand it into several stanzas. Though taking this freedom with the style, the matter has been arranged in the same order as has been adopted by the original author. Every stanza of the original poem, whether rendered singly or in an expanded form has been numbered in its serial order on the left hand side, while the verses of this expanded composition have been numbered on the right hand side of the margin. Headings have been newly inserted to show the themes of the succeeding verses.

As to how far I have been able to fill up these verses with spirit which the saint wishes to convey through these sermons, is to be judged by the fancy, bestoned by western readers on this composition. In case it bears good fruits I shall try to offer Samadhi Shatak also in its versified form as a next contribution to the noble cause of attengthening the cultural relations between the East and the West

The original text of the poem in Sanskrit has also been printed in this publication so the lovers of oriental studies have a facility of consulting it, and enjoying the original work of the master poet.

Paniput.
Mahavir Jayanti 1974

Jai Bhagwan Jain
Advocate.

^{*.} B. Lewis Rice-Journal of Royal Asiatic Society -1800, p. 215 ff.

परिशिष्ट नं. ४

HAPPY SERMONS.

Mr. JAI BHAGWAN JAIN, B. A. LL B.

Obeisance,

1,	I bow to the all knowing Lord, By total extinction of all flaws,	
	Who shone forth into purest glow, And paved for all, salvation path.	1
	God and Self.	٠
2,	God is self and self is God, Both are one like ore and gold,	
	The difference lies in their modes, The pure is one, the other impure.	2
	As ore transforms into gold, When released from foreign things.	•
	So self does evolve into God, When released from matter's strings.	3
	Self is gripped by foreign matter, When tinged with egotistic trends.	•
	And gets relieved from its meshes, When filled with vision of cosmic rhythm.	4
	To fill the self with cosmic rhythm, It needs a change of inner heart.	•
	Such as to shine coal in jewel, It needs a change in atomic form.	5
	With broader outlook of the life, Greater and greater grows the soul,	
	When all is compassed by the self, It one and one becomes with God.	6
	Path of Peace and Piety.	
3.	It becomes a traveller in the summer, When treading towards the sweet home,	
	To follow a safe straightened path, Covered by cool shade of groves.	7
	Similar in the walks of life, Moving towards the goal of truth,	
	It behoves a man to firmly stick, To path of peace and good conduct.	8
	The path of peace is double good, It comforts here and onwards,	
	Through lovely vistas of heavens, Leads to the goal of eternal bliss.	9
	While the unruly ways of life, Denying equal rights to all,	
		10
4	It does not matter for a man, To carry weight to half a mile,	
	the contract of the contract o	11
	So far a path of peace and good, Which leads to goal of eternal bliss,	
		12
5.	Heaven, place of songful plays, Free from worldly foes and fears,	
		13
	Philosophy of Pain and Pleasure.	
	Pleasures, pains of earthly beings, Are mere self's imagery things,	
	· · · · · · · · · · · · · · · · · · ·	4
	No outer things are good or bad, They so become by likes dislikes,	_
	A food for one is not for all, It is a well-known fact of life. 1	0
	So all the mates of worldly play, Which look delightful and so gay, Become how hideous out of tune. When one is filled with grief and gloom.	c
	Become how hideous, out of tune, When one is filled with grief and gloom.	U

Ignorance, the Cause of all Ills.

7.	Being all engrossed in ignorance, Like drunkards under cover of drugs, Worldly beings have lost their sense, Of looking things in true colours.	17
8.	It is all due to ignorance, That things all distinct and aloof, Like spouse, children, body, wealth, Are all viewed as parts of self.	18
9.	If seen with clear crystal vision, Free from whims of likes, dislikes, No more related to us they are, Than forest trees are to birds. They flying come from distant lands, Settle on trees for the night, And take to wings for quarters new, When morning comes with feast of light	19 nt. 20
10.	As digger lowers the spade from high, The digger too is lowered by spade, Who lowers others by aggression, Is surely lowered by the same. This law of action and reaction, Though patent in the realm of life, But strange it is they fly in passion, When paid are in their own coin.	21 <i>2</i> 2
11.	For false whims of likes, dislikes, Born of the egotistic trends, Self is dipped from eternal time, In deep waters of births and deaths.	23
	Wordly Life Is a Chain of Pains.	
12.	The worldly life is set on frame, Ever on move like waterwheel, Full of turns of ills and pains, With little rest from cares and needs.	24
	Wealth is no remedy for worldly ills.	
13.	Wealth hard to earn, and retain, Unstable most, and most unsafe, One is never safe and sound with it, As fever patient with use of ghee.	25
14.	A rich man like the common folk, Yet being filled with self conceit, Like fools taking perch on tree, He thinks himself immortal being. Like fools to roaring flames, Engulfing him like other beings.	26 27
15.	With passage of the fleeting time, Near and near man draws to end,	41
16.	But how strong is the lust of pelf, He looks to wealth and not to end. A poor man wanting heaps of wealth, To give them off in public alms.	28
	Is like a fool who puts on mud, To wash it off with holy bath. The lustful pleasures of the world, No sure hand-maids of the wealth.	29
18	They while departing leave behind, Grief and sorrow for the mind.	30
10	Nor body is the end of life, It is too frail and short in time, One need not for its sustenance, Use vile means to heap up wealth. Made of bones and loathsome flesh, Offensive filth and nasty germs, It is too hideous and impure, To turn sacred with wealthy hoard	31
19.	What doth add to vigour of flesh, Doth verily sap the vigour of soul, And what doth add to wealth of soul, Doth verily end the needs of flesh	32 33
	As wealth increases greeds of flesh, It verily saps the life of self, Of what use is the gain of wealth, Which makes you lose divine self	34

Ų

Concentrated Thought is the only remedy

20.	Every thing can be had in life, By force of concentrated thought, Both the precious and the worthless, Philosopher's gem, or piece of stone. It is to be settled by the wise, Which of the two is worth attempt, The devine self of eternal bliss, Or mortal life of filth and ills.	:35 36
	Self is the only Thing Worth Realisation	
21.	The self enframed by body though, Is embodiment of the perfect light, Shining all, beyond and near, Visible, pure, and crystal, clear. Excellent bliss, the sublime peace, Free from time, unbound by space,	37
	Infinite, nearest, beyond the beyond, Undying, eternal, ever living. The final truth, the perfect whole, The end of ends, the goal of goals,	38
	The aim, the light and the way, It is the thing to get realised.	39
	Path of Self Realisation.	
22.	To know, realise the boundless soul, Let outward senses be controlled,	
	Give urges their au inner trend, To seek with in the joyful ends. Achieve all this with firm resolve, Of mind kept in a balanced poise,	40
23,	Then drawing your self with in the self, Meditate on self in steady pose. The senses and their objects are, Made of dull, rash, callous matter.	41
	Whoever follows their toot prints, Is sure to fall in painful pits. But if the voice of enlightened self, Is heard, grasped and put to work,	42
	One makes a gain of spiritual power, And enjoys the fruits of peace and joy. Whatever is inherent in a seed, Is sure to grow up in the field,	43
	So ignorance gropes in darker zones, And light leads to cherished home.	44
	Superiority of a Devotee.	
24.	A devotee of enlightened self, Conquers all the pains of flesh,	
	He lets not in the vicious trends, And uproots what are seated deep When subject object are distinct, Separation surely severs their link,	45
40.	It does not touch devotee's lot. He is both the seeker and the sought. While one who clings to earthly things, And claims the same as his own,	46
	He mourns and grouns with sorrow's pangs, Deserted when he is left alone.	47

The Unreality of Worldly Life

26. Self is self and matter is matter, The twain can hever meet in one,
Their union rests on ego's whims, Baseless, flinsy and unreal.

When one is free from ego's whims, Free he is from matter too,
So one should make his best efforts, To free himself from ego's rule.

49

The Path of Victory.

In all hours of day and night, Sitting, walking or sleeping,
To conquer the evil of egotism, Think, meditate and ever feel.

5	Happy Sermons	%
	"Bereft of all the physical ties, I am one, alone, and free, Untinged by passions and emotions, Peace and purity reign in me. "A seer, a master seer of things, I stand above, aloof from seen, Unbound by egotisitic whims, I compass all of them in peace." "All the things of the outer world, Inherited and acquired by us, Are wholly separate and others, There is no love lost between us."	51 52 53
	The Unholy Union.	1.4
28.	Union of self with physical things, Is perennial source of pains and ills, With all thy force of thought, word, deed, Give up thy greed for outer thin	ıgs, 54
	The Divinity of Self.	
29.	To arise above the earthly woes, Should never lose the sight of soul, O! feel and feel the warm delight, In divine dignity of the soul. I am not the death, nor disease, Neither young, adult, nor old,	55
	All these things belong to flesh, Nothing is there to fear and mourn. I am, I was; shall ever be, This is the basic truth of life, In all the quests of charmful bliss, am the architect of plights. "Powerful with my aspirations, Resourceful with imaginations,	56 57
; c	Blissful with glorious hopes, I tread my way through thick and thin."	58
	Futility of Worldly Quest.	
30.	"Enchanted by the charms of dust, Again and again I turned to it, Filled, refilled in all its forms, Put all its poses and its tints." "Moved up and down in varied ways, In various climes, in various pla	59
	Lived in heaven, hellish zones, But none gave the cherished goal." "Ages have past and eras rolled, Still no rest from outer quests, Now let me turn to inner self, For tried old things, no use of quest.	60 .: 61°
•	The Struggle of Life	~
31.	The great struggle of worldly life, Against pain, wants and ignorance,	. 12
	Is struggle against the physical bonds, Forged by foolish whims of self Self and matter both are real, But differ in roles of cosmic plan, The one is subject, object other, To cast in forms the inner dreams.	62
,	The self is whole of space and time, Of charms, of beauty, joy and light	63
	While matter is dark, dull, decaying, Ever on move for new combines. Though highest charming truth is self, But self through his ignorance,	64
	Entangled in the outer meshes, Confuses matter with his self. Thus there sets a servant's rule, Matter assumes the master's role,	65
	But self being the motive force, It ever asserts the will of soul. As both belong to distinct realms. They ever differ in their trends,	66
,	The self is astir for the whole, The matter tends to dingy cells. Life is thus an eternal struggle, To evolve freedom from the bonds,	67
1	Life from death, the light from dark, Purge from vice, peace from wees.	68 ,

Appeal to Self.

32.	O Self I awake, how long will thou, Serve diotates of alien rule, And feel proud with names and forms, Like a fool who works as tool. Delay not throw the foreign yoke, And busy thyself with own welfare, Rule thyself with thy own self, For self rule is the best for self.	
	Master's role in Spiritual Culture	
33.	The eternal bliss reveals on him, Who discerns self from motley heap, To equip thee with discerning sense, Practise to sit at master's feet. Master is great beacon light, Showing the various paths of life, But helping only those ship-wrecked, Who themselves feel inclined to right.	71 72
	Self is his Own Guide.	
	Self alone has urge for truth, Animated with his lovely visions, And makes quests in diverse fields, Propelled by his own missions.	78
35.	As ether in the realm of matter, Helps only those prone to move, So all the teachers and scriptures, Only help right-minded souls. They neither bestow any wisdom, On perverse, niggards, and fools,	74
	Nor they extract any knowledge, From the high enlightened souls. Self alone is fee and friend, He has all the keys of betterment,	75
	So one should look to one's own self, For all his failures and success.	76
	The Essential Requisites of a devotes	
36,	Who has a calm and content mind, Who loves to live a lonely life, Is eager most for lasting truth, Is devotee best of life divine.	77
	Life Features of a Yogi.	
37. 38.	The higher he soars from lustful world, The more he reveals the truth of life.	78
	Enriched with his spiritual sight, He looks on world as game of tricks, He ever yearns for glorious self, And feels annoyed with earthly things He loves to live in lonely place, Away from mart, away from fame,	79
	Speaks some times for personal need, Yet soon forgets of what he speaks,	80
41.	He is fast fixed within his self, Talking though, he does not tark, Looking though, he does not look, Walking though he does not walk.	81
42	In eestasy, self centered he, Self alone in cosmic rhythm, Shines to him as holy film.	82
	Yogi Enjoys a free Life.	
	Where settles one with love and ease, There he yearns to live in peace, And where one gets his heart's content, He makes that place as permanent.	83
44	So devotee is often lost in self, Charmed with inner bliss and glow, He shaps the false, and loves the truth, He lives within, discards the show.	84
	He is ever filled with self content, His mind does not roam abroad, His senses too get drawn within, He is not aware of outer things.	۵r

Is sure one day to attain the goal, Of perfect and beauteous soul.

63

100

परिशिष्ट नं. ५

इप्टोपदेशके मूल इलोकोंकी वर्णानुक्रमणिका

		- 4			
		का. नं. पृष्ठाव		य	
अगच्छंस्तद्विशेपाणाम्		88-86	९ परः परस्ततो दुःखम्		8440
अभवश्चित्तविक्षेप		₹₹४₹			- २४ २९
अविद्याभिदुरं ज्योतिः	*	४९५३	परोपकृतिमुत्सुल्य	٠.,	₹₹₹
अविद्वान् पुद्रलद्रव्यं	i	४६५०	1	a	4 (10)
अंज्ञानीपास्तिरशानं '	1	२३२८	बध्यते सुन्यते जीवः	,	'२६—३२
	आ	•	बुबन्नपि हिं न बूते		8480
आरमानुष्ठा ननि ष्ठस्य	* '	४७५१	, "	भ	
आनन्दो निर्देहत्युद्धं		४८५१	भवन्ति प्राप्य यस्टङ्गं		१८—२ २
आयुर्वेद्धिक्षयोत्कर्षहेतुं		१५१८	भुक्तोज्झिता मुहुर्मोहान्		₹०₹७
आरम्भे तापकान्यासाव	1	१७२०		म '	н
	इ		-मोहेन संवृत शानं		₹९
इच्छत्येकान्तर्स्वासं		४०४६	_	य ,	
इतिश्चिन्तामणिर्दिव्य		२० २४	यज्ञीवस्योपकाराय		, १ ९—२३
इष्टोपदेशमिति सम्पगधीत	4	५१—५३	यथा यथा न रोचन्ते		₹८ ,४५
11	ए		यया यथा समायाति	1	<i>≨6,</i> —88
एको ८ ई निर्ममः शुद्धोः		२७३४	यत्र भावः शिवं दत्ते		४—५
	45		यस्य स्वयं स्वभावाति		₹—;₹
कतस्य कर्त्ताहमिति		२५—३१	योग्योपादानयोगेन		? —?
कर्म कर्महितावन्धि		३१३८	यो यत्र निवस्त्रास्ते		४३४९
किसिदं कीहर्य कस्य		828C		₹	
	ग		रागद्वेषद्वयीदीर्घ		११—१३
गुरूपदेशादस्यासात्		₹ ₹— ४०		वं	,
4 1	ল	ĺ	वपुर्ग्ह घनं दारा		ç80
जीवो ऽन्यः पुद्रलश्चान्य	•	५०५२	वर व्रत पदं दैवं		₹₹
	त		वासनामात्रसेवैतत्		Ę— <i>'</i> 9
त्यागाय श्रेयसे वित्तम्	" -	१६—१८	विपत्तिमात्मनो मूढः		'१४ ' १७
11.41.44.44	द	., .	विराधकः कथं इन्त्रे		१६१२
दिग्देशेम्यः खगा एत्य	`	९११	विषद्भवपदावर्ते	, ,	१२-१५
दु:खसंदोहभागित्वं		२८३५	• • • • • • • • • • • • • • • • • • • •	स	
दुर ्थेना सुरक्षचेण		१३१६	संयम्य करणग्रामं		२२२६
4.44.118.44.44	न	**	स्वयं वेदेनस्व्यक्त		२१—२५
न में मृत्युः कुतौ मीतिः	•	२९३६	स्वरिभन सद्मिलाघि		₹ % ──\$0
नाजो विज्ञत्व मायाति		₹ ५ ४१	,	g	
निशामयति निश्शेप			हपीकनमनातद्वे,	-	५—६
ारायभारा विरस्		7, 44			

परिशिष्ट नं. ६

इप्रोपदेशकी टीकामें उद्धृत श्लोकों, गाथाओं और दोहोंकी वर्णानुकमणिका।

शंक	ग्रिपद्शमाताच	e)
	ब्रह्ण त्यागसे ज्ञून्य जो-दोहा-	18
१३		
२०	·	Ę
१६	अभ ताम देश तमान कर संस्त	
٠,١	414 41	₹8 ≰k
	जस जस आतम तत्त्वम-दोहा-	
	जस जस विषय सुरुभ्य भी—दोहा—	ζ (ų
i i	जायदि जीवस्सेवं —कुन्दकुन्दाचायः पचास्तिकाय —।	₹ ₹
	। एक्ष्युना न ।	₹८
ц	019 991 3X 2 3X 1 X 2	۷:
४७	जो खळु सतारत्थो-कुन्दकुन्दाचार्थः पंचारितकाये-	१ :
४१	जो जामें वसता रहे-दोहा-	٨,
१८		२
२५	·"	
	तथा ह्यचरमाङ्गस्य-नागसेनाचार्यः-तस्वानुशासनम्-	₹'
२०	तदा च परभैकाग्या-नागसेनाचार्यः-तत्वानुशासनम्-	٧.
२५	तदात्वे सुखसंजेषु —	ર
ø	तदेवानुभवंदचाय-नागसेना चार्यः-तत्वानुशासनम्	ሄ
48	_	
	,	
५४	दहनस्तृणकाष्ठसंचयेरपि	₹
:	दिशा देशसे आयकर-दोहा	,8
3.0	देखत भी नहिं देखते-दोहा	R
	ঘ	
		5
_		٠, ۲
	The transfer of the transfer o	
	1 4413414117	
• •	न	
. 65	न कर्म बहलं जगनचलनातमकं-अमृतचन्द्राचार्यः	,
 	' II	3
40		ر ع
1.		•
, ,	ि । सन्द्रां सं मातनवान-तिन्नश्रा नार्ने । आसावितावर्गस्	•
	३ ३ <td>पुरुष्युवारावाय पुरुष्य वान्दोहा — ज ज ज तक एक विषद टले-दोहा — ज ज ज तक एक विषय मुल्युवारा में — दोहा — ज ज ज विषय मुल्युवारा में — दोहा — ज ज ज विषय मुल्युवारा ची विषय मुल्युवारा में विषय में विषय</td>	पुरुष्युवारावाय पुरुष्य वान्दोहा — ज ज ज तक एक विषद टले-दोहा — ज ज ज तक एक विषय मुल्युवारा में — दोहा — ज ज ज विषय मुल्युवारा में — दोहा — ज ज ज विषय मुल्युवारा ची विषय मुल्युवारा में विषय

		यस्य पुष्यं च पापं च—गुणमद्राचार्यः आत्मानुशासनम्
पर पर ताते हु:ख हो दोहाँ	۷٥	यत्र रागः पदं धत्ते-। २५ । ग्रुभचन्द्राचार्यः-ज्ञानार्णवे १३
परमात्मानमानस्य-आज्ञाधरः	₹	यत्रात्रिकं फळं किंचित-नागसेनाचार्यः तत्वानुशासनम् २३
परिणममानस्य चित्-अमृतचन्द्राचार्यः		7
पुरुषार्थिसिस्युपायः	३८	
परिषद्दादि अनुभव विना-दोहा	₹ १	रम्यं इम्प्रं चन्दनं चन्द्रपादा— ७
प्रगट अन्य देहादिका-दोहा	३९	रागी बधाति कर्माण-ग्रुभचन्द्राचार्यः ज्ञानार्णवे- ३३
प्राणी जा संयोगते-दोहा	३६	ল ·
प्राच्याच्य विषयेभ्योऽहं-पूच्यपादस्वामि		वज्रे पतत्यपि भयदुत विश्वलोके, पद्मनन्दिः
—समाथिशतकम्—	२७	पद्मनंदिपंचविंशतिकाः ४२
पुद्रलको निज जानकर-दोहा	પે શ	वस्तु विशेष विकल्पको-दोहा ५०
पुण्य हेतु दानादिको-दोहा	१९	विनयेन्दुमुनिर्वानया-आशाघरः ५४
पुत्र मित्र घर तन तिया-दोहा	११	विरमकिमपरेणा-अमृतचन्द्राचार्यः-नाटकसमयसार-
पूच्य सविद्या दूर यह-दोहा	ų ધ્	ক্তয়া: ४५
•	•	विषयी सुख दुःख मामते-दोहा ९
¥		वेद्यस्वं वेद्यक्तस्वं च-नागसेनाचार्यः-तत्त्वानुशासनम् २५
भैया जगवासी त् (टिप्पणी)-वनारसीदास		য
—नाटकसमयसार	४५	राममुखशीलितमनसा— ४४
भोगार्जन दुःखद महा-दोहा	२२	श्रुचि पदार्थ भी संगते-दोहा— २२
म		गुद्धैर्पनीविवर्धन्ते—गुणभद्राचार्थः—आत्मानुग्रासनम्— १९
मत्तः कायादयो भिन्नास् ।१५८ -नागसेनाचार्यः		-
तस्यानुशासनम्	33	- स
मथत दूघ डोरीनितें-दोहा	१५	एव पुद्रलको मोहसे–दोहा— ३८
मनको कर एक।प्र-दोहा	२८	सीठेरिं सक्तो-नेमिचन्द्राचार्यः-गोम्म्टसारः
मरण रोग मोंमें नहीं-दोहा	३७	जीवकाण्डम् २९
मलविद्धमणेर्विकाः—	९	स्वर्ण पाषाण सु हेतुसे-दोहा३
मित्र राह देखत खड़े-दोहा—	8	स्वपरज्ञप्तिरूपत्वात्-नागसेनाचार्यः तत्त्वानुशासनम् - २३
मुञ्जाङ्गं म्टपयस्यलं —	9	स्वबुद्ध्या यतुग्रह्योयात्-पृज्यपादस्यामि
मूर्ख न ज्ञानी हो सके-दोहा—	४३	समाधिशतकम्— ३५ स्वामाविकं हि निष्यत्ती— ४२
में एक निर्भम शुद्ध हूं-दोहा	३९	स्वामालक हि । तन्त्रकाः — १९ स्वयं कर्म सब नाशकारे, दोहा-मा सीतलप्रसाद — २
मोइकर्मके उदयसे–दोहा—	१७	र्वयं क्रम सर्व नाशकार, दाहान्त्रः सातलभवायः
मोही बाँधत कर्मको-दोहा	₹४,	क्ष
य	}	क्षोभ रहित एकान्तमें-दोहा ४४
यदा मोहात्प्रजायेते-पूज्यपादस्वामि-समाधिशतकम्-	-43	स
यद्यानं रीद्रमार्त्ते वान्नागसेनाचार्यः-तत्त्वानुशासनम	દ્ ૨૪ [‡]	जानमेव फलं जाने-गुजभद्राचार्यः आत्मानुशासनम्-२८
		•